संशय के साये

कृष्ण बलदेव वैद संचयन

संशय के साये

(कृष्ण बलदेव वैद संचयन)

संशय के साये

कृष्ण बलदेव वैद संचयन

सम्पादक
अशोक वाजपेयी
उदयन वाजपेयी



भारतीय ज्ञानपीठ

ISBN 978-81-263-1417-1

लोकोदय ग्रन्थमाला : ग्रन्थांक 921

प्रकाशक :
भारतीय ज्ञानपीठ
18, इन्स्टीट्यूशनल एरिया, लोदी रोड
नयी दिल्ली-110 003

मुद्रक : विकास कम्प्यूटर एंड प्रिंटर्स, दिल्ली-110 032

आवरण चित्र : मनीष पुष्कले
आवरण सज्जा : चन्द्रकान्त शर्मा

SANSHAY KE SAAYE
(Selected works of Krishna Baldev Vaid)
Edited by : Ashok Vajpai, Udayan Vajpai

Published by
Bharatiya Jnanpith
18, Institutional Area, Lodi Road
New Delhi-110 003
e-mail : jnanpith@satyam.net.in, sales@jnanpith.net
website : www.jnanpith.net

पूर्वकथन

भले इस संचयन का नाम उसके लेखक की बुनियादी प्रकृति के अनुरूप 'संशय के साये' है, उसके सम्पादक के रूप में हम इस बारे में सर्वथा निस्संशय हैं कि हम अपने समय के बड़े हिन्दी लेखक की रचनाओं का चयन कर रहे हैं। कृष्ण बलदेव वैद का रचना-संसार विपुल और विविध है और उससे कुछ चुनना और बहुत सारे को छोड़ देना एक कठिन काम रहा है। फिर भी, हमारी कोशिश ऐसी सामग्री को संकलित करने की रही है जिससे वैद की दृष्टि, शैलियों और कथ्यों की बहुलता का वितान सामने आ सके।

वैद की प्रश्नवाचकता, आत्मसन्देह और प्रयोगधर्मिता हिन्दी में आधुनिकता की एक अथक गाथा है : उन्होंने चालू यथार्थवादी यथार्थ से अलग दूसरा यथार्थ अपनी रचनाओं में विन्यस्त करने का जो ज़िद-भरा प्रयत्न किया वह हिन्दी आधुनिकता का एक अलग रास्ता रहा है। उसका ऐतिहासिक और कलात्मक महत्त्व, दुर्भाग्य से, हिन्दी में ठीक तरह से आँका नहीं जा सका है : यह संचयन वैद की व्याप्ति, उपलब्धि, रहस्य और प्रासंगिकता पर गम्भीरता से विचार करने का अवसर देगा ऐसी उम्मीद हम करते हैं।

इस संचयन में हमने वैद के उपन्यास, कहानियों, नाटकों और इतर गद्य से चुनकर कुछ सामग्री एकत्र की है। उनका पहला और हिन्दी के छोटे उपन्यासों में क्लैसिक का दर्जा पा चुका उपन्यास 'उसका बचपन' और उनका प्रसिद्ध नाटक 'भूख आग है' इस संचयन में सम्पूर्ण रूप में शामिल हैं। हम उनके सभी प्रकाशकों के बहुत आभारी हैं जिन्होंने उदारतापूर्वक इस चयन में शामिल सामग्री को प्रकाशित करने की सहमति दी।

कृष्ण बलदेव वैद 27 जुलाई 2007 को अपनी आयु के अस्सी वर्ष पूरे कर रहे हैं। यह संचयन उस शुभावसर पर विशेष रूप से प्रकाशित किया जा रहा है। भारतीय ज्ञानपीठ और उसके कार्यकारी निदेशक लेखक-मित्र रवीन्द्र कालिया ने बहुत फुर्ती और उत्साह से यह संचयन, उसके कुछ बड़े आकार के बावजूद, प्रकाशित किया है : हम उनके कृतज्ञ हैं।

अशोक वाजपेयी
उदयन वाजपेयी

अनुक्रम

खुरदरा उजाला (उपन्यास खंड)

बीच का दरवाज़ा (कहानी खंड)

काया की प्रार्थना (नाटक खंड)

शोर और संगीत (इतर गद्य)

खुरदरा उजाला

(उपन्यास खंड)

उसका बचपन

दादी चारपाई में पड़ी हुई है—मैली-कुचैली, सिकुड़ी-सिमटी, ठिठुरी और उलझी हुई-सी, जैसे किसी ग्रामीण की कोई ढीली-ढाली गठरी हो, जो किसी भी समय खुलकर बिखर सकती है।

चारपाई की गहराई में दादी औंधे मुँह पड़ी हुई है, जैसे कोई बच्चा रोते-रोते सो या मर गया हो।

चारपाई ड्योढ़ी के एक कोने में है। बाक़ी कोने खाली पड़े हैं, जिससे चारपाई वाला कोना भी वीरान-सा नज़र आता है।

ड्योढ़ी इस मकान का मुँह है, जो कभी खुलता है तो कभी बन्द हो जाता है। जब खुलता है तो रसोई से फूटता हुआ धुआँ मुक्त हुए बन्दी के समान धीरे-धीरे बाहर गली की ओर चल पड़ता है, लेकिन उसकी मन्द गति से सन्देह पैदा होता है कि वह इस कारागार से मुक्त होने पर क्षुब्ध है, मानो वह बन्दी न हो, इसी घर का वार्सा ही हो। और जब यह मुँह बन्द हो जाता तो धुआँ किसी शैतान बच्चे की भाँति ड्योढ़ी में मचलने लगता है। और दादी खाँस-खाँसकर निढाल हो जाती है।

ड्योढ़ी की दीवारें जगह-जगह से उधड़ी हुई हैं। कच्चे पलस्तर के मोटे-मोटे छिलके ऐसे दिखाई देते हैं जैसे किसी बीमार के होठों पर जमी हुई पपड़ियाँ हों। फ़र्श पर नंगे पाँव चलने से गीली काली मिट्टी की एक तह-सी चिपक जाती है, जिस पर जूतों का गुमान होता है। छत की शहतीरें धुएँ के कारण काली हो गयी हैं और उनसे लटकते हुए काले जाले यों झूलते रहते हैं मानो इस ड्योढ़ी के आभूषण हों।

हर समय इस ड्योढ़ी में एक विचित्र प्रकार की, छुपी-छुपी-सी, गिलगिली-सी हरकत होती रहती है। दादी की खरखराती साँसें इसी हरकत का एक हिस्सा हैं।

ड्योढ़ी का दरवाज़ा गली में खुलता है। दादी आने-जाने वालों की पदचाप

सुनती रहती है और अनुमान लगाती रहती है कि कौन किधर जा रहा है। कभी-कभी वह आवाज़ देकर किसी स्त्री या पुरुष को अपने पास बुला लेती है। दादी के कान बहुत पतले हैं। लेकिन माँ के शायद उससे भी अधिक। वह सब कामकाज छोड़कर धम-धम करती बाहर आ जाती है और दादी को पास बैठी स्त्री या पुरुष की पीठ पर हाथ फेरते और आशीर्वाद देते देखकर दाँत पीसती हुई वापस लौट जाती है। तब दादी की आवाज़ धीमी हो जाती है। माँ का कहना है, दादी हर समय गली के लोगों से उसकी निन्दा करती रहती है, उन्हें उसके खिलाफ़ भड़काती रहती है।

यदि ऐसे किसी अवसर पर बीरू कहीं माँ के हत्थे चढ़ जाए, तो वह पिट जाता है और आँखें मसलता हुआ, ड्योढ़ी में एक क्षण ठिठककर, दादी की पुचकार को भटकता हुआ बाहर गली में चला जाता है।

गली के बीचोंबीच एक नाली बहती है—गाढ़ी, काली स्याही की एक टेढ़ी-मेढ़ी लकीर की तरह—जिसमें कीड़े रेंगते रहते हैं, मक्खियाँ भिनभिनाती रहती हैं, भिड़ें उड़ती रहती हैं। हर वक़्त रौनक़-सी लगी रहती है।

बीरू एक लम्बी छड़ी से उस नाली को जहाँ-तहाँ कोंचना शुरू कर देता है। भिड़ें भिन्नाकर उड़ती हैं। उनकी गुनगुनाहट में मानो खीझ का स्वर पैदा हो गया है। बीरू घबरा उठता है। फिर झुककर सिर के इर्दगिर्द अपनी बाँहों की बाड़ सी लगा देता है। भिड़ें वापस कीचड़ पर लौट जाती हैं, जैसे देखना चाहती हों कि वह अब क्या करेगा!

वह होंठ भींचकर दबे पाँव फिर आगे बढ़ता है और एक बेख़बर भिड़ को छड़ी की नोंक से कीचड़ में घुसेड़कर घर के दरवाज़े की ओर भाग खड़ा होता है। भिड़ें उसका पीछा करती हैं, लेकिन वह ड्योढ़ी का दरवाज़ा बन्द कर लेता है।

यह खेल उसे बहुत प्रिय है।

वह एक निहायत ही छोटा और बेवकूफ़ बच्चा है।

दादी के मटमैले बदबूदार लिहाफ़ का कपड़ा घिस-घिसकर प्याज़ के छिलके के समान पतला हो गया है। कहीं-कहीं से यदि वह छिलका उतर भी गया हो तो कुछ पता नहीं चलता। दादी यह लिहाफ़, सर्दी हो या गर्मी, दिन-रात ओढ़े रहती है। सुबह-शाम सिर-मुँह लपेटकर वह इसमें यों गुम हो जाती है कि बीरू चिन्तित होकर उसे पुकारने लगता है। वह जवाब नहीं देती तो वह लिहाफ़ खींचना शुरू कर देता है। दादी उसे मना करती है। उसकी आवाज़ में खीझ के बजाय प्यार भरी याचना ही होती है, और बीरू की चिन्ता शान्त हो जाती है।

लिहाफ़ में घुसकर दादी की गोद में बैठने में उसे बड़ा मज़ा आता है, मानो उसकी बू में एक नशा हो। वह मदहोश-सा हो जाता है। और दादी के पोपले होंठ हिलने लगते हैं। न जाने वह क्या कहती है कि बीरू को नींद अत्यन्त मीठी,

अत्यन्त गहरी हो जाती है। न जाने दादी के पास कौन-सा मन्त्र है कि वह प्यारे-प्यारे सपने देखने लगता है, उसके होठ फड़कने लगते हैं और दादी की गोद में मानो फूल-से खिल उठते हैं।

लेकिन फिर अचानक कोई उसे झकझोरने लगता है। उसकी बाँहें उखाड़ने लगता है। वह स्वप्नभरी आँखें खोलता है तो देखता है माँ को। और उसके मुख पर सुर्ख मुस्कराहट के बजाय भय की स्याही बिखर जाती है। और वह खट से जाग उठता है। विस्मित-सा माँ की ओर देखने लगता है, मानो पूछ रहा हो, माँ, मेरे सपने कहाँ हैं?

माँ उसे घसीटकर अन्दर ले जाती है।

—वहाँ गन्दगी में पड़ा रहता है! सौ बार मना कर चुकी हूँ! वहाँ क्या मिलता है तुझे?

माँ हर बात सौ बार कहती है।

—उसकी गोद में मिठाई रखी है क्या?

माँ के हर वाक्य में एक न एक नये मुहावरे का प्रयोग होता है।

—मरने के लिए तुझे और कोई जगह नहीं मिलती?

माँ का हर वाक्य जीवन और मृत्यु के मूलभूत प्रश्नों से जूझता रहता है।

—मेरी गोद क्या तुझे काटती है?

माँ की ज़ुबान से जब शहद टपकता है तो उसकी गोद के क्या कहने!

—न जाने क्या जादू कर दिया है उसने इस पर!

वह शायद माँ का प्यार बोल रहा है।

—ख़बरदार, जो फिर कभी उसकी गोद में बैठा!

माँ उसे एक आख़िरी झटका देकर बुड़बुड़ाती हुई रसोई में चली जाती है और बरतन उलटने-पलटने लगती है। वह दियासलाई ढूंढ़ रही है। दिन में न जाने कितनी बार दियासलाई गुम होती है!

—न जाने कहाँ उड़ गयी! यहीं तो रखी थी।

अब भी वहीं रखी है, लेकिन माँ को सामने पड़ी चीज़ तो बिल्कुल दिखाई नहीं देती।

—न जाने कहाँ...!

माँ का पाँव दियासलाई पर पड़ता है, क्रिच की आवाज़ पैदा होती है। लेकिन वह चुप रहता है। शायद माँ से बदला ले रहा हो!

जा, जाके बाज़ार से दियासलाई ले आ!

गली में पहुँचते ही उसके आँसू सूख जाते हैं। जैसे हवा लगने से पसीना। वह पैसे नाली में फेंक देता है। फिर उन्हें ढूँढ़ने के लिए नाली के कीचड़ को कुरेदने

लगता है। फिर शीघ्र ही भूल जाता है कि वह पैसे ढूँढ़ रहा है। नाली में और भी कई रोचक चीज़ें हैं। वह उन्हीं में खो जाता है। अपने आपसे बातें करने लगता है। उसके गालों पर फिर फूल खिल जाते हैं, मानो उसके सपने फिर उसे मिल गये हों।

दो

माँ चूल्हे के पास बैठी, उचक-उचककर, फूँकें मार रही है। धुआँ सारे घर में किसी प्रेतात्मा की भाँति मँडरा रहा है। घर का मुँह बन्द है। माँ एक लम्बी फूँक मारती है। राख उड़ती है और वह आँखें मसलने लगती है।

—यह गीली पानी लकड़ियाँ! माँ बुड़बुड़ाती है।

दादी को विश्वास है कि माँ हर रोज़ प्रातःकाल उठकर लकड़ियों पर पानी उँडेल देती है।

माँ लकड़ियों को उलट-पलटकर फिर फूँक मारने लगती है। धुआँ फिर उठता है। कड़वा, कसैला, ज़हर-सा धुआँ। हर साँस के साथ हलक़ में भर जाता है। फिर छाती से विषैली खाँसी उठती है और आँखों में कड़वा पानी उमड़ आता है। यह धुआँ है या काला साँप! जान के पीछे पड़ा है!

—गीली पानी लकड़ियाँ!

सब खाँस रहे हैं। माँ, दादी, वह ख़ुद। दादी की खाँसी सबसे अधिक सूखी, सबसे अधिक कड़वी, सबसे अधिक भयानक है। वह कभी लेट जाती है, कभी एक झटके से उठ बैठती है, कभी औंधे मुँह गिर जाती है, और कभी एकदम लटक-सी जाती है। उसकी हालत ख़राब है।

—गीली पानी लकड़ियाँ!

माँ की आँखों से पानी बह रहा है। शायद इस पानी में नमक भी हो, लेकिन उसे माँ के साथ सहानुभूति का अनुभव नहीं होता। उसकी इच्छा होती है कि आगे बढ़कर उसकी पीठ पर एक ऐसी लात जमा दे कि उसका सिर चूल्हे में घुस जाए, उसके होश ठिकाने आ जाएँ, आग जल उठे, धुआँ मर जाए और दादी की खाँसी रुक जाए।

धुआँ माँ का साथी है और माँ दादी की दुश्मन।

वह दो क़दम आगे बढ़ता है। लात मारने का अभिनय करता है, कुछ बुड़बुड़ाता है और फिर वापस दादी के पास लौटकर उसकी पीठ सहलाते हुए पूछता है—पानी ले आऊँ, दादी?

दादी की खाँसी एकदम कम हो जाती है। वह खाँसता हुआ माँ के पास जा खड़ा होता है।

—माँ, दादी पानी माँग रही है।

—पानी माँग रही है? हुं:! अन्धे हो, देखते नहीं, लकड़ी को रो रही हूँ? मेरे चार हाथ तो नहीं, जाओ, भागो यहाँ से! पानी माँग रही है!

वह वापस दादी के पास लौट जाता है और उसके साथ मिलकर खाँसने लगता है, मानो उसे सान्त्वना दे रहा हो। खाँसी की हर खों के साथ दादी के मुँह से एक गाली निकलती है—डायन!...चुड़ैल!...जान लेकर छोड़ेगी!...आँखें तो ले ही लीं!...हाय राम!...हाय!...

वह माँ के इन नामों से परिचित है। घर की शब्दावली में ऐसे कितने और शब्दों का प्रयोग प्रतिदिन होता है। उसे ठीक याद नहीं, लेकिन सबसे पहले एक दिन अनायास जो शब्द उसकी तोतली ज़ुबान पर पूरी सफ़ाई के साथ चढ़ आया था, वह था 'डायन'। और घर के लोग इस शब्द को सुनकर ठिठकने के बजाय ज़ोर-ज़ोर से हँस दिये थे, मानो इसका इतना शुद्ध उच्चारण उसकी बुद्धि की तीव्रता का सबूत हो। और वे अपनी सुशिक्षा के प्रभाव की सफलता पर गर्व का अनुभव कर रहे हों।

उन दिनों दादी उनके यहाँ नहीं रहती थी। उसे वे दिन याद नहीं। कभी-कभी उसके माता-पिता ज़रूर थोड़ी देर के लिए उन दिनों को ले बैठते हैं, हालाँकि उन्हें बीती हुई बातों को याद करके उन पर हँसने की या मुस्कराने की फ़ुरसत नहीं। अगर वे कभी पीछे को नज़र डालते हैं, तो सिर्फ़ उन्हीं घटनाओं पर जिनसे उनकी ज़ुबान की धार और चमक उठती है। उनके चेहरों पर साये से लपक जाते हैं, और उनकी आँखें सर्द राख की छोटी-छोटी ढेरियों-सी दिखाई देने लगती हैं।

अब वह इन शब्दों के अर्थ जानता है। उनका उचित और यथास्थान प्रयोग भी कर सकता है। माँ डायन है। दादी को पानी नहीं देती। जान-बूझकर धुआँ मचाती है। गीली लकड़ियों का बहाना करती है। हरएक से लड़ती-झगड़ती रहती है। उसकी रोटियाँ कच्ची होती हैं। बाबा अकसर उसे पीटते हैं। वह बूढ़ों की सेवा नहीं करती। दादी को मार डालना चाहती है।

उसकी इस समझदारी का एक सबूत उसकी बेकली है, उसके मासूम चेहरे पर प्रतिक्षण आने-जाने वाले भाव हैं, उसके हृदय को व्याकुल कर देने वाले विचार

हैं, उसकी नसों की फड़कन है, उसकी हरदम की उदासी है, उसके होठों पर मुस्कराहटों का अभाव है, उसका हर समय घर में पड़े रहना है। ...उसे देखकर सहसा बुढ़ापे का ध्यान आ जाता है। ऐसे बुढ़ापे का, जिसका आरम्भ बचपन से न हुआ हो।

—गीली पानी लकड़ियाँ हैं! आग अपनी लातों से जलाऊँ! सौ बार कहा है, सूखी लकड़ियाँ ला दो, लेकिन मेरी इस घर में सुनता ही कौन है!

वह माँ की बुड़बुड़ाहट को क़रीब आता सुनकर चौंक उठता है।

—तू यहाँ खड़ा क्या कर रहा है? बाहर क्यों नहीं जाता? देखता नहीं, अन्धा है? धुएँ में खड़ा है? बड़ा आया दादी का हमदर्द!

वह सहमा सहमा-सा माँ की ओर देखता है। ...माँ, तू डायन नहीं, देवी है। मैं तुम्हें सूखी लकड़ियाँ ला दूँगा, नयी जूती ला दूँगा, नये कपड़े सिलवा दूँगा! तू अब यहाँ से चली जा!

उसकी भयभीत दृष्टि और होठों के कम्पन की भाषा अगर पढ़ी जा सकती तो माँ की आँखों में प्यार के आँसू आ जाते, और वह चुपचाप वहाँ से चली जाती। आग ख़ुद-ब-ख़ुद जल उठती, धुआँ ग़ायब हो जाता और दादी की खाँसी हँसी में बदल जाती। माँ पानी का एक गिलास लाकर दादी के होठों से लगा देती और दादी पानी पीने से पहले माँ की ओर देखकर उसे आशीर्वाद देती—सदा सुहागिन रहो, दूधों नहाओ, पूतों फलो!

लेकिन माँ की भीगी हुई आँखों में दो चिनगारियाँ सुलग रही हैं।

—न मरेगी, न हमारी जान छूटेगी।

—हाय राम!

—जब से आयी है सुख की एक साँस तक नहीं मिली!

—हे दीनदयाल!

—छल-फ़रेब तो कोई इससे सीखे!

—जो करेगा सो भरेगा!

—जिस पत्तल में खाती है, उसी में छेद करती है!

—हे राम! तू सबकुछ देख रहा है!

—बड़ी आयी धर्मात्मा! हुँः!

वह वहाँ कोने में खड़ा रहता है। कभी माँ की ओर देखता है, कभी दादी की ओर; कभी झल्लाता है, कभी शान्त हो जाता है। जब झल्लाता है तो उसकी नसें तन जाती हैं और सिर सुन्न हो जाता है। जब शान्त हो जाता है तो उसे यूँ महसूस होता है जैसे किसी ने उसका सारा रस चूस लिया हो।

उसका ध्यान अचानक माँ की ओर चला जाता है। ड्योढ़ी के धूमिल प्रकाश

में धधकते हुए माँ के नेत्र! वह विवशतापूर्ण दृष्टि से उन नेत्रों की ओर देखता रहता है। यदि कुछ देर और वहीं खड़ा रहा तो उसके मुँह से चीख़ निकल जाएगी। इच्छा होने पर भी वहाँ से हिल नहीं पाता, मानो किसी ताक़त ने उसकी काँपती हुई टाँगों को शिकंजे में जकड़ रखा हो।

—तू जाएगा कि नहीं यहाँ से? धुएँ से अन्धा हो गया तो मैं क्या करूँगी?

और माँ जाने क्यों अचानक रोने बैठ जाती है। शायद यह पानी भी धुएँ का ही हो। वह दुविधा में पड़ जाता है। और एक नज़र दादी के डोलते हुए शरीर पर डालकर लड़खड़ाता हुआ बाहर चला जाता है।

बाहर बच्चे कूद-फाँद मचा रहे हैं। हाथ ऊपर उठा-उठाकर, उछल-उछलकर नारे लगा रहे हैं—इनक़लाब ज़िन्दाबाद!

—टोडी बच्चा हाय हाय!

—हाय हाय! हाय हाय!

वह कुछ देर तक तरफ खड़ा आँखें मसलता रहता है। फिर कमीज़ के दामन से उनमें से फूट रहे नमकीन पानी को अपने गालों पर पोत लेता है। आँखें सुलगने लगती हैं, लेकिन सिर में आ रहे चक्कर थम जाते हैं और उसके होठों पर एक कमज़ोर सी मुस्कराहट का उदय होता है। बच्चों के नारे उस मुस्कराहट को और उभार देते हैं, और वह दौड़कर उनकी टोली में जा शामिल होता है। आँखें खुश्क हो जाती हैं, लेकिन गालों पर कुछ लकीरें अकड़ने लगती हैं, जैसे किसी काग़ज़ पर बिखरी हुई स्याही सूख रही हो। खेलते चिल्लाते हुए कई बार आँखों की जलन दूर करने के लिए वह अपने ठंडे-ठंडे हाथ उन पर रख देता है। कई बार गालों पर सूखी हुई लकीरों को मिटा डालने की कोशिश करता है। ऐसा करते समय भी उसकी आवाज़ दूसरे बच्चों की आवाज़ से कम ऊँची नहीं होती और उसकी हँसी में कहीं भी धुएँ की स्याही नज़र नहीं आती। वह ऊँचे उत्साह से खेल रहा है, उछल रहा है, खिलखिला रहा है मानो वह भी उन्हीं लड़कों जैसा कोई लड़का हो।

काफ़ी देर खेल चुकने के बाद बच्चे अपने-अपने घरों की ओर रवाना हो जाते हैं।

उसके घर का दरवाज़ा बन्द है। वह नाली के कीचड़ पर जड़ी हुई-सी सुनहरी भिड़ों को देखने लगता है, उन्हें गिनता रहता है, कीचड़ में धकेलने, पकड़ने और डंक निकालकर तागे से बाँधकर हवा में उड़ाने के मनसूबे बाँधता रहता है। खड़ा खड़ा थक जाता है तो वहीं नाली के किनारे बैठ जाता है और एक तिनके से लकीरें खींचने लगता है। एक चींटी नज़र आ जाती है तो उसके साथ खेलने लगता है। कभी उसका रास्ता रोक लेता है, कभी उसे उलट देता है। कभी अपने

तिनके पर चढ़ाकर झटक देता है। फिर चुटकी से पकड़कर हथेली पर रख लेता है। फूँक मारता है, गर्द उड़ जाती है और चींटी सटकर हथेली के साथ चिपट जाती है। हाथ को ज़ोर का झटका देता है। चींटी गुम हो जाती है और उसे अकस्मात् भूख लग आती है।

भूख का ख़्याल आते ही उसका चेहरा धुँधला पड़ जाता है, जैसे यह ख़्याल कोई ऐसा झोंका हो जिसमें भीतर के सब चिराग़ों को बुझा डालने की क्षमता हो। तिनका उसके हाथ से गिर जाता है और वह अनमना-सा दरवाज़े पर जाकर खड़ा हो जाता है। दरवाज़ा थोड़ा खुला है और उसमें से निकलते हुए धुएँ में लिपटी हुई दादी की आवाज़ सुनाई देती है।

—दोपहर होने को आयी है बेटा और हराम है जो एक दाना तक मुँह में गया हो। बुड्ढा शरीर। किसी दिन इसी तरह भूख से बिलख-बिलखकर प्राण निकल जाएँगे। क्या इसीलिए लाये थे मुझे वहाँ से? इसे कुछ समझाओ, बेटा। क्यों मेरी जान लेने पर तुली हुई है?

बीरू दरवाज़ा खोलकर अन्दर दाख़िल हो जाता है।

—सुबह से जान-बूझकर धुआँ कर रही है। आँखें तो बह गयीं इसी धुएँ में, अब किसी दिन दम भी निकल जाएगा। राम जाने, मेरे साथ किस जनम का बैर है इसका!

बाबा दादी की चारपाई के पास खड़े हैं। बग़ल में सरकारी काग़ज़ों का पुलिन्दा है। एक हाथ में दवात, दूसरे में एक थैला, शायद अभी दौरे से लौटे हों। वह आगे बढ़कर थैले को टटोलने लगता है। उसमें तरकारियाँ हैं। वह एक गाजर निकाल लेता है। गाजर बहुत मीठी है। वह दादी की शिकायत नहीं सुन रहा। बाबा अपनी आदत के अनुसार सिर को नीचे डाल बैठ जाते हैं। उनका क़द वैसे ही छोटा है, बैठे हुए हों तो कमर के खम और सिर के झुकाव के कारण और भी छोटे दिखाई देते हैं। दादी उनकी पीठ पर हाथ फेर रही है। वह जाने क्यों हर किसी की पीठ पर हाथ फेरती रहती है। बाबा चुप हैं। उनकी चुप्पी अच्छी नहीं होती! अचानक फट से पड़ते हैं और फिर उनकी दशा...

सामने माँ खड़ी है। उसका मुँह गाजर चबाते-चबाते रुक जाता है।

—दिन भर ऐसी-ऐसी गालियाँ देती है, ऐसे-ऐसे कुवचन बोलती है कि सुनते सुनते मेरा तो कलेजा छलनी हो गया है, बेटा। अड़ोस-पड़ोस वाले सुनते हैं तो तौबा तौबा करने लगते हैं। कहते हैं, धन्य है तू, जो यह सब कुछ सह लेती है। लेकिन, बेटा, आख़िर प्राण तो निकलते-निकलते ही निकलेंगे। इसमें मेरा क्या दोष? मेरा बस चले तो मैं आज मर जाऊँ।

वह खुले मुँह से माँ की ओर टकटकी बाँधे देख रहा है। माँ दाँत पीस रही

है। उसकी आँखों से मानो किसी ने चमकती हुई छुरियाँ-सी बाँध दी हों। उसे लगता है जैसे माँ कोई भूतनी हो। लम्बे-लम्बे दाँतों वाली, घने स्याह बालों वाली, उलटे पाँव वाली, नंगी, डरावनी, भूतनी!

—भर लो कान, कर लो मेरी बुराई! हाय, कोई मेरी सुनने वाला भी होता!

—चुप, कुतिया!

गाजर उसके हाथ से गिर पड़ती है और उसका मुँह थोड़ा और खुल जाता है। उसका सारा भय उसकी आँखों में सिमट आता है, शरीर तन जाता है, गला भर जाता है, आँखें पथरा-सी जाती हैं। वह बारी-बारी उन सबकी ओर देखता है, जैसे रोने की अनुमति माँग रहा हो।

—बस, मुझी पर बरसना आता है! मजाल है कि उसे भी कुछ...

—मैं कहता हूँ, चली जाओ यहाँ से!

—चली कहाँ जाऊँ? जाने की कोई जगह होती तो फिर क्या था? बाबा एक गन्दी गाली देते हैं।

—ताली तो आख़िर दोनों हाथों से बजती है! माँ ताली बजाकर दिखाती हैं।

बाबा काग़ज़ों का पुलिन्दा ज़मीन पर दे मारते हैं।

—आख़िर मैं भी तो इनसान हूँ!

—तू...तू...तू...

बाबा के मुँह से झाग छूटने लगती है।

—बेटा, तुम क्यों परेशान होते हो। सारा दोष मेरा ही है। न मैं होती...क्या करूँ, मुझे मौत भी तो नहीं आती!...जाओ, बेटा, जाओ, सुबह के भूखे-प्यासे बाहर से आये हो। जाओ, अगर कुछ देती है तो खाओ-पीओ। मेरा क्या है। कुछ घड़ियाँ विपदा की और रह गयी हैं, सो भी कट ही जाएँगी। तुम इस भागवान को कुछ न कहो। प्रार्थना करो कि परमात्मा मेरी...

—बड़ी आयी परमात्मा वाली!

—तुम अन्दर जाओगी कि नहीं?

—बात करने का भी हक़ नहीं मुझे! मैं इस घर की नौकरानी तो नहीं!

—मैं कहता हूँ, दूर हो जाओ मेरी आँखों से!

माँ मुँह ही मुँह में बुड़बुड़ा देती है, लेकिन वहाँ से हिलती नहीं। बहुत ढीठ है! जानती है कि बाबा ग़ुस्से में हैं। उठकर ऐसा मारेंगे, ऐसा मारेंगे कि...उसका बस चले तो उठकर माँ को धकेलता हुआ अन्दर ले जाए और रसोई का दरवाज़ा बाहर से बन्द कर दे।

—माँ की बात तो ध्यान से सुन ली, उस पर तो ग़ुस्सा न आया, और जब मैं बोलने लगी...आख़िर मैं भी तो किसी की जायी हूँ! क्या हुआ जो मेरे माँ-बाप

मर गये!

—हरामज़ादी!

—बस! मेरी क़िस्मत में यही...

—सूअर की बच्ची!

—बस मेरे लिए...

—कुतिया!

दादी खाँसने लगती है।

—मैं कहता हूँ, जाकर आग जलाओ!

—आग अपने सिर से जलाऊँ? गीला पानी लकड़ियाँ हैं!

—बाबा, इस थैले में क्या है? बीरू पूछता है।

—ख़ाक!

मानो बाबा ने उसके मुँह पर एक चपत जड़ दी हो। उसके गाल तमतमा उठते हैं। एक क्षण के लिए निस्तब्धता रहती है। यह घर नहीं नरक है। बाबा पागलों की तरह हड़बड़ाकर न जाने क्या-क्या बकते-झकते आगे बढ़ते हैं।

—और मारो!...मार डालो! और मारो!...मार डालो!

माँ को पिटते देख उसका शरीर ढीला पड़ जाता है। वह हिचक हिचककर रोने लगता है। गाजर का टुकड़ा उसके हलक में अटक जाता है। उसका दम घुटने लगता है। लेकिन उसकी निगाह माँ और बाबा पर जमी हुई है। माँ ज़ोर से चिल्ला रही है—और मारो! मार डालो— और बाबा ताबड़तोड़ मारते जा रहे हैं।

—बेटा! क्यों अपने हाथ तोड़ते हो। स्वभाव कभी मारने-पीटने से बदलते हैं!

दादी यह कहकर अपना सिर रजाई में छुपा लेती है। बाबा बिल्कुल जंगली हैं। वह रोते-रोते चिल्ला उठता है—बाबा! माँ मर जाएगी!

लेकिन माँ बिल्कुल मूर्ख है। पिटती हुई भी बोलती चली जा रही है। वह माँ को पुकारता है—चुप हो जाओ माँ!

लेकिन माँ की ज़बान रोके से नहीं रुकती। वह उठकर बाबा के हाथ पकड़ने की कोशिश करता है, लेकिन उसके हाथ मुश्किल से बाबा के घुटनों से कुछ ऊपर तक ही पहुँच पाते हैं! बाबा उसे अटक माँ को बालों से पकड़कर घसीटते हुए रसोई की ओर ले जाते हैं।

और वह निढाल होकर फ़र्श पर गिर पड़ता है। न जाने कब और कितनी देर बाद उसकी सुध-बुध ठिकाने आती है तो वह अपने को माँ की गोद में पड़ा हुआ पाता है। माँ रो रही है और बाबा एक कोने में खड़े सिगरेट पी रहे हैं। उसकी आँखें फ़र्श पर जमी हुई हैं। कभी-कभी वह अपने हाथों को खोलकर उनकी ओर यूँ देखते

21452

हैं मानो कुछ पढ़ रहे हों।

वह आँखें मूँद लेता है। दादी की रज़ाई में से राम-राम की आवाज़ लगातार फूट रही है। परन्तु उसके या माँ के रोने से घर के उदास वातावरण में कोई अन्तर नहीं पड़ता। घर मानो किसी जंगल के अँधेरे में बना कोई एक मन्दिर है, जिसका एक पुजारी रो रहा हो और दूसरा उसे चुप करा रहा हो। बाबा शायद उस मन्दिर की मूर्ति मात्र हैं।

तीन

दादी दरवाज़े की दहलीज़ पर बैठी सिर खुजला रही है। उसके उलझे हुए बाल, मानो सूखे पीले घास का बना हुआ एक छोटा-सा घोंसला हो, जिसे किसी बच्चे ने अस्त-व्यस्त कर दिया हो।

—बेटा, जा, ज़रा जलालपुरनी को तो बुला ला। सवेरे से सिर में कुर्बल कुर्बल हो रही है।

जलालपुरनी को देखते ही बीरू को हँसी आ जाती है। जलालपुरनी हर समय हँसती रहती है, जिससे उसक लम्बे-लम्बे गिने-चुने दाँत यूँ हिलते रहते हैं कि लगता है अब गिरे, अब गिरे। माँ कहती है कि जलालपुरनी पिछले जन्म में कुनिया हुआ करती थी।

—जा न, उसे कह, दो-तीन टटोले दे जाए। मेरे सिर में तो मोरियाँ हो गयी हैं जूँओं से।

जब वह जलालपुरनी को साथ ले वापस लौटता है तो माँ ड्योढ़ी में खड़ी दादी पर दनदना रही होती है। जलालपुरनी को अपने घर की ओर आते देख माँ को आग-सी लग जाती है। जलालपुरनी के साथ आजकल माँ की बोलचाल बन्द है।

—कहाँ गया था तू?

वह चुप रहता है।

—मैं पूछती हूँ, कहाँ गया था तू?

—उसे क्यों डाँटती हो? मुझसे पूछो, मैंने भेजा था।

—तुमसे पूछती है मेरी जूती!

—राम राम!

जलालपुरनी माँ के तेवर पहचानकर दादी के पास रुकने के बजाय दूसरी ओर बढ़ जाती है। लेकिन माँ को धोखा देना इतना आसान नहीं। वह बीरू को खींचकर अन्दर रसोई में ले जाती है और उसके कानों को मसलते हुए कहती है—बोल, फिर जाएगा उस चुड़ैल के घर?

—दादी ने भेजा था। उसके सिर में कुर्बल-कुर्बल हो रही थी।

—मैं कहती हूँ, उसके सिर में कीड़े पड़ें, तुझे क्या? बोल, फिर जाएगा उसके घर?

'नहीं' कहकर वह छुटकारा पा सकता है, लेकिन खिंचते हुए कानों की जलन उसे कुछ भी नहीं कहने देती। ज्योंही माँ उसके कान छोड़ती है, वह दौड़कर बाहर ड्योढ़ी में आ जाता है और दादी से पूछता है कि जलालपुरनी कहाँ गयी?

—पता नहीं, कहाँ चली गयी बेचारी। दादी यूँ कहती है जैसे जलालपुरनी कोई बच्ची हो जो किसी भीड़ में खो गयी हो। उसी समय सामने से जलालपुरनी दाँत झलकाती, पल्लू सँभालती, मटकती हुई आती नज़र पड़ती है। दादी ने उसकी आहट को पहचान लिया है।

—तुम्हारे बच्चे जीते रहें! सवेरे से सिर में कुर्बल-कुर्बल हो रही है। ज़रा देख...

—मैं तो एक बार छोड़ सौ बार देखूँ, लेकिन तुम्हारी बहू रानी...

—तो वह क्या हमें खा जाएगी? बैठ तो!

जूँएँ निकलवाना तो बहाना है, असली मतलब तो शायद माँ की निन्दा ही है। जलालपुरनी दादी के पीछे बैठकर उसके सिर के पीले घोंसले को उधेड़ना शुरू कर देती है। बीरू दादी के आगे बैठ जाता है। और दादी एक अँगुली से उसका सिर टटोलती रहती है। वह सिर झुकाये, हाथ फैलाये उन जूँओं की प्रतीक्षा कर रहा है जो दादी के सिर से निकलेंगी। जलालपुरनी कहेगी, 'यह देख, मासी? यह जूँएँ सारा ख़ून पी जाती हैं।' और दादी एक लम्बी साँस लेकर कहेगी, 'ख़ून है ही कहाँ, बेटी! ख़ून तो सारा उसने पी लिया।' और बीरू मन-ही-मन में कह रहा है, कुर्बल, कुर्बल, कुर्बल! जैसे कोई ऐसा मन्त्र पढ़ रहा हो जिससे जूँएँ पकड़ी जा सकती हों।

—तेरा भला हो! क्या बात कही है तूने!

—दादी, मुझे जूँओं की कहानी सुनाओ।

लेकिन दादी अपनी ही बातों में मस्त है, वह माँ की शिकायतें कर रही है। और जलालपुरनी उन शिकायतों में नमक-मिर्च मिलाती जा रही है। कहीं माँ ने

इस खुसर-फुसर को सुन लिया तो मुसीबत आ जाएगी। यह विचार आते ही वह उठ खड़ा होता है और अन्दर चला जाता है।

माँ बरतन माँज रही है।

—उसके पास कौन बैठा है?

—कोई नहीं।

झूठ बोलता है?

—परमात्मा की क़सम।

—तो बातें किससे कर रही है?

—अपने आप से।

माँ को तसल्ली हो जाती है और वह पानी पीये बग़ैर फिर बाहर लौट आता है। यदि घर की सभी उलझनें उसकी ऐसी ही छोटी-छोटी चालाकियों से सुलझ सकतीं तो...

दादी और जलालपुरनी की खुसर-फुसर ज़ोरों पर है। वह कुछ देर यूँ उनके पास खड़ा रहता है जैसे किसी बड़ी गम्भीर समस्या पर विचार कर रहा हो। माँ थोड़ी ही देर में बरतनों से निपटकर बाहर आएगी और जलालपुरनी को देखते ही आगबगूला हो जाएगी। उसके झूठ की सारी पोल खुल जाएगी। माँ और जलालपुरनी में लड़ाई होगी। गली में सब औरतें तमाशा देखने के लिए आ जमा होंगी। जलालपुरनी हाथ लहरा-लहराकर कहेगी, 'तू अच्छी होती तो दिन रात अपने खसम से क्यों पिटती? सास को तूने सूली पर चढ़ा रखा है! लड़की को तू अपने घर ठहरने नहीं देती! गली में तुझे कोई मुँह तक नहीं लगाता! तुझे शरम हो तो अभी चुल्लू भर पानी में डूब मरे!' ...माँ कुछ देर तक तो इन जले-भुने तानों का जवाब देती रहेगी, फिर बच्चों की तरह रोने लगेगी, और उसके बाद कई दिनों तक गली के बच्चे उसे यह कहकर चिढ़ाते रहेंगे, 'तेरी माँ रोती है, तेरी माँ रोती है!'

सम्भवतः उसका शिशुमस्तिष्क इन सब बातों को इस प्रकट रूप में नहीं समझ पाता। लेकिन उसका शिशुहृदय मानो ऐसी परिस्थितियों की सारी गिरहें टटोल सकने की क्षमता रखता हो। नहीं तो वह आगे बढ़कर यूँ ही झूठमूठ दादी और जलालपुरनी से यह न कहता कि माँ आ रही है।

जलालपुरनी उठ खड़ी होती है। दादी उसकी सलवार का पाँयचा खींचकर उसे बिठाने की चेष्टा करती है। लेकिन जलालपुरनी 'न न' करती हुई बाहर चली जाती है।

वह अपनी इस दूसरी चालाकी की सफलता पर बहुत खुश हो जाता है और ताली पीटता हुआ उछलता-कूदता बाहर गली में चला जाता है, जैसे उसने कोई

बहुत बड़ा मैदान मार लिया हो।

गली में बच्चों का शोर है। सभी एक साथ बोल रहे हैं। सभी एक-दूसरे से झगड़ रहे हैं। कुछ फ़ैसला करना चाहते हैं। उनके सामने भी कोई समस्या है, उनके अपने सीमित क्षेत्र की ही कोई समस्या। उनमें अधिकतर संख्या जलालपुरनी के बच्चों की है। माँ ने उसे उनके साथ खेलने से मना कर रखा है।

वह एक ओर खड़ा होकर बच्चों की ओर यूँ देखने लगता है जैसे वह उनसे बहुत बड़ा हो; जैसे कोई प्रौढ़ चलते-चलते कुछ देर के लिए रुक गया हो. यह देखने के लिए कि बच्चे कैसे खेलते हैं; जैसे वह उनका मुक़ाबला अपने आप से कर रहा हो; जैसे वह उनसे पूछ रहा हो, 'तुम खेलते कैसे हो?'

क्या वह वाक़ई एक छोटा-सा बच्चा है?

चार

—आज रात की गाड़ी से देवी और रघुपत आ रहे हैं। देवी उसकी बड़ी बहन है, लेकिन यह रघुपत न जाने कौन है!

—आ रहे हैं तो मैं क्या करूँ? नाचूँ उठकर? मैंने तो कह दिया कि रात के लिए घर में एक चुटकी आटा नहीं है, फिर उस वक़्त मेरी जान न खाना।

यह रघुपत कौन है?

—इतनी जल्दी कैसे ख़त्म हो गया आटा?

—ख़त्म नहीं हुआ तो क्या मैं खा गयी?

बाबा के माथे पर मोटी-मोटी त्योरियों का एक जाल सा बुन जाता है।

—घी भी नहीं है।

उसकी दृष्टि का प्रश्नचिह्न धुँधला पड़ जाता है, मानो उसने फ़ैसला कर लिया हो कि रघुपत कोई भी हो, उसे क्या?

—दाल भी नहीं है।

वह माँ की ओर देखने लगता है। माँ बाबा से कुछ दूर खड़ी रुक रुककर उन सब चीज़ों की सूची सुनाती चली जा रही है जो घर में नहीं हैं। बाबा सुन सुनकर तिलमिला रहे हैं।

—मिट्टी का तेल भी नहीं है।

—कुछ है भी?

—कितने दिनों से कह तो रही हूँ, मैं क्या करूँ, अपने पेट से निकालूँ?

—नहीं, मेरे सिर से निकालो!

इस भाषा को समझने की कोशिश में वह अपना प्रश्न भूल जाता है।

—कड़कने से मैं ख़ुद तो आटा बन नहीं जाऊँगी? लकड़ियाँ भी गीली हैं, दियासलाई भी नहीं है। कितने दिनों से आग माँग-माँगकर गुज़ारा कर रही हूँ। जो करना हो अभी कर लो, फिर उस वक़्त मेरी जान न खाना। मैंने कह दिया।

बाबा मुँह ही मुँह में कुछ बुड़बुड़ाते हैं। कितना अच्छा हो, अगर वह इसी तरह बुड़बुड़ाते हुए बाहर चले जाएँ।

—कानों में रूई ठूँसने से तो कुछ नहीं होगा। मैं कह रही हूँ...

—बोल, बक, क्या कह रही है तू?

—मुझे न बोलने की ज़रूरत है, न बकने की। जो जी में आए, करो। बस मैंने कह दिया।

—परमात्मा के लिए मुझे तंग न कर! कहीं से उधार ले ले, कल कहीं से पैसे मिल जाएँगे तो...

बाबा हाथ जोड़कर खड़े हो जाते हैं।

—वह कल न जाने कब आएगा! मैं कहाँ से उधार ले लूँ, मुझे कोई नहीं देता। उधार ले लो! ऊँह!

—किसी से बनाकर नहीं रखा है इसने गली मुहल्ले में, बेटा! दादी शायद इसी अवसर की ताक में थी।

—तुम्हारे तो सभी सगे हैं न, तुम्हीं क्यों नहीं माँग लातीं सबकुछ?

—ख़बरदार, जो मेरे सगों का नाम लिया तो! ज़ुबान खींच लूँगी!

—बस, दोनों माँ-बेटा एक तरफ़ हो जाओ!

—तू गधी है, एकदम गधी!

बाबा ड्योढ़ी के दरवाज़े की ओर बढ़ते हैं। बाबू पीछे से उन्हें अपनी आँखों के ज़ोर से धकेल रहा है।

—बस, शाम तक उस जूड़ी वाले के साथ लूर-लूर फिरते रहना और रात को आटा आसमान से बरस पड़ेगा!

जूड़ी वाला बाबा का एक सिक्ख दोस्त है। माँ उससे सख़्त नफ़रत करती है। उसे बाबा की हर बुरी आदत का ज़िम्मेदार ठहराती है। उसकी बीवी को अपना जानी दुश्मन समझती है।

—आटे का स्यापा करने ही जा रहा हूँ!

—नमक-मिर्च के लिए भी कुछ पैसे चाहिए, सुन लिया?

—सुन लिया, सुन लिया, सुन लिया!

—हाय, बात करने का भी कोई हाल नहीं!

बाबा के हाथ माथे की तरफ़ उठते हैं, फिर एक क्षण के लिए रुक जाते हैं। यदि माँ इस क्षण के लिए चुप रह सके...

—मैं इन बातों से डरने वाली नहीं हूँ। मैंने कहा क्या है?

बाबा तड़तड़ माथा पीटने लगते हैं।

बाबा और माँ की अधिकतर बहसों का अन्त यूँ ही होता है।

—मैंने कुछ कहा भी हो, बात भी न करूँ? किससे माँगूँ, किससे कहूँ? आख़िर मैं करूँ क्या? ज़रूरत पड़ने पर ज़बान न खोलूँ...

—बस करो बेटा, क्या टुकड़े-टुकड़े कर डालोगे अपने? बस करो, तुम जाओ। मैं कर लूँगी आटे का इन्तज़ाम। यह तो हम दोनों की जान लेने पर तुली हुई है! बस भी करो, बेटा!

बाबा का माथा लाल सुर्ख हो गया है। अब वह अपने हाथों की ओर यूँ देख रहे हैं मानो कोई पत्र पढ़ रहे हों। बीरू के हाथ, पाँव, कान, टाँगें, दिल, दिमाग़, सब थरथर काँप रहे हैं। बाबा की पगड़ी समेटते हुए वह यूँ महसूस करता है जैसे किसी ने उसकी पुतलियों को पकड़कर आँखों को चर्र से फाड़ दिया हो और उसमें दो धधकते हुए कोयले रख दिये हों। बाबा उसके हाथ से पगड़ी छीन लेते हैं। उनके माथे की दमकती हुई ख़ूनी सुर्खी में कुछ मोटी-मोटी नसें छोटी-छोटी मछलियों की तरह तड़प रही हैं और उनके चेहरे पर मानो हल्दी का छिड़काव कर दिया गया हो और अब यह हल्दी पसीने में घुलती हुई गर्दन तक फैल गयी हो। काँपते हुए हाथों से वह पगड़ी को एक सिरे से दूसरे सिरे तक नाप जाते हैं। फिर उसे उलटा-सीधा अपने सिर पर लपेटना शुरू कर देते हैं। पगड़ी खुल-खुल जाती है और वह न जाने कितनी देर तक इसी तरह सिर लटकाये पगड़ी बाँधते रहते हैं। फिर बाहर से कोई उनका नाम लेकर आवाज़ लगाता है। वह पगड़ी लपेटते हुए बाहर चले जाते हैं।

ज्योंही उनका क़दम दहलीज़ के बाहर पड़ता है, माँ बोल उठती है—भैड़े भैड़े यार भैड़ी फत्तो के!

—यह डायन किसी के पीछे न पड़ जाए! दादी घुटनों में मुँह डालकर कहती है, जैसे उन्हें ही सुनाना चाहती हो।

—ख़बरदार, जो मुझे गाली दी तो!

—एक को तो कलपाकर निकाल दिया घर से! अब मेरी बारी आयी है?

—सब तेरी ही मेहरबानी है—

—क्यों मुझे दोष देती है ? भगवान के आगे कभी न कभी तो जाना है, पापिन, कुछ तो ख़्याल कर!

—जब से आयी है घर में, एक दाना नहीं टिकता!

—टिके कैसे! जहाँ तेरी जैसी कुलच्छमी का वासा हो वहाँ से हर चीज़ भागती है। और तो और, घड़े में पानी तक नहीं रहता! हाय, मेरा बेटा! सुबह का भूखा...

—तुम्हारा बेटा!...जैसे मेरा तो कुछ लगता ही नहीं!

अब जंग का दूसरा दौर शुरू होता है, जिसमें भीतर का विष जले-कटे शब्दों का रूप धारण करके फूटता है, गालियाँ बनकर काटता है, ताने बनकर बींधता है। कुछ देर वहीं खड़ा-खड़ा इस विष को अपने अन्दर समोता रहता है। फिर कसमसाता हुआ बाहर चला जाता है और नाली के किनारे बैठकर जाने कितनी देर तक धीरे-धीरे रोता रहता है। जब उसका सारा भय, सारी घुटन आँसुओं में बह जाती है और वह खाली हो जाता है तो वहीं बैठे-बैठे ऊँघने लगता है। ऊँघते-ऊँघते लुढ़क जाता है तो अचानक उसके मुँह से एक गाली निकल जाती है। वही गाली जो बाबा ने माँ को दी थी, या माँ ने दादी को, या दादी ने माँ को, या माँ ने अपने आपको।

चाचा रघुपत सिर झुकाये दादी की चारपाई पर बैठे हैं। वह आहिस्ता-आहिस्ता उनकी पीठ पर हाथ फेर रही है। कभी उनके सिर को चूम लेती है और कभी अपनी आँखों को पोंछने लगती है। अँधेरे में चाचा रघुपत बाबा का ही एक दूसरा रूप नज़र आते हैं।

—बेटा, मैं यहाँ बहुत दुखी हूँ, बहुत दुखी हूँ! मेरी जो दुर्गति होती है, भगवान दुश्मन की भी न करे! मैं तो यहाँ आकर गली के तिनके से भी गयी-बीती हो गयी हूँ। मुझे इस नरक से निकालकर ले चल, बेटा!

चाचा रघुपत का सिर कुछ और नीचे झुक जाता है और वह अँगुली से फ़र्श पर लकीरें खींचने लगते हैं।

—एक एक चीज़ के लिए तरसती रहती हूँ। वक़्त पर दो रोटियाँ तक नहीं मिलतीं। और जब मिलती हैं तो ऐसी कि परमात्मा भिखमंगों को भी न दिलाए। भगवान यह दुर्दशा दुश्मन की भी न करे। सूखे मंडे खा-खाकर मेरे अन्दर छाले पड़ गये हैं, बेटा!...दिन भर धुआँ मचा रहता है। आँखें चली गयीं। अब मैं यहाँ नहीं रहूँगी, बेटा!

बीरू दादी के पहलू से उठ खड़ा होता है।

—भगवान लम्बी उमर दे इस बच्चे को! अगर यह न होता तो मैं इस घर में प्यासी मर जाती।

वह अन्दर चला जाता है। रसोई में माँ और बाबा आपस में गुर्रा रहे हैं। माँ कुछ कहती है और बाबा झपटकर उसे चोटी से पकड़ लेते हैं और दाँत दबाकर फुसफुसाहट की आवाज़ में कहते हैं—अगर तूने ज़रा भी आवाज़ निकाली तो यहीं, इसी वक़्त, गला घोंटकर रख दूँगा, जान से मार डालूँगा!

वह उलटे पाँव वापस ड्योढ़ी में लौट जाता है।

—अपनी आँखों से देख, बेटा, चुड़ैल ने घर को पागलखाना बना दिया है!

वह फिर अन्दर चला जाता है।

—मैं कह रहा हूँ, चुपचाप खड़ी रह, नहीं तो..., बाबा माँ का बाजू इस ज़ोर से मरोड़ देते हैं कि उसके मुँह से चीख़ छूट निकलती है।

वह फिर ड्योढ़ी में चला जाता है।

—मेरी आख़िरी घड़ियाँ हैं, बेटा। अगर मुझे बचाना है...

देवी कहाँ है?

अन्दर से एक दबी हुई चीख़ भागती हुई आती है और ड्योढ़ी तक पहुँचकर दम तोड़ देती है।

देवी कहाँ चली गयी है?

बीरू के मन में उठता हुआ यह सवाल मानो स्थिति से पलायन का एक मात्र माध्यम हो। वह इसी प्रश्न का सहारा लेकर बाहर की ओर चल देता है।

—बीरू!

वह मुड़कर देखता है। बाबा उसे इशारे से अन्दर बुला रहे हैं। रसोई के एक कोने में माँ औंधे मुँह पड़ी है।

—माँ को क्या हुआ है?

—जाकर नत्थू की दुकान से दो सेर आटा ले आ।

—माँ को क्या हुआ है?

—कुछ नहीं। तुझे जो कहा है, कर।

—पैसे? वह हाथ फैलाकर कहता है, जैसे माँ की ओर से बोल रहा हो।

—पैसे नहीं हैं। उधार।

उस पर बर्फ़ सी पड़ जाती है।

—यह ले कपड़ा, इसमें बँधवा लाना।

वह कपड़ा ले लेता है, लेकिन कुछ क्षण वहीं खड़ा रहता है।

—अब जाएगा भी?

दादी की चारपाई के पास से गुज़रते हुए उसे सुनाई देता है—बेटा, मेरा भगवान ही जानता है कि मैं कैसे जी रही हूँ यहाँ!

गली में पहुँचते ही वह भगवान को एक काफ़ी गन्दी गाली देकर कुछ

सहम-सा जाता है। घर में जब कोई चीज़ ख़त्म होती है तो इधर-उधर से माँग लाने के लिए ये लोग उसे क्यों भेजते हैं, ख़ुद क्यों नहीं जाते? उन्हें शरम आती है तो क्या उसे नहीं आती? माँ अकसर कहा करती है, 'माँगन गये सो मर गये...'

उसका जी चाहता है कि हाथ वाले कपड़े को तार-तार कर डाले। मुड़कर घर की ओर देखता है। बाबा दरवाज़े पर खड़े हैं! उसके क़दम ख़ुद-ब-ख़ुद तेज़ी से उठने लगते हैं।

नत्थू दूकान की दहलीज़ पर बैठा हुक्का गुड़गुड़ा रहा है। उसकी पीली-पीली मूँछें हर कश के साथ सिकुड़ती-फैलती हैं। दूर से यूँ दिखाई देता है कि यह मूँछ उसकी नहीं, बल्कि हुक्के की हैं। उसकी चोटी हमेशा 'अलिफ़' की तरह ऊपर उठी रहती है और उसका एक हाथ हमेशा धोती के अन्दर छुपा कुछ-न कुछ टटोलता रहता है। लोग उसे नत्थू शेर कहते हैं। उसका गला हर वक़्त बैठा रहता है। इसलिए गरजते समय—वह बोलता बहुत कम है—उसकी गरदन फूलकर दुगनी हो जाती है; उसकी मूँछें और चोटी नाच उठती हैं और उसका हाथ कभी धोती से बाहर और कभी अन्दर। वह अपने हर ग्राहक से लड़ता है। बच्चे उसे देखते ही दाँत दिखा देते हैं। जवान उसे तैश दिलाकर तमाशा देखते हैं और बूढ़े समझते हैं कि उसका दिमाग़ चला गया है। उसकी ज़्यादा ग्राहकी स्त्रियों की है, जो उसकी किसी बात की परवाह नहीं करतीं; एक के जवाब में दो सुनाती हैं; डंके की चोट कहती हैं कि नत्थू बेईमान है, कम तौलता है, हिसाब में गड़बड़ करता है। लेकिन आती सभी उसी के पास हैं। और थोड़ा 'तू-तू', 'मैं-मैं' के बाद उससे उधार लेने में भी सफल हो जाती हैं।

बीरू को देखते ही नत्थू गरजने लगता है—आ, आ, आ गया। बोल, क्या चाहिए?...आटा?... मैं पूछता हूँ, तेरे बाप ने मशीन लगा रखी है यहाँ? चले आते हैं मुँह उठाकर! जैसे मैंने सदावर्त खोल रखा हो! भाग यहाँ से!...नहीं है आटा-वाटा। ...शर्म भी नहीं आती कुछ लोगों को!...जा-जा, उधार हुआ पाँच दिन का, दस दिन का, हद एक महीने का, लेकिन यहाँ तो लेकर साल-साल भर तक मुँह भी नहीं दिखाते। ...कमीने जहान के! जा कह दे नहीं देता! जा, जा, जा!

नत्थू को इस तरह उबलते देख बीरू भूल जाता है कि वह आटा लेने आया है और वह हँसते हुए चिल्लाने लगता है--ऐरा ग़ैरा नत्थू खैरा!

नत्थू हुक्का छोड़कर बुड़बुड़ाता हुआ उसकी ओर बढ़ता है और वह चीख़ता हुआ घर की ओर भाग खड़ा होता है। गली के नुक्कड़ पर पहुँचकर रुक जाता है। ...आटा लेकर वापस नहीं लौटेगा, तो...आटेवाले कपड़े को मरोड़-मरोड़कर उसने एक छोटा-सा रस्सा बना लिया है। नत्थू की दूकान बहुत पीछे रह गयी है। लेकिन उसके क़दम घर की ओर नहीं उठते। वह दीवार का सहारा लेकर खड़ा हो जाता

है जैसे उसने फ़ैसला कर लिया हो कि आटा नहीं मिलेगा तो वह घर नहीं जाएगा।

—यहाँ क्यों खड़ा है, बीरू? एक लड़का उसके पास आ खड़ा होता है।

—वैसे ही।

—आ, खेलें।

—हमारे घर आटा नहीं है।

—वह तो हमारे घर भी नहीं है।

—सच?

—सच।

—तू भी आटा लेने जा रहा है?

—कहाँ? उस लड़के की आँखें चमक उठती हैं।

—नत्थू की दूकान से! बीरू को मज़ाक सूझता है।

—हमारी उससे लड़ाई हो गयी है।

—क्यों?

—मुझे क्या पता? आ, खेलें।

—नहीं, मैं घर जा रहा हूँ।

—घर जाकर क्या करेगा? आ, खेलें।

—नहीं।

—आ भी।

वह लड़का बीरू के हाथ के कपड़े को एक सिरे से खींचने लगता है।

—फट जाएगा, हरामी, क्या कर रहा है?

—तो फिर आ, खेलें।

—पहले इसे छोड़।

—ले, अब तो आ।

—मैं आटा लेने आया था।

—कहाँ से?

—नत्थू की दूकान से।

—फिर?

—उसने नहीं दिया।

—क्यों नहीं दिया?

—पैसे नहीं थे।

—ठीक है, आ, खेलें।

—नहीं।

—तो फिर यहाँ क्यों खड़ा है, घर जा।

—घर जाकर क्या करूँगा?

—तो फिर आ, खेलें।

—नहीं।

इतने में एक और लड़का उनके पास आ खड़ा होता है।

—यहाँ खड़े क्या कर रहे हो, सालो?

—मैं कहता हूँ, आओ खेलें; यह कहता है, नहीं।

—हमारे घर आटा नहीं है।

दूसरा लड़का हँसने लगता है।

—इसमें हँसने की क्या बात है, हरामी?

—गाली देता है?

—तो तू मेरी बात पर हँसता क्यों है?

—अरे यारो, लड़ते क्यों हो? आओ, खेलें। —पहला लड़का शायद घर से खेलने की क़सम खाकर निकला है।

—अरे क्या खेलें, तुम्हारी माँ का...

इस पर बीरू और दूसरा लड़का एक साथ हँसते हैं। पहला लड़का कच्चा पड़ जाता है।

—बीरू, मेरे साथ चल। मैं तुझे अपने घर से आटा दूँगा।

—मुझे भी देगा? पहला लड़का पूछता है।

—अरे जा, साले, तेरे पास तो कपड़ा भी नहीं है!

पहला लड़का चुप हो जाता है, जैसे उसने वह दलील मान ली हो।

दोनों दूसरे लड़के के घर की ओर चल पड़ते हैं। वहाँ पहुँचकर वह इन दोनों को बाहर खड़ा करके ख़ुद दबे पाँव अन्दर चला जाता है। बीरू और पहला लड़का एक-दूसरे की ओर देखकर मुस्करा देते हैं। कुछ देर बाद वह लड़का दौड़ता हुआ बाहर आता है। उसके हाथ में एक छोटी-सी पोटली है। पोटली बीरू के हाथों में थमाकर घबरायी हुई आवाज़ में कहता है—ले, साले बीरू के बच्चे, बस, अब भाग जा, नहीं तो...

बीरू पोटली को ठीक तरह से पकड़ ही रहा होता है कि एक कर्कश आवाज़ आती है—ठहर, मैं तेरी ख़बर लेती हूँ! क्या है इसमें?

बीरू भागता है, लेकिन उस लड़के की माँ लपककर उसकी गर्दन दबोच लेती है। पोटली उसके हाथ से छूट जाती है और वह एक थप्पड़ उसकी पीठ पर जमाकर वहीं बैठकर आटा समेटती हुई चिल्लाने लगती है—चोर! कमीने! घर-लुटाऊ!

बीरू और पहला लड़का अन्धाधुन्ध भागते हुए अपने घर के दरवाज़े पर रुक

जाते हैं। दम में दम आते ही बीरू की पीठ से दर्द फूट निकलता है और उसकी आँखों से आँसू—शायद दर्द के कारण, या शर्म के कारण, या दौड़ने के कारण।

—अब तो खेलेगा? पहला लड़का पूछता है।

बीरू उसकी ओर यूँ देखता है जैसे उसे गाली दे रहा हो।

पाँच

धुएँ से अटा हुआ चुप अँधेरा और अँधेरे में लिपटी हुई गहरी उदास ख़ामोशी। दादी की खरखराती साँसें इस ख़ामोशी को तोड़ती भी हैं और भयानक भी बनाती हैं। चूल्हे में कुछ लकड़ियाँ सुलग रही हैं। वहाँ से उठती हुई धुएँ की लहरें अँधेरे में एक जाल-सा बुन रही हैं, जिसमें सबके दम घुट रहे हैं और आँखें जल रही हैं।

धुआँ चारों ओर भटक रहा है। बाहर निकलने का रास्ता न पाकर वह हलक में उतर जाता है, आँखों में मिर्च-सी झोंक देता है और फिर जैसे झुँझलाकर अँधेरे में ख़ल्त-मल्त हो जाता है।

दादी रुक रुककर खाँसती है और अँधेरे के सीने में जैसे कई अदृश्य कीलें ठुक जाती हैं।

अँधेरे के किसी नुक्ते पर जड़े हुए लाल नगीने की तरह चाचा रघुपत के सिगरेट का जलता हुआ सिरा। जब वह कश लगाते हैं, तो सौं-सौं से मुस्कराने की-सी आवाज़ पैदा होती है और वह लाल नगीना दमक उठता है। उसके प्रकाश में चाचा के रूखे और तमतमाये हुए चेहरे पर जड़े हुए पसीने के क़तरे अजीब लगते हैं। उनकी छोटी छोटी चमकदार आँखें एक ही दिशा में देख रही हैं, मानो उन्हें अँधेरे में भी कोई ख़ास चीज़ साफ़ नज़र आ रही हो।

बीरू ड्योढ़ी के एक कोने में दुबका बैठा है। उसकी आँखें उस लाल नगीने पर जड़ी हुई हैं जो अँधेरे में जुगनू-सा चमक रहा है। कभी कभी चाचा रघुपत राख झाड़ने के लिए चुटकी बजाते हैं और मानो उस चुटकी के जवाब में ही चूल्हे में पड़ी लकड़ियाँ चटख उठती हैं। वह मुस्करा देता है।

अचानक कोई कहीं से उठता है, इधर आता है, उधर जाता है, ड्योढ़ी में आता है, रसोई में जाता है। माँ अँधेरे में भी चैन से नहीं बैठ सकतीं। न जाने क्या ढूँढ़ रही हैं। शायद चैन!

वह कुछ और सिकुड़-सिमटकर बैठ जाता है। आँखें बन्द कर लेता है। लेकिन आँखें बन्द होते ही मानो उसका सारा शरीर जाग उठता है। माँ चारों ओर घूर रही है और उसके साथ-साथ कई अजीब-अजीब शक्लें भी। वह दाँत कस लेता है। उसकी आँखें फिर खुल जाती हैं और एक क्षण पहले की वह तमाम भयावह शक्लें, दुमदार सितारे, कुत्ते और बिल्लियाँ, जो उसकी बन्द आँखों के सामने नाच रही थीं, कहीं लुप्त हो जाती हैं।

लाल नगीना दमक रहा है।

एक अन्धा हाथ उसकी ओर बढ़ता है और वह मानो टूटकर या पिघलकर देवी की गोद में जा गिरता है। उसकी कँपकँपी थोड़ी देर बाद देवी के गरम और गुदगुदे शरीर के स्पर्श से दूर हो जाती है। वह उसकी गोद में सिमट जाने के लिए अपने आपको सुकेड़ता है। लेकिन वह बहुत लम्बा है, उसकी टाँगें किसी तरह भी देवी की गोद में नहीं समा पातीं। देवी झुककर उसे चूम लेती है और उसकी आँखें बोझल हो जाती हैं। लेकिन पेट तो खाली है। आँखों का बोझ उतर जाता है और पेट गुड़गुड़ाने लगता है, जैसे कोई बच्चा दूध माँग रहा हो।

और वह उस गुड़गुड़ाते हुए पेट को बहुत देर तक सहलाता रहता है, जैसे कोई बड़ा किसी बच्चे को बहला रहा हो।

इतना छोटा-सा पेट, एक ही रोटी से, ठसाठस भर जाए।

रोटी...रोटी...रोटी..

अँधेरे में धँसती हुई एक अदृश्य कील।

रोटी...रोटी...रोटी...मानो वह उस कील पर हल्की-हल्की चोटें मार रहा हो। क्रमशः वह चोटें मज़बूत होती जाती हैं। अँधेरा तिलमिला उठता है। धुआँ मानो उस तिलमिलाहट को देखकर मैदान में उतर आया हो।

वह आँखें बन्द कर लेता है, परन्तु धुआँ उन्हें उघाड़कर रख देता है। वह बन्द मुट्ठियों से उन्हें मलता है। उसके हाथ भीग जाते हैं, लेकिन जलन दूर नहीं होती। धुएँ का पानी मानो ऐसी गीली आग हो जिससे न आँखें धुलती हैं, न दिल की बेकली दूर होती है।

वह चुपचाप रोने लगता है। रोते-रोते उसका ध्यान बाबा की ओर जाता है। उसके आँसू कम हो जाते हैं! बाबा ज़रूर आटा लेने गये होंगे। थोड़ी ही देर में आ जाएँगे। देवी उठकर रोटियाँ पकाएगी। सब खाएँगे। लेकिन इतने घुप अँधेरे में वह कहाँ से लाएँगे आटा? अँधेरे में तो चोर घूमते हैं। बाबा भी कहीं चोरी करने तो नहीं गये? बाबा चोर...अचानक इस विचित्र कल्पना से वह सहम जाता है और उसके आँसू क़रीब-क़रीब थम जाते हैं, लेकिन भय और बढ़ जाता है। अँधेरा कई क़िस्म की भयानक शक्लों में बँट जाता है। वह आँखें बन्द कर लेता है, लेकिन

वही शक़्लें मानो अब उसके मस्तिष्क से अजीब-अजीब विचारों की सूरत में निकलती हैं। कहीं माँ उठकर दादी का गला घोंट दे तो...चाचा रघुपत का सिगरेट दादी के बिस्तर पर गिर पड़े तो...बाबा आकर माँ को पीटने लगें तो...देवी उसे उठाकर बाहर फेंक दे तो...अँधेरे में सभी कुछ हो सकता है।

उसके मुँह से एक बारीक़ और तेज़ चीख़ निकल जाती है। देवी उसे अपनी बाँहों में समेटकर चूमने लगती है। चीख़ टूटकर सुबकियों में तब्दील हो जाती है। सब लोग अपनी जगह पर हिलते हैं। मानो अँधेरा करवटें बदल रहा हो। निस्तब्धता भंग हो जाती है। कुछ आवाज़ें अँधेरे में सफ़ेद-सफ़ेद खम्भों की भाँति उग उठती हैं।

—तू अभी तक सोया नहीं?

—सो जा, मेरे वीर।

—आ, मेरे पास आ जा।

—सोया-सोया डर गया है बेचारा।

और वह इन आवाज़ों को सुनते-सुनते चुप हो जाता है।

—एक बसते-रसते घर में दीया तक न जले! राम राम!

दादी के इस वाक्य से बात का रुख़ फिर अँधेरे की ओर मुड़ जाता है।

—तेल के बिना दीया कैसे जले? मैं कहाँ से लाऊँ तेल?

—जिस घर में कुलच्छमी का वासा हो, उस घर के घड़ों में पानी तक सूख जाता है।

—ख़बरदार, जो मुझे कुलच्छमी कहा तो!

—मेरे कहने न कहने से क्या होगा? दुनिया जानती है।

—क्या जानती है? तेरा सिर?

—माँ!

—तू चुप रह!

—राम राम!

—चुप कर जा, माँ, क्यों बोलती है? एक दिन ज्यूँ-त्यूँ और काट ले। कल रात हम चले जाएँगे। चाचा रघुपत बोलते हुए उठते हैं, और फिर बैठ जाते हैं।

—कल तो मंगलवार है बेटा।

—कल नहीं तो परसों।

—मुझे क्या सुनाते हो? मेरी तरफ़ से कल के जाते आज जाओ! वह तो मैं पहले ही जानती थी। मेरे सब किये-कराये का नाम थोड़े ही होगा। कृतघ्न! वहाँ जाकर सारा चाव उतर जाएगा!

—ज़्यादा बातें बनाने की ज़रूरत नहीं, भाभी।

—घर मेरा है, कोई मेरी ज़ुबान नहीं पकड़ सकता!

माँ को अपनी ज़ुबान पर बहुत मान है। चाचा अपनी सिगरेट का जलता हुआ लाल सिरा उसकी ज़ुबान से लगा दे और वह दर्द से चिल्ला उठे तो मज़ा आ जाए! लेकिन चाचा तो यूँ सिगरेट पर सिगरेट फूँक रहे हैं जैसे सिगरेट भी रोटी हो।

वह देवी की गोद से उठकर चाचा के पास जाना चाहता है। देवी उसे खींच कर बिठा लेती है। वह फिर उठता है, देवी फिर उसे खींच लेती है। वह फिर उठता है और देवी उसे नहीं खींचती। उसका खेल ख़त्म हो जाता है। वह शायद चाचा की ओर जाना भूल जाता है। जब उसे और कुछ नहीं सूझता तो उसे प्यास लग आती है।

—पानी पीऊँगा।

—निराहार पानी पिएगा? मरना चाहता है? माँ कहती है।

यदि कोई माँ की बात माने तो पानी कभी पीये ही नहीं। निराहार पीने से मौत आ जाती है, खाने के बाद पीने से खाँसी, खाने के बीच पीने से पेट ख़राब हो जाता है, खड़े होकर पीने से पानी टाँगों में उतर जाता है, खेल-कूद के बाद पीने से गर्म-सर्द का ख़तरा है और गाजर या मूली के बाद पीने से हैज़े का।

—पानी पीऊँगा।

—यूँ क्यों नहीं मर जाता? सब मुझे तंग करने पर तुले हुए हैं!

—राम राम!

दादी इन दो शब्दों का प्रयोग उस समय करती है जब उसे माँ की कोई बात बहुत बेहूदा लगे। माँ को इससे चिढ़ है।

—हाँ, हाँ, तुम तो यही चाहती हो कि यह मर जाए!

—राम राम!

भला दादी को उसके मर जाने से क्या मिलेगा? वह फिर पानी की रट लगा देता है। शायद उसे वहम हो गया है कि पानी पी लेने से भूख मिट जाएगी। और शायद वह यह भी जानता है कि उसकी इस रट से सबका ध्यान और बातों से हटा रहेगा।

—देवी, उठो बेटी, पानी ला दो इसे। मैं माचिस जलाता हूँ।

चाचा रघुपत दियासलाई जलाते हैं। वह खुश हो जाता है। चाचा दियासलाई जलाते रहें, शूँ की आवाज़ पैदा होती रहे तो शायद उसकी भूख और प्यास बुझ जाएँ। लेकिन दियासलाई की रोशनी में उसे माँ एक कोने में खड़ी दाँत पीसती हुई दिखाई देती है। खर्र की आवाज़ पैदा होती है। मानो अँधेरा कहीं से फट गया हो। एक-दूसरे से सटे हुए माँ के दाँत। दियासलाई का सारा मज़ा मिट्टी हो जाता है। और उसे फिर प्यास लग आती है।

—ले!

वह हाथ बढ़ाता है, लेकिन माँ झपटकर गिलास छीन लेती है। छींटे उठते हैं और दादी फिर राम राम करने लगती है।

—फिर माँगेगा पानी? माँ उसका हाथ मरोड़ देती है।

—पानी, पानी, पानी! वह पूरे ज़ोर से चिल्लाने लगता है, मानो अँधेरे से विद्रोह कर रहा हो, धुएँ को परे हटा रहा हो, या ख़ामोशी को मुँह चिढ़ा रहा हो। ज्यों ही माँ उसका हाथ छोड़ती है, वह चिल्लाता हुआ इधर-उधर दौड़ने लगता है। माँ उसके पीछे दौड़ती है और वह ठोकर खाकर गिर पड़ता है।

—फोड़ लिया माथा? कहाँ चोट लगी है?

और माँ उसे छाती से लगा लेती है। उसे समझ नहीं आता कि वह चाहती क्या है, उसके हाथ क्यों दबा रही है, उसकी पीठ क्यों सहला रही है? उसके सिर और मुँह को चूम क्यों रही है? क्या यह वही माँ है जिसने उसका हाथ मरोड़ा था, जो दादी से लड़ती है, बाबा से पिटती है, देवी को गालियाँ देती है, जो उसे बिल्कुल अच्छी नहीं लगती? अगर अँधेरा न भी होता, तो भी वह माँ के चेहरे की ओर देखकर निश्चय न कर पाता कि यह वही माँ है!

उसकी प्यास मिट जाती है। सब लोग अपनी-अपनी जगह पर करवट बदल कर बैठ जाते हैं। अँधेरा फिर छा जाता है, धुआँ फिर ऐंठने लगता है, और ख़ामोशी फिर इन दोनों को मज़बूत गिरफ्त में कसने लगती है।

काफ़ी देर बाद, न जाने कितनी देर बाद, ड्योढ़ी का दरवाज़ा खटाक से खुलता है। और हवा के झोंके के साथ घिन की एक लहर उमड़ आती है। अँधेरा नाक सिकोड़ लेता है। धुएँ के माथे पर बल पड़ जाते हैं और ख़ामोशी को मानो एक ज़ुबान मिल गयी है।

दहलीज़ पर खड़े बाबा झूम रहे हैं। ठोकर खाकर गिर पड़ते हैं, उठते हैं, और लड़खड़ाते हुए अन्दर आ जाते हैं। अँधेरे में एक लाल नगीना और जड़ जाता है। बाबा की पगड़ी एक टेढ़ी-मेढ़ी लकीर खींच देती है। फिर वह लकीर साँप बनकर ज़मीन पर लोटने लगती है।

—रोटी लाओ!

एक खुरदरी आवाज़, जैसे माँ ने ही चारपाई घसीट दी हो।

—रोटी लाओ, सुनती हो कि नहीं? बाबा की आवाज़ में कई झोल हैं।

अँधेरा बदबूदार होता जा रहा है।

—मैं कह रहा हूँ, रोटी लाओ!

—होश करो, भाई! चाचा उठकर उन्हें थाम लेते हैं और अन्दर ले जाने की कोशिश करते हैं। उसी समय एकाएक माँ के रोने की आवाज़ अँधेरे को मानो छीलने लगती है।

बाबा हाँफते-से हुए माँ की ओर झपटते हैं और उसकी गर्दन दबोच लेते हैं।

—हाय, मार डाला! माँ चिल्ला उठती है।

—यह घर है या पागलखाना! चाचा रघुपत बुड़बुड़ाते हैं।

माँ गर्दन छुड़ाकर बाहर गली में भाग जाती है और वहाँ बैठकर रोने-चिल्लाने लगती है। बाबा एकदम शान्त हो जाते हैं, जैसे उनका नशा काफ़ूर हो गया हो।

—अन्दर आ जाओ, भाभी।

—माँ, अन्दर आ जाओ न!

—लोग क्या कहेंगे, माँ!

—अगर इसे इतनी अक़्ल होती तो आज यह हालत क्यों होती घर की! लेकिन इन सब बातों का माँ पर कोई असर नहीं होता। वह काफ़ी ज़ोर-ज़ोर से चिल्ला-चिल्लाकर लोगों को बता रही है कि बाबा उसे मार रहे हैं। चाचा उसके पास जाकर उसे अन्दर चलने को कहते हैं, लेकिन माँ पर जाने कैसा भूत सवार हो गया है कि वहीं बैठी-बैठी ज़ोर-ज़ोर से छाती पीटने लगती है और हर थाप के साथ चिल्ला-चिल्लाकर कहती है—हाय हाय!

—यह घर है या पागलखाना! चाचा बुड़बुड़ाते हुए अन्दर आ जाते हैं।

—माँ, क्यों भीड़ जमा करती हो?

—निर्लज्ज कहीं की! कुलच्छमी!

लेकिन माँ किसी बात का कोई जवाब न दे अपनी धुन में शोर मचाती रहती है।

बाबा ख़ामोश खड़े हैं।

सामने वाले मकान का दरवाज़ा खुलता है और एक औरत लालटेन लिये दहलीज़ पर खड़ी हो जाती है। फिर और दरवाज़े खुलते हैं। कुछ ही देर में उस लालटेन वाली के इर्द-गिर्द औरतों की एक भीड़-सी लग जाती है। माँ उन्हें देखकर और ज़ोर से चिल्लाने लगती है। भीड़ में फुसफुसाहट शुरू हो जाती है।

बीरू की आँखें उन औरतों पर जमी हुई हैं।

—अन्दर चलो, भाभी! चाचा ग़ुस्से में माँ का हाथ पकड़कर उसे अन्दर की ओर घसीटने की कोशिश करते हैं।

—छोड़ दो मुझे! ख़बरदार, जो मुझे किसी ने हाथ लगाया! छोड़ दो, मैं कहती हूँ!

लेकिन चाचा जैसे-तैसे उसे दहलीज़ तक ले आते हैं। बाबा आगे बढ़कर उसे अन्दर घसीट लेते हैं। ड्योढ़ी का दरवाज़ा बन्द कर दिया जाता है और अँधेरे में बाबा की आवाज़ कड़क उठती है। अब उसमें कोई झोल नहीं। उनका नशा उतर गया है और उसका स्थान सुर्ख़ ग़ुस्से ने ले लिया है। उनका ग़ुस्सा नशे से कहीं ज़्यादा तेज़ होता है। बीरू डर के मारे सहम जाता है। अँधेरे में भगदड़-सी मच जाती है।

—यह घर है या पागलख़ाना!

लेकिन चाचा के इस वाक्य से बाबा के ग़ुस्से में कोई फ़र्क़ नहीं पड़ता। देवी ड्योढ़ी का दरवाज़ा खोलकर भागती हुई बाहर जाती है और एक लालटेन लेकर भागती हुई वापस आती है। दरवाज़ा फिर बन्द कर दिया जाता है।

अँधेरा लालटेन की रोशनी में पीला पड़ जाता है। और इस पीले अँधेरे में माँ के उलझे हुए सूखे बाल सरकंडों के समान ऊपर की ओर उठे हुए, उसकी तमतमाती हुई आँखें, जिसमें पानी भी है और आग भी, उसके मोटे-मोटे फूहड़ हाथ, जो कभी माथे पर पड़ते हैं और कभी छाती पर दिखाई देते हैं और उसकी तेज़ चलती हुई ज़ुबान, जिसमें ज़हर भी है और दर्द भी...।

वह माँ की ओर देखता रहता है। उसकी निगाह में नफ़रतें भी है और प्यार भी। फिर उसकी आँखें बाबा की ओर उठ जाती हैं। उनकी वह झुकी झुकी काया, जिसमें बुढ़ापा भी है और जवानी की शिकस्त भी, उनका वह विशाल माथा, जिसके प्रताप को मोटी शिकनें छुपाये हुए हैं, उनकी वे बड़ी-बड़ी आँखें, जिनमें नशा भी है और एक कुंठित-सी कोमलता भी, और उनका वह दमकता हुआ चेहरा, जिसमें ग़ुस्से की सुर्ख़ी भी है और भय की ज़र्दी भी!

वह कभी माँ की ओर देखता है और कभी बाबा की ओर, जैसे उन दोनों को एक तराज़ू में तौल रहा है। कभी-कभी उसकी नज़र ड्योढ़ी के बन्द दरवाज़े की ओर उठ जाती है। दरवाज़ा खुला होता तो वह शायद अन्धाधुन्ध वहाँ से भाग खड़ा होता। उसे यूँ महसूस होता है कि उसके भीतर जो कुछ है, वह बाहर को उमड़ आना चाहता हो। फिर उसकी आँखों में अकस्मात् एक असीम जलन-सी होने लगती है, मानो किसी ने दो गरम-गरम सलाखों से उनमें कोई ज़हरीला सुरमा डाल दिया हो। और फिर उसकी गर्दन चाबीवाली जापानी गुड़िया की तरह हिलने लगती है।

—यह घर है या पागलख़ाना!

बीरू को महसूस होता है जैसे उसकी अपनी आवाज़ ही चाचा रघुपत के मुँह में से निकल गयी हो।

गाँव के लिए रवाना होने से पहले दादी उसे बहुत प्यार करती है, बहुत आशीर्वाद देती है, चूम-चूमकर उसका सारा माथा गीला कर देती है। और फिर अचानक रोने लग जाती है। उसे रोते देखकर वह भी रो पड़ता है। दादी उसे गाँव का नाम बताती है और रोते-रोते कहती है कि वह उसे चिट्ठी लिखे। लेकिन उस गाँव का नाम उसकी ज़ुबान पर ही नहीं चढ़ता। माँ उसे दादी की गोद से छीन लेती है। दादी और चाचा बाबा के साथ स्टेशन चले जाते हैं।

वह दादी की गाड़ी की आवाज़ सुनना चाहता है। लेकिन अन्दर माँ ने ऊधम मचा रखा है। दादी के चले जाने से ड्योढ़ी खाली-खाली दिखाई दे रही है। उसकी फटी-फटी दीवारें अजीब-सी लग रही हैं। माँ ड्योढ़ी में धूप जला देती है। कहती है कि दस दिन लगातार धूप जलाएगी, तब कहीं जाकर बदबू दूर होगी। माँ की हर बात निराली है। अगर वह अच्छी होती तो दादी कभी उन्हें छोड़कर चाचा रघुपत के साथ न जाती। वह दादी की ढीली-ढाली चारपाई में पड़ा तमाम घरेलू मामलों पर अपनी दृष्टि डाल रहा है।

देवी उसके पास आ बैठती है, उसे उस गाँव की बातें सुनाने के लिए, जहाँ दादी गयी है। सुनते-सुनते कुछ क्षणों के लिए वह भूल जाता है कि ये बातें उसे क्यों सुनाई जा रही हैं। और उसके आँसू रुक जाते हैं। लेकिन कभी-कभी किसी बात से न जाने क्यों उसके नन्हे-से दिल पर ऐसी चोट लगती है कि वह फूट-फूटकर रोने लगता है। देवी समझ नहीं पाती कि उसे कैसे चुप कराए।

—दादी चाची के घर गयी है।

—क्यों?

—तुमने चाची को देखा है, बीरू?

वह कुछ जवाब नहीं देता।

—चाची बहुत अच्छी है। उसके बाल बहुत लम्बे हैं।

बाल लम्बे होने से क्या होता है? यह देवी न जाने कब तक मुझे बच्चा ही समझती रहेगी!

—चाची के दो बच्चे हैं, एक लड़का, एक लड़की। उनके नाम जानते हो? नहीं? बताऊँ?

वह हाँ या न में सिर नहीं हिलाता। मरज़ी हो तो बताओ। मैं इस समय दादी को याद कर रहा हूँ। न जाने देवी क्यों यह सारा क़िस्सा ले बैठी है।

—लड़के का नाम है राम और लड़की का शल्लो। दोनों तुमसे छोटे हैं।

दोनों मुझसे छोटे कैसे हो सकते हैं?

—चाची उन्हें बहुत प्यार करती है!

प्यार शब्द में कुछ ऐसा है कि उसकी आँखें फिर भीग जाती हैं। वह चाहता है कि देवी चुप हो जाए और वह देर तक अकेला बैठा आँसू बहाता रहे। और चाची के बारे में सोचता रहे, जो अपने बच्चों को बहुत प्यार करती है।

—राम पक्की में पढ़ता है, शल्लो कच्ची में। दोनों एक साथ स्कूल जाते हैं। वहाँ गाँव में एक छोटा-सा स्कूल है। एक बार मैं भी उनके साथ गयी थी। लेकिन मैं अन्दर नहीं गयी।

वह कुछ पूछना चाहता है, लेकिन फिर कुछ सोचकर चुप ही रहता है।

—देखो, बीरू, मुझसे बोलोगे नहीं तो मैं भी चाची के पास चली जाऊँगी।

—चली जाओ! वह ग़ुस्से में कहता है।

देवी उसे अपनी बाँहों में भींच लेती है। पहले वह कुछ तिलमिलाता है, फिर उसके शरीर में एक अनजानी स्निग्धता प्रवेश करने लगती है और वह अपने आपको ढीला छोड़कर देवी की गोद में पड़ा रहता है। एक क्षण के लिए दादी की याद उसके मन से उतर जाती है और वह भूल जाता है कि अभी थोड़ी ही देर में दादी की गाड़ी की आवाज़ उसे सुनाई देगी।

—चाचा के घर में एक बिल्ली है, उसका रंग काला है। रात को उसे देखो, तो बहुत डर लगता है। राम उसकी पूँछ पकड़कर घसीटता है। और वह करती है, म्याऊँ! शल्लो उससे बहुत डरती है।

इस म्याऊँ-म्याऊँ पर उसे मुस्कराना ही पड़ता है। जब से देवी आयी है, आज पहली बार इस तरह बैठकर ऐसी प्यारी-प्यारी बातें कर रही है। अगर कुछ देर के लिए रोज़ देवी उसे इसी क़िस्म की बातें सुनाती रही तो वह दादी को शायद कभी भूले से भी याद न करे। जब वह दादी की गोद में बैठता था तो कभी-कभी उसके पिलपिले मांस में उभरी हुई हड्डियाँ चुभने लगती थीं। देवी की गोद बहुत मुलायम और गुलगुली है।

—वहाँ उनके आँगन में बेर का एक दरख़्त है। बहुत मीठे-मीठे बेर लगते हैं उसमें। खाओगे? मैं चाची को लिखूँगी, तुम्हारे लिए लिफ़ाफ़े में डालकर भेज दे।

लिफ़ाफ़े में क्या ख़ाक बेर आएँगे! यह देवी मुझे इतना बुद्धू क्यों समझती है? यह समझती है कि मैं अब भी वही छोटा-सा काका हूँ जिसे यह गोद में लिये दिन भर घूमा करती थी। वह देवी की गोद से अलग हो जाता है।

—वहाँ गाँव में सारे मकान कच्चे हैं, लेकिन चाचा का मकान पक्का है। उनके घर हर समय आटे की बोरियाँ ही बोरियाँ भरी रहती हैं। कभी लड़ाई नहीं होती। चाची हमेशा हँसती रहती है। बच्चे कभी रोते ही नहीं। उनके घर में ऊँची आवाज़ तक नहीं उठती।

देवी ने शायद उसका मन बहलाते-बहलाते स्वयं अपने आपको बहलाना शुरू कर दिया है। बहुत देर तक इसी तरह चाचा के घर की इसी क़िस्म की छोटी-छोटी बातें बीरू को सुनाती रहती है। और वह उन्हें ध्यान से सुनता रहता है। उसने ऐसी बातें ध्यान से पहली बार सुनी हैं। मन ही मन में वह अपने घर की तुलना चाचा के घर से करता रहता है। दोनों घरों के बीच एक लकीर-सी खींच देता है।

—और क्या होता है चाचा के घर में?

—तुम दोनों का सिर!

माँ उनके सिर पर खड़ी चिनगारियाँ बरसा रही है। जाने कहाँ से टपक पड़ी।

—चाचा के घर यह, चाचा के घर वह! अगर इतनी ही सुखी थी वहाँ तो वहीं क्यों नहीं रह गयी? किसने बुलाया था यहाँ? ख़बरदार, जो उन लोगों का नाम लिया मेरे घर में! अगर आ ही गयी हो तो आराम से रहो। बड़ी आयी चाचा के घरवाली!

माँ के सामने किसी की प्रशंसा करना उससे लड़ाई मोल लेने के बराबर है। वह हमेशा दूसरों की प्रशंसा में छुपी स्वयं अपने प्रति उपेक्षा को आसानी से पहचान लेती है। और अपने बारे में इस क़िस्म का संकेत मात्र भी बर्दाश्त नहीं कर पाती।

—अब तू छोटी नहीं है। कोठे जितना तुम्हारा क़द हो गया है। कोई काम कर, कोई काज कर! मैं तुम सबकी नौकरानी तो नहीं हूँ कि दिनभर अकेली सब काम करती रहूँ। उठती है कि नहीं यहाँ से!

देवी माँ की ओर देखती है। उसकी दृष्टि में वही ज़हर है जो माँ की ज़ुबान से निकले हुए शब्द में होता है।

—मुझसे अब ठीक तरह से बोलना होगा, माँ। हर एक को एक ही लाठी से...

—लाठी-वाठी सब निकालकर रख दूँगी! अब तू मुझे बोलना सिखाएगी? एक बीमारी गयी, दूसरी आ गयी! मेरी तो क़िस्मत ही ख़राब है!

माँ बात-बात में क़िस्मत को घसीट लाती है। न जाने उसे यह वहम क्यों हो गया कि सारी दुनिया उसके खिलाफ़ है। अगर किसी तरह उसका यह वहम दूर हो जाए तो शायद उसे कुछ शान्ति मिले।

—पता नहीं, तुम्हें हो क्या गया है।

—हो गया है तेरा सिर! नवाबज़ादी! यही बोल हैं तो जहाँ जाओगी वहाँ भी बहुत सुख पाओगी!

देवी भी कहीं जा रही है? चली जाए। सब चले जाएँ। सब मर जाएँ। मैं अकेला यहाँ पड़ा रहूँगा। उसका दिमाग़ चकरा जाता है। दादी की गाड़ी की आवाज़ उसे थाम लेती है। और उसकी आँखों में फिर आँसू आ जाते हैं। गाड़ी रुक जाती

है। और वह चीख़ उठता है—दादी!

देवी और माँ उसकी ओर यूँ देखतीं हैं जैसे वह पागल हो गया हो। गाड़ी चल पड़ती है और वह बिलख-बिलखकर रोने लगता है। माँ उसकी पीठ पर एक थप्पड़ मारती है। देवी माँ का हाथ पकड़ लेती है। माँ झुँझलाकर कुछ बुड़बुड़ाती है। लेकिन उसे कुछ पता नहीं चलता। वह गाड़ी की आवाज़ में अपने आँसू घोल रहा है। जब आवाज़ दूर होती हुई कहीं खो जाती है तो उसके आँसू भी रुक जाते हैं। वह उठकर दादी की ढीली-ढाली चारपाई में औंधे मुँह आ गिरता है।

छह

माँ मिनट-मिनट बाद उठती है। ड्योढ़ी का दरवाज़ा खोलती है, एक-दो बार इधर-उधर झाँककर दरवाज़ा फिर बन्द कर देती है और उसके सिरहाने आ बैठती है। जब वह दरवाज़े की ओर जाती है तो वह ज़रा आँखें खोलकर उसकी ओर देख लेता है। ज्यों ही दरवाज़ा बन्द होता है, वह आँखें बन्द करके लम्बी-लम्बी साँसें लेने लगता है। बहुत देर से चुपचाप बिस्तर में दुबका हुआ वह चोरी-चोरी माँ की बेचैनी का तमाशा देख रहा है। कुछ देर बाद माँ बुड़बुड़ाती हुई रसोई में जाती है। बरतन उठाकर इधर-उधर पटकने लगती है। सारे बरतन इसी तरह टेढ़े-मेढ़े हो गये हैं। माँ का ग़ुस्सा जब किसी तरह नहीं निकल पाता, तो हमेशा बरतनों की शामत आ जाती है।

—सो गया तू?

वह चुप रहता है। पास ही देवी सोयी हुई है।

देवी को नींद बहुत प्यारी है। यूँ ही बैठे-बैठे, बातें करते-करते, सो जाती है। और फिर उसके सिरहाने ढोल बजते रहें तो भी उसकी नींद नहीं टूटती। माँ कहती है, बेफ़िकरों की नींद ऐसी ही होती है। जब से दादी गयी है, माँ हर समय देवी से उलझती-झगड़ती रहती है। बात-बात पर उसे बुरा-भला कहती है।

अगर उसे माँ का डर न होता तो वह उठकर देवी के पेट में गुदगुदी करके उसे जगा देता। गुदगुदी के ख़्याल से ही उसके होठ फड़फड़ाने लगते हैं।

—सोया-सोया हँस रहा है?

माँ उसके पास बैठकर उसके गाल सहलाना शुरू कर देती है। माँ के खुरदरे हाथों मे प्याज़ और मिट्टी के तेल की बू आती है। वह नाक के बजाय मुँह से साँस लेने गलता है। माँ उसकी ठोड़ी को ऊपर उठाकर उसका मुँह बन्द कर देती है। और फिर धीरे-धीरे बोलने लगती है—हे ईश्वर! हे मालिक! जगतपिता जगदीश्वर!

दूर कहीं से कुत्तों के भौंकने की आवाज़ आती है। वह करवट बदलकर माँ के शरीर से सट जाता है।

—तू सोया नहीं अभी?

वह कुछ जवाब नहीं देता। माँ को धोखा देने के लिए लम्बी-लम्बी साँसें लेने लगता है। माँ फिर धीरे-धीरे परमात्मा को याद करने लगती है। वह फिर करवट बदल लेता है।

—क्या हो रहा है तुझे? सो क्यों नहीं जाता?

—नींद नहीं आ रही।

—नींद कैसे आये? तुझे खुश्की हो गयी है। घी भी नहीं है घर में। मालिश कैसे करूँ? खुशक हो रही है?

—हाँ।

माँ उसका सिर खुजलाने लगती है। फिर अचानक उसका हाथ रुक जाता है।

—यहाँ क्या हुआ तुझे?

—कुछ नहीं।

—बताता क्यो नहीं? कुछ नहीं कहूँगी। बता दे, क्या हुआ था? गिर पड़ा था?

—हाँ।

—कैसे? कहाँ से? दिन को क्यों नहीं बताया? इतना बड़ा रोड़ पड़ा हुआ है सिर में। बोल ना, कहाँ से गिरा था? किसी ने धक्का तो नहीं दिया था? बोल!

—यूँ ही खेलते-खेलते गिर पड़ा था।

—किसी ने मारा तो नहीं? सच-सच क्यों नहीं बताता?

वह कैसे बताए कि मास्टरजी ने छड़ी मारी थी, जिससे बचने के लिए वह दुबक गया था और छड़ी उसके सिर पर जा लगी थी। माँ अभी और सबकुछ भूल मास्टर की ऐसी-तैसी करने लगेगी।

—बता ना, किसी ने मारा तो नहीं?

—नहीं माँ! यूँ ही खेलते-खेलते ठोकर लग गयी थी।

—तुझे कितनी बार कहा है कि ध्यान से खेला कर। अगर तुझे कुछ हो गया

तो मैं क्या करूँगी? तू अपना ख़्याल क्यों नहीं रखता? तेरे सहारे ही तो मैं जीती हूँ। अगर तुझे कुछ हो गया तो मैं क्या करूँगी? बता ना, बोलता क्यों नहीं? तुझे भी मेरा कोई ख़्याल नहीं? और सब तो मुझे दुख देते हैं...

माँ बोलती चली जाती है। वह कुछ समझता है, बहुत कुछ नहीं। फिर भी माँ की ये बातें उसे सुहाती हैं। उसका गला भर आता है। माँ हर समय ऐसी ही बातें करती रहे तो वह उससे इतना प्यार करे, इतना प्यार करे कि वह खुश हो जाए!

—जब तक तू बड़ा नहीं होता, मेरी ज़िन्दगी नरक है, बेटा! भगवान तुझे जल्दी-जल्दी बड़ा करे! तेरा कभी बाल तक बाँका न हो! तुझे कभी गर्म-सर्द हवा न लगे! तेरे सिवायय मेरा है कौन, बेटा? हे परमात्मा, इसे कभी कुछ न हो!

वह सटकर माँ के साथ लग जाता है। माँ के कपड़े भीगे-भीगे-से हैं, लेकिन उसे अब उनसे बू नहीं आती।

माँ ने खुजलाना बन्द कर दिया है। हाथ जोड़कर, आँखें मूँदे, छत की ओर मुँह उठाये कह रही है—यही एक मेरी सारी उमर की कमाई है। इसे तो, हे भगवान, कभी कुछ न हो!

माँ किसी बात के पीछे न पड़ जाए! अब शायद सारी रात यूँ ही ऊपर मुँह किये इसी तरह भगवान से बातें करती रहेगी।

—माँ, मेरा सिर खुजलाओ, मुझे कुछ नहीं होगा। तुम मेरी चिन्ता न करो।

—तुझे कुछ हो गया तो मैं तो ज़हर खाकर मर जाऊँगी। तेरे ही आसरे तो मैं ज़िन्दा हूँ।

माँ की आवाज़ काँप रही है। वह पल्लू से आँखें पोंछ-पोंछ ठंडी साँसें ले रही है और बोल रही है। वह माँ की गोद में सिर रखकर लेट जाता है। वह कभी किसी के कहने से चुप नहीं करेगी। बोलती रहे।

—मेरे पिताजी कहा करते थे, जानकी, तुझे चिन्ता किस बात की है? देखते ही देखते तेरा बेटा जवान हो जाएगा। फिर तेरे सब दुःख दूर हो जाएँगे। तुझे तो उस ईश्वर का शुक्र करना चाहिए, जिसने इतनी मुद्दत बाद तेरी फ़रियाद सुनी है।

माँ के पिताजी कौन हैं?

—यह पिताजी कौन हैं, माँ?

—तुझे याद नहीं होगा, बेटा। तू बहुत छोटा था—दो बरस का। वह जब भी तुझे गोद में लेते थे तो उनकी आँखें भीग जाती थीं। कहते थे, काश, मैं इसके ब्याह तक ज़िन्दा रह सकता!

—अब वह कहाँ हैं, माँ?

—बेटा, उन्हें मरे पाँच साल हो गये।

वह पूछना चाहता है कि उस वक़्त वह कहाँ था। लेकिन माँ रो रही है। वह

चुपचाप माँ की ओर देखता रहता है। फिर मानो माँ का ध्यान बदलने के लिए कहता है—माँ, बाबा क्यों नहीं आये अभी तक?

—क्या पता, बेटा, क्यों नहीं आये। आजकल न जाने उन्हें क्या हो गया है। आधी-आधी रात तक घर नहीं लौटते। इसीलिए तो कहती हूँ, बेटा, तू जल्दी-जल्दी बड़ा हो जा। तब जाकर कहीं मेरा दलिद्दर दूर होगा। अच्छा तू जीता रह, मुझे अपने सुख की कोई परवाह नहीं। सुख मेरी क़िस्मत में लिखा ही नहीं तो मिले कैसे! जब से पैदा हुई...

और माँ की आवाज़ डूब जाती है। कुछ देर तक ख़ामोशी रहती है। माँ का इस तरह धीरे-धीरे रोना बीरू को बहुत अजीब लगता है। माँ तो जब कभी रोती है तो सारा क़स्बा सुनता है, गली के सब लोग उसके दरवाज़े के सामने इकट्ठे हो जाते हैं और इस समय माँ इस तरह रो रही है कि उसकी आवाज़ उसके कानों तक भी नहीं पहुँच रही।

—माँ, पानी ला दूँ?

—बेटा, कभी बैठकर तू मेरा सारा हाल सुने तो तुझे पता चले कि मैंने क्या-क्या जफ़र झेले हैं, कितना दुःख भोगा है।

अब माँ की यह राम कहानी न जाने कब ख़त्म होगी। इसी दम बाबा आ जाएँ तो शायद बात बदले। लेकिन फिर उन दोनों में जो लड़ाई होने का ख़तरा है उसे सोचकर उसका दिल बैठने लगता है। इससे तो यही अच्छा है कि माँ इसी तरह आराम से अपनी राम कहानी सुनाती रहे। इस तरह शायद उसे नींद भी आ जाए।

—मैं इतनी-सी थी जब मेरा ब्याह हो गया था। वह दिन और यह दिन, एक साँस भी तो चैन की नहीं मिली मुझे। उस दिन की तो मुझे याद नहीं। पिताजी कहा करते थे कि फेरों के वक़्त मुझे इतनी नींद आ गयी थी कि सब लोग मुझे जगाने में लगे रहे थे। मेरी उमर ही क्या थी! गुड्डियाँ-पटोलों की उमर। मुझे कुछ भी तो पता नहीं था कि क्या हो रहा है। कोई कहता, तेरा ब्याह हो रहा है तो मैं झट जवाब देती, तेरा हो रहा होगा! पिताजी ने मुझे इस पर डाँटा भी था। मुझे थोड़ी-सी याद है।

उफ़! माँ की यह बेसिर-पैर की बातें। एक लाहौर की तो दूसरी पेशावर की। जो मुँह में आता है, बोले जाती है। बाबा इसकी इन ऊटपटाँग बातों को कैसे सुनते होंगे। कहाँ सुनते हैं।

—उस छोटी उमर में मैंने क्या क्या नहीं देखा, बेटा। तेरी दादी मुझे दो-दो दिन खाने को कुछ नहीं देती थी। अँधेरी कोठरी में बन्द कर दिया करती थी। डर से मेरे प्राण खुश्क हो जाते थे। सारा-सारा दिन रोते गुज़र जाता था। कोई मेरी ख़बर

लेने वाला नहीं था। ये उस वक़्त भी सारा-सारा दिन घर से बाहर रहते थे। स्कूल से न जाने कहाँ चले जाते थे। इन्हें बिगाड़ने में सबसे ज़्यादा हाथ तेरी दादी का है। तेरी दादी हर घड़ी मुझे गालियाँ देती रहती। कहती, तुझे अक़्ल नहीं है। अब भला मुझे अक़्ल होती भी कैसे? मेरी उमर ही क्या थी। फिर भी तेरी दादी से तो उस वक़्त भी मुझमें ज़्यादा अक़्ल थी। बड़ी आयी सीख देने वाली...

दादी को गये कई महीने हो गये हैं, लेकिन माँ के दिल की आग अभी तक नहीं बुझी। जब कभी कोई ग़लती से दादी का नाम भी ले देता है, तो माँ उबलने लगती है, जैसे दादी सामने खड़ी हो। वह ख़ुद जब कभी दादी का ज़िक्र ले बैठती है तो हमेशा ऐसी-ऐसी बातें कहती है कि बीरू हैरान भी होता है और नाराज़ भी। आख़िर दादी का दिमाग़ ख़राब था कि माँ को रोटी नहीं देती थी? जब नहीं होती होगी, तो नहीं देती होगी। कहाँ से देती? अब क्या उनके घर कई बार आटा ख़त्म नहीं होता? इसका मतलब यह तो नहीं कि...

—मेरे साथ की लड़कियाँ मौजें उड़ा रही थीं और मुझे बरतन माँजने से ही छुट्टी नहीं मिलती थी। सर्दियों में मेरे छोटे-छोटे हाथ मारे ठंड के अकड़ जाते थे। लेकिन क्या मजाल जो मुँह से उफ़ भी निकल जाए। रोज़ रात को मुझे हल्का-सा बुखार हो जाता। मेरी हड्डियाँ कुड़कुड़ाती रहतीं और ओढ़ने के लिए मुझे सिर्फ़ एक पतला-सा घिसा हुआ कम्बल मिलता था। उसी में टाँगें छाती से लगाये सर्दियों की लम्बी रातें ठिठुर-ठिठुरकर गुज़ार देती। बुखार तो मुझे अब हर वक़्त रहता है। इस वक़्त भी होगा। ज़रा हाथ लगा के देख तो सही।

माँ को बहुत से वहम हैं, जिनमें से एक यह भी है कि दुनिया भर की बीमारियाँ उसे लगी हुई हैं। दिन में कई बार वह अपनी बायीं कलाई दायें हाथ से पकड़कर बैठी अपनी नब्ज़ देखती रहती है।

—कई बार थक-टूटकर चारपाई पर लेटने की सोच ही रही होती कि हुकुम मिलता कि उठकर तेरी दादी के पाँव दबाऊँ। दबाते-दबाते अगर ऊँघ गयी तो बस शामत आ जाती थी। फिर तो लातों से मरम्मत होती थी।

माँ, यह क्या क़िस्सा ले बैठी है। चुप करके सो जा।

—माँ, तुम्हें नींद नहीं आ रही?

—मुझे अब क्या नींद आएगी, बेटा। मेरी नींद तो फ़िकरों में ही बरबाद हो गयी। मैं तो कभी-कभी हैरान होती हूँ कि मैं यह सबकुछ सह कैसे गयी। मेरी जगह कोई और होता तो कब का प्राण छोड़ गया होता। मेरी हड्डी बहुत सख़्त है।

इसमें तो कोई शक नहीं। कभी-कभी माँ के मुँह से भी अपने बारे में सच्ची

बात निकल ही जाती है। अगर माँ की हड्डी सख़्त न होती, तो जितनी मार उसे बाबा से पड़ती है, उसके टुकड़े-टुकड़े हो गये होते।

—तेरे बाबा उन दिनों बहुत छोटे थे। स्कूल में पढ़ते थे। स्कूल दूसरे गाँव में था। मैं उन्हें अपना बड़ा भाई समझती थी। मेरा जी करता था कि मैं उनके साथ खेलूँ, कूदूँ। लेकिन वह तो स्कूल से रात पड़े लौटते थे। सब बुरी आदतें उन्हें स्कूल में ही पड़ गयी थीं।

वह शायद इस याद पर हँस रही है। लेकिन अँधेरे में ठीक पता नहीं चलता। हो सकता है, रो ही रही हो। माँ हँसती बहुत कम है। घर में तो बाबा भी बहुत कम हँसते हैं। लेकिन उसने उन्हें कई बार घर से बाहर अपने दोस्तों के संग ख़ूब क़हक़हे लगाते देखा है। घर में घुसते ही न जाने उनकी हँसी कहाँ ग़ायब हो जाती है। क़सूर सारा माँ का है। देवी जब नयी-नयी चाचा के घर से आयी थी तो बात-बात पर हँसती थी। अब दिन भर मुँह फुलाये बैठी रहती है। बेचारी अगर किसी बात पर हँसने की ग़लती कर भी बैठे तो माँ छूटते ही कोई ऐसी जली-कटी सुना देती है कि...ख़ैर, माँ के होते घर में हँसी का सवाल ही नहीं उठता। वह ख़ुद घर में बहुत कम हँसता है। वह तो स्कूल में भी बहुत कम हँसता है। कुछ लड़के उसे देखते ही चिल्लाने लगते हैं, रोते क्यों हो? शक्ल ही ऐसी है! कई बार वह इस मज़ाक से इतना तंग आ जाता है कि उसे सचमुच रोना आ जाता है।

—तेरी दादी का हुकुम था कि मैं कभी बिना घूँघट तेरे दादा के सामने न जाऊँ! लेकिन घूँघट मेरे सिर पर ठहरता नहीं था। इस पर भी तेरी दादी मेरी ख़ूब ख़बर लेती. तेरे बाबा तेरे दादा से चोरी-चोरी हुक्का पिया करते थे।

—माँ, दादा भी तुम्हें मारते थे क्या?

—नहीं, उन्होंने तो कभी ऊँचा बोल नहीं बोला। झूठ नहीं बोलूँगी। लेकिन उन बेचारों का तो अपना दम खुश्क रहता था। वह भी तो तेरी दादी से बहुत डरते थे। तेरी दादी कोई मामूली औरत थोड़े ही है!

मामूली तो माँ तुम भी नहीं हो। किसी से पूछकर तो देखो! वह मन ही मन यह सोचकर हँस देता है। माँ अपनी ही धुन में बोलती जा रही है। अगर वह सो भी जाए, तो माँ उसी तरह बोलती रहेगी। उसने कई बार माँ को बिल्कुल अकेले बैठे अपने आपसे बातें करते देखा है।

वह बीच-बीच में यूँ चुप हो जाती है, जैसे अपनी बातों या यादों में से कोई ख़ास बात या याद ढूँढ़ रही हो।

—तेरे बाबा तेरे दादा के लिए शराब लाया करते थे और रास्ते में घूँट दो घूँट आप भी पी लिया करते थे। कभी-कभी रात को उनकी ताश चुरा लाते और मुझे कहते, आओ खेलें। और अगर कभी तुम्हारी दादी को पता चल जाता तो बस मेरी

शामत आ जाती। दबे पाँव पीछे से आकर ऐसा भरपूर धप्पा जमाती कि तारे नज़र आने लगते।

अब तो माँ की यह राम कहानी ख़त्म हो ही जाए तो अच्छा है।

—माँ, कोई कहानी सुनाओ ऐसी कि नींद आ जाए। कोई अच्छी-सी कहानी। किसी राजे की।

वह माँ की गोद में सिमटता हुआ छोटा-सा बन जाता है।

—फिर तेरे बाबा की नौकरी लग गयी। मैंने लाख-लाख शुक्र किया। सोचा, अब तेरी दादी से जान छूटेगी। लेकिन वह कहाँ पीछा छोड़ने वाली थी। वह भी हमारे साथ-साथ ही रही। ये तनख्वाह लाते और सारी की सारी उसकी झोली में डाल देते। मैं एक-एक पैसे को तरसती...

माँ फिर कुछ देर के लिए चुप हो जाती है। जहाँ कहीं भी पैसे की बात आ जाए, माँ का गला रुँध जाता है।

—उन दिनों तुम्हारे बाबा को ऊपर की आमदनी बहुत हुआ करती थी। ख़र्च भी बहुत कम था। हर चीज़ मुफ़्त मिलती थी। तेरी दादी गली में सब चीज़ें बाँटती रहती। और मुझे कभी कुछ सूँघने को भी नहीं मिलती। मुझे उसने कम दुख नहीं दिया। मैं क्यों करूँ उसकी सेवा? क्यों रखूँ उसे अपने पास? सारी जवानी मैंने उसकी झिड़कियाँ सहते-सहते गुज़ार दी। कोई मेरे अन्दर झाँककर तो देखे! छाले पड़े हुए हैं। मैं तो खोखली हो गयी हूँ। मेरे अन्दर तो कुछ भी नहीं रहा। और अभी मेरी उमर ही क्या है। मेरे साथ की...

माँ हाथ लहरा-लहराकर बोलती जा रही है। बीरू हैरान है कि उसका यह क़िस्सा कब और कैसे ख़त्म हो। अब उसे हल्की-सी नींद भी आने लगी है। अगर माँ कुछ धीमे बोलने लगे तो वह चुपचाप सो सकता है। लेकिन वह धीमे बोले कैसे? उसे फिर उसके कपड़ों में मे हल्दी, घी, तेल की बू आने लगती है। और माँ की गोद से खिसककर चारपाई पर लेट जाता है। चारपाई बहुत ढीली है। उसे लगता है, जैसे वह किसी टब में पड़ा हो। कभी-कभी वह एक कहानी सुनाया करती है, जिसमें एक राजा होता है। राजे को जब कभी कोई चिन्ता हो, तो वह टूटी हुई चारपाई लेकर उसमें पड़ा रहता है। उनके घर तो सारी चारपाइयाँ ऐसी हैं कि...

—मैं उन्हें शराब पीने से मना करती तो तेरी दादी मुझे डाँटने लगती। कहती, तू कौन होती है उसे मना करने वाली? नीच घराने की! तेरी मजाल जो तू मेरे बेटे को कुछ कहे! तू अपने काम से काम रख। ...मैं सारी-सारी रात रोती रहती। कोई मेरी ख़बर लेने वाला नहीं था। हर रोज़ नशे में धुत ये घर लौटते, हर रोज़ मेरी पिटाई होती। कोई और मेरी जगह होता तो गले में रस्सी डालकर मर जाता।

माँ कभी कोई ऐसी कहानी क्यों नहीं सुनाती जिसमें एक राजा हो, जिसकी सात रानियाँ हों...

—हर वक़्त मेरा अंग-अंग दुखता रहता है। अपनी माँ की शह से वह और भी शेर हो जाते। मैंने मुँह खोला नहीं कि दोनों माँ-बेटा मुझ पर पिल पड़ते।

...राजा सबसे छोटी रानी को सबसे ज़्यादा प्यार करता हो। छोटी रानी का नाम फूलरानी हो...

—मैं कभी बीमार पड़ जाती तो तेरी दादी कहती, फ़रेब कर रही है। दवाई तो एक तरफ़, मेरा हाल पूछने वाला कोई नहीं था।

...एक दिन फूलरानी बीमार पड़ जाए, राजा रात भर करवटें बदलता रहे। उसे नींद न आए। दूसरे दिन राजा अपने वज़ीर को बुलाकर उससे कहे, देखो, इसी दम नगर में मुनादी करवा दो, डम डम डम...

—कई-कई दिन ये घर न लौटते। मेरी हरदम जान खुश्क रहती। लेकिन तेरी दादी के डर के मारे किसी से बात करने की हिम्मत तक न होती। गली-मुहल्ले की औरतें पूछतीं, कहाँ गये हैं, तो मुझे रोना आ जाता। हर वक़्त मेरा दिल यही चाहता कि गले में रस्सी डालकर अपनी जान ले लूँ। पता नहीं, वह कौन-सी ऐसी शक्ति थी जिसने मुझे बचाये रखा। नहीं तो वे दुख...

...मुनादी करवा दी जाए, डम डम डम...फूलरानी बीमार है। जो कोई उसे अच्छा कर देगा, राजा अपना आधा राजपाट उसे दे देगा...

—बेटा, मेरी जवानी तो इन्हीं चीज़ों में घुल गयी। मैंने एक दिन भी तो सुख का मुँह नहीं देखा। सच कहती हूँ बेटा।

माँ के स्वरों में सहसा बीरू को किसी अपाहिज भिखारिन के स्वर सुनाई देने लगते हैं। उसकी अपनी कहानी का तन्तु कहीं गुम हो जाता है। फूलरानी ठीक होती है या नहीं होती, वह कुछ फ़ैसला नहीं कर पाता। माँ रो रही है। धीरे-धीरे। उसे डर है अगर माँ ने रोना बन्द नहीं किया तो वह भी उसके साथ मिलकर रोने लगेगा।

—माँ, रोओ नहीं!

—मेरी क़िस्मत में सिवाय रोने के और कुछ लिखा ही नहीं। मेरी सारी उमर रोने-रोते गुज़री है। मुझे कभी सुख नहीं मिला। मुझे कभी सुख नहीं, मिलेगा।

—रोओ मत, माँ! मैं तुम्हें सुख दूँगा।

माँ उसे चूम लेती है।

वह कुछ झेंपकर अपना मुँह माँ की गोद में छुपा लेता है।

दूसरे दिन भी वह माँ की आँखों से आँखें नहीं मिला पाता, मानो अपने उत्तरदायित्व से आँखें चुरा रहा हो।

सात

बाबा कई दिनों से घर में नहीं सोते। सुबह आते हैं और देवी को कुछ पैसे देकर उसी वक़्त चले जाते हैं। माँ से बात तक नहीं करते। माँ सारा दिन बिस्तरे में पड़ी रहती है। वहीं पड़ी-पड़ी बुड़बुड़ाती रहती है, दाँत पीसती रहती है और कभी-कभी ग़ुस्से में कोई चीज़ उठाकर फ़र्श पर दे मारती है।

काका हर समय माँ के साथ लेटा रहता है। बीरू को बिल्कुल अच्छा नहीं लगता। लाल-लाल-सा, जैसे चुहिया का बच्चा हो। उसकी आँखें बहुत छोटी हैं। लेकिन माँ उसे बहुत चूमती-चाटती रहती है। फिर भी हरदम कें-कें करता रहता है। कभी क्या, बच्चू को तब पता चलेगा जब ज़रा बड़ा होगा। सब लाड़-प्यार भूल जाएगा।

लेकिन माँ कितने दिन और इसी तरह पड़ी रहेगी? उठती क्यों नहीं? वैसे तो अच्छी ही है। ख़ैर, उठकर भी कौन-सी कमाई करेगी! न ही उठे तो ठीक। जब से उसने बिस्तर पकड़ा है, घर का रंग-ढंग ही बदल गया है। खाना वक़्त पर मिलता है। धुआँ भी बहुत कम उठता है। अँधेरा भी कम हो गया है। फिर भी माँ हर वक़्त शोर मचाती रहती है।

—मैं बीमार क्या पड़ी हूँ, उन्हें खुली छुट्टी मिल गयी है। कोई पूछने वाला जो नहीं रहा। रात को रोज़ चढ़ाते होंगे। और फिर न जाने कहाँ-कहाँ टक्करें मारते होंगे चढ़ाकर!

—क्या चढ़ाकर माँ?

—शराब, और क्या?

अगर माँ के तेवर कुछ ठीक होते तो बीरू शराब के बारे में और भी कोई सवाल पूछता।

—मुझे तो शक है कि आजकल फिर जुआ ज़ोरों पर है। यह जो हर रोज़ थोड़े से पैसे दे जाते हैं, यह सब जुए की मेहरबानी मालूम देती है। जुआ खेलने से अगर पैसे आते हैं तो इसमें बुराई क्या है? माँ को तो पैसे ही चाहिए न!

—एक दिन तू ही पीछा कर, बीरू, इनका। देख तो सही कि जाते कहाँ हैं, करते क्या हैं।

पीछा करने के ख़्याल से बीरू को हँसी आ जाती है। बाबा जैसे चोर हों।

—हो न हो, उसी लँगड़े के घर चंडाल-चौकड़ी जमती होगी।

यह लँगड़ा कौन है? माँ ने दुनिया भर के लोगों को अजीब-अजीब नाम दे रखे हैं। और यह चंडाल-चौकड़ी किस बला का नाम है? माँ की बातें माँ ही जाने!

न जाने बिस्तर में बैठे-बैठे हर वक़्त क्या-क्या सोचती रहती है!

—मैं ठीक हो जाऊँ तो उस लँगड़े की दूसरी टाँग भी तोड़के न रख दी तो मेरा नाम जानकी नहीं। और इस जूड़ीवाले की जूड़ी उखाड़कर उसके हाथ में न दे दी तो मुझे कहना! मैं ज़रा बिस्तर से उठ तो लूँ!

परमात्मा करे, माँ कभी बिस्तर से न उठे!

—बुरा हो बुरों का! कोई भी तो उन्हें सीधे रास्ते पर चलने की सलाह नहीं देता। सभी बिगाड़ने पर तुले हुए हैं। सब बेड़ा ग़र्क करना चाहते हैं। ख़ुद पीछे हो जाते हैं, और उन्हें आगे कर देते हैं। इन जैसा सीधा आदमी मैंने कहीं नहीं देखा।

और, माँ, तुम जैसी टेढ़ी औरत भी किसी ने नहीं देखी होगी। वह अपनी इस नयी आदत पर बहुत खुश है। माँ की प्रायः हर बात को वह ख़ामोशी से काटता रहता है। उसे लगता है जैसे वह माँ की हर बात की रग पकड़ लेता हो। सब कहते हैं, वह अब बहुत चालाक हो गया है।

—एक दिन पता तो लगा बेटा, कि वह कहाँ जाते हैं। उनके अड्डे तुझे मैं बता दूँगी। तू जाकर एक दिन पता तो कर कि आजकल रात को वह किस अड्डे पर...।

बाबा के भी अड्डे हैं, जैसे वह भी कोई ताँगा हों। माँ का तो दिमाग़ चल गया है। एक बात सीधी नहीं करती। माँ को चिड़ियाघर भेज देना चाहिए। चिड़ियाघर की कल्पना करके वह मुस्कराने लगता है।

—देवी कहाँ है, माँ?

—यहीं कहीं टक्करें मार रही होगी। वह कौन-सी कम है! उसे भी आज़ादी मिल गयी है। उसे कोई ख़्याल है कि मेरी माँ बीमार पड़ी है, मैं घर बैठूँ, काम-काज करूँ। उसे अपनी आवारागर्दी से ही फ़ुरसत नहीं।

माँ से तो कोई सीधी-सी बात भी कहो तो पूरी छह मील लम्बी कहानी सुन लो!

—इसके घर जा, उसके घर जा! हमेशा गधों की तरह हिन-हिन करती रहेगी। ऊँट जैसा क़द हो गया है, लेकिन अक़्ल नहीं इतनी-सी भी। इस जैसी लड़कियाँ अपना घर सँभाले बैठी हुई हैं और इसे सिवाय ही-ही के और कोई काम ही नहीं।

माँ, तुम्हें भी तो सिवाय चिड़चिड़ाने के और कोई काम नहीं।

—रात होने आयी है। उसे ख़्याल है कि घर चलूँ, चलके रोटी पकाऊँ, किसी को भूख लगी होगी! खसम ऐसा, लड़की ऐसी—मेरी तो मिट्टी ख़राब है।

माँ ये मुहावरे न जाने कहाँ से छाँट-छाँटकर निकालती है।

—उसे इतना भी ख़्याल नहीं कि लोग क्या कहेंगे। कोई और लड़की भी

है सारी गली में जो इस तरह दिन भर घूमती फिरती है, अपनी माँ के साथ लड़ती है, माँ के दुश्मनों से जानबूझकर दोस्ती पालती है? लेकिन मैं करूँ क्या, उसकी आँखों में तो डर ही नहीं रहा। करूँ तो क्या?

माँ जाने और क्या कहना चाहती है। वह उसकी बातों में इतना ऊब गया है कि कई बार उसके जी में आता है कि उठकर उसके मुँह में कपड़ा ठूँस दे।

—लोग तो सारा दोष मुझे ही देते हैं ना। कहते हैं, मैं उसे टोकती नहीं। अगर कल कोई बात हो गयी, तो नाम तो मेरा ही डूबेगा। हाय परमात्मा, मैं क्या करूँ? मर जाऊँ क्या? मुझे शान्ति कब मिलेगी!

माँ को शान्ति कभी नहीं मिलेगी, कभी नहीं मिलेगी!

—माँ, बाबा आजकल घर क्यों नहीं आते?

—मेरी जूती जाने! क्या बताऊँ, बेटा, जब तू ज़रा बड़ा होगा तो सब समझ जाएगा।

मैं तो अब भी सब समझता हूँ, माँ। अब और क्या समझने को बाक़ी है। और बड़ा क्या...

—तेरी माँ ने क्या-क्या कष्ट झेले हैं, बेटा, तू नहीं जानता। मैं तो तुझे देखकर ही जीती हूँ, बेटा।

फिर वैसी ही बातें शुरू कर रही है, जिन्हें सुनकर मुझे रोना आ जाता है।

—बेटा, तू बड़ा होकर मुझे सुख देगा ना, मेरी बात मानेगा ना? और तो किसी ने मुझे कभी सुख नहीं दिया, बेटा। सब मेरे दुश्मन हैं। तंग करने पर तुले हुए हैं। तू तो वैसा नहीं बनेगा? तेरे सहारे ही तो जी रही हूँ। बोलता क्यों नहीं? बोल ना? कह दे ना...

क्या कह दूँ? कुछ समझ में तो आता नहीं।

—हाँ, माँ, मैं तुझे सुख दूँगा।

माँ खिल उठती है। उसकी आँखों में आँसू झिलमिलाने लगते हैं। और उसके चेहरे पर मुस्कराहट की धीमी धूप फैल जाती है।

—मुझे तुमसे यही उम्मीद थी। बेटा, तू ही मेरी सारी कमाई है!

उसके कन्धे ढीले पड़ जाते हैं, मानो उन पर अकस्मात् कोई भारी बोझ डाल दिया गया हो। वह उद्भ्रान्त-सा माँ की ओर देखने लगता है। अगर माँ उसकी 'हाँ' से ही इतना खुश हो सकती है तो ज़रूर इस 'हाँ' में कोई ख़ास बात होगी। कहीं मैं फँस तो नहीं गया?

काका जाग गया है। माँ उसे गोद में उठा लेती है।

—अब इस बेचारे को भूख लग रही है। मेरे अन्दर कुछ हो तो इसे दूँ।

माँ अपनी कमीज़ उठाकर स्तन काके के मुँह से लगा देती है। काका एक-

दो बार मुँह मारकर फिर रूँ-रूँ करने लगता है।

—माँ, काका कहाँ से निकला था?

—तेरे सिर में से!

वह ठिठक जाता है। माँ को एकदम न जाने फिर क्या हो गया है। अभी तो मुस्करा रही थी। अब उसका माथा फिर सिकुड़ गया है। उसका ध्यान न जाने किस ओर भटक गया है। उसे पता नहीं क्या दिखाई दे रहा है। वह उसकी ओर नहीं देख रही। काका रीं-रीं कर रहा है। अगर वह इसी वक़्त चुप नहीं हुआ, तो यह उसका गला घोंट देगी।

—माँ!

—बोल, बोलता क्यों नहीं?

—तुझसे बहुत डर लगता है, माँ।

—मैं डायन तो नहीं। मुझसे क्यों डर लगता है? बोल ना!

—माँ, लड़के कहते हैं, काका तेरी माँ के पेट में से निकला है। क्या यह सच है, माँ? मैंने उन्हें कहा था, काके को भगवान ने भेजा है। सुनकर वे हँसते हैं और कहते हैं, तू उल्लू है।

—ऐसे लड़कों से बात नहीं करते।

—माँ, वे कहते हैं, तू भी माँ के पेट से निकला था।

—कहा न, ऐसे लड़कों से बात नहीं करते।

—वे कहते हैं, सारी दुनिया अपनी माँ के पेट से निकलती है।

माँ हँसने लगती है। वह माँ को हँसता देखकर अपनी बात भूल जाता है। और माँ के चेहरे पर बनती-मिटती झुर्रियों को देखते हुए हैरान रहता है कि माँ की हँसी और रोने में कितना फ़र्क़ है! माँ रोती क्यों है? उसकी शक़्ल ही ऐसी है।

—माँ, काका जहाँ से दूध पीता है, उसे क्या कहते हैं?

—दूध और क्या?

—लड़के तो इसे ममा कहते हैं।

—लड़के बहुत शैतान हैं। बहुत गन्दी बातें करते हैं। ऐसे लड़कों से बात नहीं करते।

—गन्दी बातें क्या होती हैं, माँ?

—मुझे नहीं पता। तुम अब बहुत चालाक हो गये हो। बहुत बातें बनाने लगे हो।

—माँ, मैं भी वहाँ से दूध पीऊँगा।

—बड़े लड़के यह दूध नहीं पीते।

—क्यों?

—क्योंकि वे बड़े हैं।

माँ के इस गोलमोल जवाब से उसकी शंका नहीं मिटती, लेकिन माँ को ज़्यादा तंग नहीं करना चाहिए। न जाने किस बात पर बिगड़ जाए। माँ का रंग बदलते देर नहीं लगती। लेकिन आज माँ को इस तरह छोटी-छोटी बातों से छेड़ने में उसे बहुत मज़ा आ रहा है।

—माँ, देवी का काका कब होगा?

—ऐसा नहीं कहते।

—क्यों?

—देवी का पहले ब्याह तो हो ले।

—तो क्या ब्याह के बग़ैर काका नहीं होता, माँ?

—पागल है!

तो लड़के सच ही कहते हैं, पहले ब्याह होता है, फिर काका। वह धीरे से मुस्करा देता है। बहुत चालाकी से उसने एक बहुत बड़ी बात का पता लगा लिया है। लड़के सब ठीक कहते हैं। माँ को झूठ बोलने की आदत है।

—देवी का ब्याह कब होगा, माँ?

—भगवान जाने, होगा भी कि नहीं। बाप शराबी, जुआरी; बेटी बेहया, बेअक़्ल। क्या पता, होगा भी कि नहीं। पल्ले एक पैसा नहीं। ब्याह मेरे सिर से होगा। यह अपने घर चली जाती, मेरा बोझ हल्का हो जाता। एक लड़की थी। मेरे दिल में क्या-क्या अरमान थे! हाय, मेरी तो कोई भी कामना पूरी नहीं हुई।

माँ एक ठंडी आह छोड़ती हुई अपना सिर पकड़ लेती है।

—मैं तो चारों तरफ़ से दुखी हूँ। मुझे कोई भी तो सुख नहीं। किसी को औलाद का सुख होता है, मुझे तो वह भी नहीं। पल्ले फूटी कौड़ी नहीं। ब्याह कैसे होगा? मेरे सिर से? लेकिन जब और किसी को कोई चिन्ता नहीं तो मुझे क्या पड़ी है? मेरी बला से! मैं क्यों अपनी जान दूँ? जाएँ भाड़ में सब! जब कोई मेरी इस घर में सुनता ही नहीं, तो मैं क्यों किसी की फ़िकर करूँ? जब बाप को ही परवाह नहीं, तो मुझे क्यों हो?

वह माँ की बातों के साथ-साथ चलने की कोशिश करता है, लेकिन उसकी बात पतंग की डोरी के समान है। उसके हाथों से फिसलती जाती है। पतंग उड़ाने की भी क्या बात है! असलम पतंग उड़ाता है। बिल्कुल तारा बनाकर छोड़ देता है। बाँधकर रख देता है। डोरी को इतना तेज़ बना देता है कि अँगुली कट जाए। लेकिन पतंग भी एक आने से कम में नहीं आती। पैसे की बात करो तो माँ दुनिया की तकलीफ़ों का क़िस्सा ले बैठती है। वह हर वक़्त माँ के पास बैठा रहता है। लड़के उसे माँ का लाड़ला कहकर छेड़ते हैं। लड़कों की माँ की...

उसने बहुत-सी गालियाँ सीख ली हैं। असलम की गालियों में कितनी जान होती है! वह कहता है, गाली हो तो गोली ऐसी, कि लगते ही आदमी का सिर फट जाए। असलम की भी क्या बात है! अगर कभी वह मेरा दोस्त बन जाए। दोस्त वह, जो मुसीबत के वक़्त काम आए। और मुसीबत वह जो...

—बाप जाने कहाँ-कहाँ ख़ाक छानता रहता है! बेटी न जाने किस-किसके साथ आँखें लड़ाती रहती है! एक दिन ऐसा शगूफ़ा खिलाएगी कि सब देखते रह जाएँगे। फिर सब आकर मेरी जान को रोएँगे। अब मेरी बात कोई नहीं सुनता। मेरी सुनें, तो सोने के न हो जाएँ सब!

मैं जो सुन रहा हूँ! मैं तो सोने का नहीं हुआ? पता नहीं, माँ क्या बकती चली जा रही है। लोग ठीक कहते हैं, माँ का दिमाग़ ख़राब हो गया है। क्यों नहीं बाबा माँ को पागलख़ाने भेज देते? बाबा कहते हैं, यह घर नहीं पागलखाना है। बाबा ख़ुद भी तो पागल ही हैं। पागल न होते तो क्या यूँ पीटते अपना माथा? और लोगों के भी तो बाप हैं। माँ वह, जो प्यार करे, अच्छी-अच्छी बातें करें। और लोगों की भी तो माँएँ हैं।

अपने घर का मुक़ाबला दूसरे लोगों के घरों से करने की आदत भी उसने अपने घरवालों से ही सीखी है। जब कभी माँ देवी को डाँटती है तो यही कहती है, 'और लोगों की भी तो लड़कियाँ हैं, वे तो ऐसा नहीं करतीं।' देवी झट बोल उठती है, 'और लोगों की भी तो माँएँ हैं वे तो हर वक़्त अपनी लड़कियों को ऐसे सूली पर नहीं चढ़ाए रहतीं।' इसके जवाब में माँ पुकारती है, 'तू और लोगों की लड़कियों की तरह बनके तो दिखा!' देवी की ओर से जवाब आता है, 'मैं कैसे बनूँ? ताली तो दोनों हाथों से ही बजती है।' वह ताली बजाने लगती है। माँ को देवी की इस ताली वाली बात से बहुत चिढ़ है।

बाबा के ख़िलाफ़ भी मा की सारी शिकायतों की तान इसी बात पर आकर टूटती है—और लोगों के भी तो आदमी हैं, वे तो सारा-सारा दिन घर से ग़ायब नहीं रहते, शराब नहीं पीते, जुआ नहीं खेलते, वे भी तो आदमी हैं।

बाबा माँ का मुक़ाबला दूसरों की औरतों से नहीं करते। वे कभी लम्बी-चौड़ी बहसों में पड़ते ही नहीं। उन्हें शायद माँ की शक़्ल से नफ़रत है। इधर माँ ने कुछ कहा नहीं कि बाबा का पारा सिर से ऊपर चढ़ा। वह किसी से भी ज़्यादा बात नहीं करते। उन्हें हर समय कोई और ही धुन सवार रहती है।

– तू ही किसी दिन उनका पीछा कर, बेटा। देख तो सही जाकर, क्या करते हैं। आज तो जीत रहे हैं। अगर कल को हारने लगे, तो चौके में पानी पीने के लिए एक गिलास तक नहीं बचेगा। तू उन्हें नहीं जानता।

मैं किसी को नहीं जानता। और न ही मुझे ज़रूरत है। मेरी तरफ़ से सब

जाएँ...माँ के पास बैठ-बैठकर ज़ुबान भी ख़राब हो गयी है। मुझे माँ के पास बैठे रहने के बजाय बाहर जाकर अपनी उमर के लड़कों के साथ खेलना चाहिए। क्या खेलना चाहिए? कुछ भी। मुझे क्या पड़ी है कि यहाँ इस अँधेरी कोठरी में बैठा माँ की बकवास सुनता रहूँ? मैं सबको गोली मारता हूँ!

—जाकर इस देवी को ही देख। मेरा लाल, देख तो सही, किसके घर बैठी है। जहाँ भी हो, जाकर चोटी से पकड़कर घसीट ला। अपने आप तो वह सारी रात घर नहीं आएगी।

अजीब मुसीबत है। मैं हर किसी का पीछा ही करता रहूँ। मुझे और कोई काम नहीं। स्कूल का काम माँ का बाप कर जाएगा आकर! स्कूल का काम नहीं करूँगा तो कल मास्टर जब पूछेगा तो उसे क्या दिखाऊँगा? अपना सिर या माँ का सिर? मास्टर सारे लड़कों के सामने मुझसे पूछेगा, क्यों बे, सारी रात क्या माँ का दूध पीता रहा? बोल! मास्टर कितना गन्दा है! माँ को पता चले तो ऐसी-ऐसी गालियाँ दे...

उसी समय देवी दबे पाँव अन्दर आती है। अपने निचले होठ को काटती हुई। एक अँगुली से बीरू को चुप रहने का इशारा-सा करती हुई। लेकिन शायद वह इस इशारे का मतलब नहीं समझता।

—देवी आ गयी, माँ।

—आ गयी? शुक्र है, आयी तो! अभी और टक्करें मारती! क्या ज़रूरत थी अभी आने की? माँ पुकारती है।

देवी चुपचाप रसोई की ओर चलने लगती है।

—मैं पूछती हूँ, कहाँ गयी थी?

—बाहर।

—क्या करने? सिर मुँडाने? तुझे शर्म नहीं आती? कितनी बार कहा है, घर बैठा कर। तुझे इतना भी ख़्याल नहीं कि मेरी माँ बीमार पड़ी है। बेहया!

—माँ, मुझे गाली मत दो।

—वाह! क्या कहने! वाह! एक चोर दूसरा चतुर!

—सीधी तरह बात करो, माँ!

—अच्छा, तेरी यह हिममत! अब तूँ मुझे आँखें दिखाने लगी? ऊँट जितना तेरा क़द हो गया है, तुझे कोई शर्म हया है या नहीं? घर में बैठते तुझे मौत आती है? अगर तू दस घर फिर न ले तो तेरी रोटी हज़म नहीं होती? जिनके साथ तू सारा दिन...

—मैं अब दूध-पीती बच्ची नहीं, माँ।

—अरी, तू दूध-पीती बच्ची होती तो मैं तेरा गला न घोंट देती! पैदा होते ही

क्यों न मार दिया! तुझ जैसी औलाद तो परमात्मा किसी दुश्मन को भी न दे!

अब यह जंग न जाने कितनी देर तक चलेगी। बीरू के मन में आता है कि चुपचाप उठकर बाहर चला जाए। लेकिन इस अँधेरे में जाएगा कहाँ?

—ज़ुबान सँभालकर बात करो, माँ!

—कुतिया, कमीनी, बेग़ैरत, मर जा तू!

—अच्छा, बकती रह, माँ, बकती रह।

—मैं सब जानती हूँ! तुम्हारी सब करतूतों का मुझे पता है! तू मुझे ज़रा उठने तो दे, फिर देखना! तू हमारे माथे पर कलंक का टीका लगा कर ही रहेगी!

—माँ, हर बात की हद होती है!

—बेहया, तेरी आँखों में शर्म ही नहीं रही!

—माँ, अपनी इज्जत अपने हाथ होती है।

—अरी, चल! बड़ी आयी मुझे धमकियाँ देने वाली! मैंने तुझ जैसी बहुत देखी हैं! पता भी है, लोग तेरे बारे में क्या कहते हैं? लुच्ची, लफंगी!

—बकवास बन्द करो, माँ।

—बकवास!

—बकवास नहीं तो और क्या? कोई और माँ भी अपनी लड़की को ऐसी-ऐसी गन्दी गालियाँ देती है?

—कोई और लड़की तेरी जैसी कुलच्छन है?

—क्या किया है मैंने, जो मेरे पीछे पड़ गयी हो?

—क्या किया है? भला तू नहीं जानती है! तू मुझे उठ तो लेने दे! भरी गली में तेरा भंडा न फोड़ा तो मुझे कहना! तुझे गुमान किस बात का है?

—तू जो न करे, थोड़ा। तू मेरी माँ थोड़े ही है। तू तो मेरी दुश्मन है, दुश्मन!

—तू मेरी लड़की थोड़े ही है। तू तो मेरी सौत है, सौत!

—कुछ तो शर्म करो, माँ!

ऐसे तो कुत्ते भी नहीं लड़ते आपस में। उनकी तकरार सुनते-सुनते बीरू की नसें तन जाती हैं। उसे लगता है जैसे दोनों तरफ़ से उसके गालों पर तमाचे पड़ रहे हों। उसके कान जल रहे हैं और आँखों में सूइयाँ-सी चुभ रही हैं।

—लेकिन तेरी सुनेगा भी कोई? सेर आटा तक तो तुझे कोई उधार देता नहीं! मैं न होती तो भूखी मर गयी होती।

—अच्छा, अब तू ये ताने भी देने लगी! अच्छा!

उसे लगता है, जैसे उसका सिर फटा जा रहा हो। अन्दर से एक उबाल-सा उठता है। और वह चीख़कर कहता है—चुप करो!

देवी और माँ उसकी ओर यूँ देखती हैं जैसे पहले कभी न देखा हो।

वह उन दोनों की ओर बारी-बारी देखता है। उसकी आँखों से आग की लपटे निकल रही हैं। उसका जी चाहता है, नीचे पड़ा गिलास उठाकर देवी के मुँह पर दे मारे। माँ को काट खाए। अपना सिर दीवार से फोड़ डाले और ज़ोर-ज़ोर स रोने लगे। कुछ ऐसा करे कि सब उसकी तरफ़ देखते रह जाएँ। वह पागल हो गया है।

—यह कौन-सा कम है। जो दूसरे करेंगे, वही तो यह भी करेगा। माँ कहती है।

—चुप करो! वह फिर चिल्लाता है।

वह नीचे से गिलास उठाकर माँ की ओर फेंक देता है। गिलास दीवार से टकराकर बिस्तर पर आ गिरता है। काका चिल्ला उठता है।

—लुच्ची! लफंगी! वह देवी की तरफ़ मुँह करके चिल्लाता है।

देवी ज़ोर से एक चपत उसके मुँह पर मारती है। वह बजाय रोने के उसकी ओर यूँ देखता है जैसे उससे एक चपत और माँग रहा हो।

देवी चुपचाप उसकी ओर देखती रहती है।

दोनों की आँखों में से आँसू फूट रहे हैं।

माँ बिस्तर पर पड़ी हाय-हाय कर रही है।

आठ

वह दबे पाँव बाबा के पीछे पीछे चल रहा है। बाबा अपने आप में सिमटे हुए से हरएक से आँखें चुरा से रहे हैं। सिर आगे डाले हौले-हौले चल रहे हैं, जैसे कोई खोयी चीज ढूँढ़ रहे हों। बाबा इतने आहिस्ते चलते हैं कि उसके लिए पीछे रह जाना मुश्किल हो जाता है। बार बार उसे रुक जाना पड़ता है। आज वह पता लगाकर छोड़ेगा कि बाबा कहाँ जाते हैं। उसने बहराम डाकू की कहानी सुन रखी है।

जिस गली में बाबा चल रहे हैं, उसमें अनगिनत मोड़ हैं। उसका एक नाम ही टेढ़ी गली है। बाबा हर मोड़ पर पहुँचकर ठिठक जाते हैं, जैसे उनके सामने अचानक कोई दीवार खड़ी हो गयी हो। वह किसी सोच में डूबे हुए मालूम पड़ते हैं, या शायद उनके चलने का ढंग ही ऐसा है। माँ कहती है कि वह हर समय

नशे में रहते हैं। लेकिन माँ की किसी बात पर उसे विश्वास नहीं।

अगर बाबा अचानक मुड़कर उसे अपने पीछे देख लें, तो...उसका दिल थम-सा जाता है, ज़ुबान निकलकर होठों के बीच आ जाती है, और दिमाग़ पर कई अच्छे-बुरे बहाने लपक जाते हैं। कह दूँगा, असलम के घर जा रहा हूँ...मास्टरजी ने बुलाया था...मन्दिर जा रहा हूँ...देवी की सहेली के पास जा रहा हूँ। बाबा भोले बादशाह हैं। उनके सामने कोई बहाना चल सकता है।

वह एक मकान के सामने पहुँचकर रुक जाते हैं। दरवाज़ा अन्दर से बन्द दिखाई देता है। बाबा बनावटी तौर पर खाँसते हैं, फिर ऊपर की ओर देखते हैं, और फिर खाँसते हैं। फिर सिर लटकाकर यूँ खड़े हो जाते हैं जैसे मास्टर के सामने खड़े हों। दरवाज़ा खुलता है। बाबा उसी तरह सिर लटकाये अन्दर घुस जाते हैं। फिर दरवाज़ा मानो अपने आप बन्द हो जाता है। उसे बहराम के उस तहखाने की याद आ जाती है जिसमें वह एक शहज़ादी को बन्द कर रखता है। वह दौड़कर दरवाज़े के पास पहुँचता है और उसे धकेलकर वापस लौट आता है। दरवाज़ा अन्दर से बन्द कर लिया गया है। यह मकान न जाने किसका है।

गली बिल्कुल खाली पड़ी है। उस मकान के आसपास वाले सब मकान टूटे-फूटे हैं। उनमें शायद कोई नहीं रहता। जिस मकान में बाबा गये हैं, उसमें भी शायद कोई नहीं रहता। शाम की सुनहरी धूप स्याह पड़ती जा रही है। वह कभी पहले शाम को इस गली में नहीं आया है। ऊपर से कुछ आवाज़ें आ रही हैं। वह सुनने की कोशिश करता है। एड़ियाँ उठा लेता है। कान खड़े कर लेता है। आवाज़ें आपस में कुछ इस तरह उलझी हुई हैं, मानो कुछ भारी आवाज़ों वाले लोग दूर कहीं एक साथ गा रहे हो। गाने की धुन कुछ अजीब-सी है। वह अब वहीं खड़ा रहे या घर लौट जाए? खड़े रहने से क्या फ़ायदा? दरवाज़ा तो बन्द हो गया है। लेकिन जाने की भी क्या जल्दी है? हो सकता है अभी बाबा फिर नीचे उतरें। उनके साथ ही घर जाऊँगा। अकेले रास्ते में डर भी लगेगा। उसके चेहरे पर परेशानी की रेखाएँ खिंचने लगती हैं।

अँधेरे ने बढ़कर शाम के मुँह पर स्याही का एक हल्का-सा लेप कर दिया है।

वह दीवार के सहारे खड़ा हो जाता है। अगर किसी ने पूछ लिया, यहाँ क्यों खड़े हो तो उसे कुछ कहना पड़ेगा। वह दीवार की तरफ़ मुँह मोड़कर खड़ा हो जाता है और नाख़ूनों से मिट्टी कुरेदने लगता है। जब वह छोटा था तो उसे मिट्टी खाने की आदत थी। माँ उसे बाज़ार भेजकर मिट्टी मँगवाया करती थी। ...मिट्टी नहीं खाते, पेट में लम्बे-लम्बे कीड़े पैदा हो जाते हैं...

एक दिन माँ ने एक दूकान से मिट्टी चुरायी थी। दूकानदार ने देख लिया था।

माँ रोने लगी थी। तब माँ की उमर दस साल की रही होगी। दस की नहीं तो पन्द्रह की रही होगी। दस और पन्द्रह का फ़र्क़ माँ की नज़र में बहुत कम है।

उसके नाख़ून मिट्टी से भर जाते हैं। अब वह मिट्टी नहीं खाता। अब तो माँ भी नहीं खाती। या शायद वह अब भी खाती हो, छुपकर खाती हो।

क़दमों की आहट पाते ही वह उछलकर सीधा खड़ा हो जाता है।

—यह मकान किसका है? वह पास से गुज़र रहे एक बूढ़े से आदमी से पूछता है।

—मेरे बाप का! वह आदमी बग़ैर उसकी ओर देखे जवाब देता है।

वह एक दो क़दम दबे पाँव उस आदमी के पीछे चलता है। फिर मुड़ जाता है। यह आदमी भी माँ का ही कोई भाईबन्द नज़र आता है। वह फिर दीवार खुरचने लगता है। ऊपर से आवाज़ें अब भी आ रही हैं। अब पहले से कुछ ज़्यादा साफ़ हैं, लेकिन इतनी साफ़ नहीं कि वह सुन सके।

अँधेरा कुछ और गहरा हो गया है। उसे लगता है जैसे वह कई घंटों से वहाँ खड़ा हो। वह एक क्षण के लिए यह भी भूल जाता है कि वहाँ किस लिए खड़ा है। और उस क्षण की घबराहट उसकी टाँगों को तोड़ रही थकन और कमज़ोरी के साथ मिलकर एक भारी उद्देश्यहीनता का रूप धारण कर लेती है। वह बैठ जाता है। और एक तिनका उठाकर चबाने लगता है। उसने सुबह सिर्फ़ दो रोटियाँ खायी थीं। उसे तेज़ भूख लग आती है। उसे यूँ महसूस होता है जैसे कोई उसकी छाती को भीतर से दो भिन्न दिशाओं में खींच रहा हो।

बाबा न जाने कब निकलेंगे। मुझे भूख लगी है और वह अन्दर बैठे हँस रहे हैं। उसकी झल्लाहट बढ़ती जा रही है, जैसे बाबा स्वयं उसे वहाँ बिठाकर गये हों और अन्दर जाकर उसे बिल्कुल भूल गये हों। ऊपर के चौबारे की खिड़की खुलती है। हँसी का एक थपेड़ा सामने की दीवार पर पड़ता है और रोशनी का एक काँपता हुआ टुकड़ा गली के अँधेरे पर एक पीले फाहे की भाँति चिपक जाता है।

वह उचककर खड़ा हो जाता है और खिड़की में से आ रही आवाज़ों में से बाबा की आवाज़ छाँट लेता है।

—अरे यारो, कुछ मुझे भी दो न!

वह एड़ियाँ उठाकर सुनने लगता है। कमरे में फिर ख़ामोशी छा जाती है। गली के अँधेरे पर चिपका हुआ रोशनी का फाहा स्थिर हो जाता है। उसे लगता है कि उसके नंगे पाँव तले कीड़ियाँ रेंग रही हैं। वह पूरे ज़ोर से चिल्लाने लगता है—*बाबाजी! बाबाजी! बाबाजी! फिर वह दरवाज़ा खटखटाने लगता है।*

दरवाज़ा खुलता है।

—कौन हो तुम? क्या बात है?

और वह किसी को धकेलकर अन्धाधुन्ध सीढ़ियाँ चढ़ने लगता है, जैसे वह पहले भी कई बार अँधेरे में उन सीढ़ियों पर चढ़ चुका हो।

एक अन्धे लैम्प की गन्दी रोशनी में बैठे लोगों की आँखें उसकी ओर उठ जाती हैं। वह सीढ़ियों में ही ठिठक जाता है। वह कमरे को इस तरह टटोल रहा है जैसे कोई काँपती हुई अँगुलियों से किसी गठरी को खोलने की कोशिश कर रहा हो। उसकी टाँगे सुन्न होती जा रही हैं।

ख़ामोशी फूलती जा रही है। कुछ ही देर में सारा कमरा एक फूले हुए गुब्बारे-सा दिखाई देने लगता है।

गुब्बारा फट जाता है और एक खड़खड़ाता हुआ क़हक़हा कमरे की चारदीवारी में गेंद की भाँति भटकने लगता है।

वह दहलीज़ छोड़कर आगे बढ़ता है।

—तू यहाँ कैसे चला आया, बीरू?

—तो यह शहज़ादे साहब तुम्हारे हैं?

वह उस आदमी की ओर देखता है जिसने उसे बीरू से शहज़ादा बना दिया है।

—जी हाँ। आपको कोई एतराज़ है? बाबा हाथ में पकड़े हुए गिलास में से एक चुस्की लेकर कहते हैं।

—एतराज़ हमें क्या होगा जब उसे नहीं जिसे होना चाहिए!

इस पर कुछ लोग हँस उठते हैं। बीरू बग़लें झाँकने लगता है। उसे बात समझ में नहीं आती। उसकी आँखों में शायद इन लोगों में से किसी ने नमक झोंक दिया है। उसका जी चाहता है कि आँखों को मसल-मसलकर सारा नमक बाहर निकाल दे। लेकिन मसलने से खुजली और तेज़ हो जाती है।

वह आँखें मसलना बन्द कर देता है। लेकिन उसकी आँखों से पानी अब भी बह रहा है। उसे पता नहीं लगता कि उसने कब और क्यों रोना बन्द कर दिया है। इतने लोगों के सामने रोने में उसे शर्म आती है। वह दीवार की ओर मुँह मोड़कर खड़ा हो जाता है। दीवार पर पेन्सिल से कुछ लिखा हुआ है। वह उसे पढ़ने की कोशिश करता है।

—बैठो यार, अभी कहाँ जाते हो!

—मैं इसे घर छोड़कर फिर आ जाऊँगा।

—यह खुद चला जाएगा। तुम एक बार घर जाकर फिर वहाँ से नहीं लौटोगे, हम जानते हैं। क्यों शहज़ादे, तुम अकेले घर नहीं जा सकते?

वह मुड़कर बाबा की ओर देखता है और 'ना' में सिर हिला देता है। बाबा हाथ के इशारे से उसे अपने पास बुला लेते हैं।

—वहीं अपने पास बिठा लो ना, पैसों से खेलता रहेगा।

बाबा एक हाथ उसकी पीठ पर रख देते हैं और दूसरे से अपना गिलास उठाकर उसे मुँह से लगा पेशाबी रंग के पीले पानी को गट गट पी जाते हैं। कुछ क़तरे उनकी पीली, घास जैसी मूँछों से लटक जाते हैं और उनका चेहरा कसकर एक मुक्के की शक्ल ले लेता है।

—बाँटूँ पत्ते?

—हाँ।

बाबा के चेहरे का मुक्का आहिस्ते-आहिस्ते खुलने लगता है और उसकी पीठ पर पड़ा बाबा का हाथ भारी हो जाता है, मानो बाबा कोई बोझ उसके कन्धों पर डालकर भूल गये हों। उसके सामने पैसों का बड़ा-सा ढेर लगा हुआ है और उनके पाँवों के नीचे नोटों की एक गड्डी दबी पड़ी है। एक झपट्टा मारकर अगर वह वे सारे नोट ले ले और भाग जाए और जाकर माँ के ऊपर उन नोटों की वर्षा कर दे, तो...तो माँ हँस पड़े। उसके सारे दुख दूर हो जाएँ। वह कहने लगे, बेटा, तुमको ही मुझे सुख देना था, सो दे दिया। अब जा, जाके खेल-कूद। और जब रात को घर लौटे, तो माँ छम-छम करती उठे और खाने की जो थाली बाबा के सामने रखी जाए, उसमें इतनी चीज़ें पड़ी हों कि प्याज़ तक रखने की जगह न हो।

—पैसे लोगे?

बाबा मुट्ठी भर रेज़गारी उसकी जेब में डाल देते हैं। जेब पैसों के बोझ से लटक जाती है और वह माँ को भूल जाता है।

—मेरा गिलास खाली पड़ा है, यारो!

बाबा घर में भी अगर इसी तरह बात किया करें तो घर की सारी हवा ही बदल जाए। लेकिन घर में या तो वह बैठते ही नहीं, और अगर बैठें तो सरकारी काग़ज़ों पर झुके रहते हैं या फिर माँ को बुरा-भला कहते रहते हैं।

उनके हाथ में तीन पत्ते हैं। वह अपने पास पड़े पैसों के ढेर में से पैसे उठाकर फेंकते जाते हैं। ढेर घटता जाता है। आख़िर बिल्कुल ख़त्म हो जाता है। उनका हाथ अब बीरू की जेब की ओर बढ़ता है। उनकी आँखें अपने पत्तों पर जमी हुई हैं। बीरू अपने जेब को दबोच लेता है तो वह उसके हाथ को झटककर उसकी जेब में से सारे पैसे निकालकर बीच में फेंक देते हैं और कहते हैं, दिखाओ।

उसके सामने बैठा आदमी पत्ते खोल देता है और बीच में पड़े सारे पैसे समेटकर उठाने लगता है। बाबा अपने पत्ते फेंककर गिलास उठाकर मुँह से लगा लेते हैं और उनका मुँह फिर कसे हुए मुक्के-सा दिखाई देने लगता है।

उसकी पीठ पर पड़ा उनका हाथ फिर पत्थर बन जाता है।

एक क्षण के लिए उसे यों महसूस होता है, बाबा सब खाया-पिया उगल देंगे।

—घर जाऊँगा।

—अभी चलेंगे, बेटा।

—अभी चलो न।

—थोड़ी देर और बैठो। अभी चलेंगे।

—माँ...

—बस, अब चुप करके बैठे रहो!

खेल फिर शुरू हो जाता है। पत्ते बाँट दिये जाते हैं। बाबा अपने पाँवों के नीचे से नोट निकालकर बीच में फेंकते जाते हैं। बीरू उनकी ओर चिन्ता भरी नज़रों मे देखता रहता है। कुछ ही देर में उसकी आँखों में चिन्ता का स्थान नींद ले लेती है। उसे सब चेहरे धुँधलाते हुए-से दिखाई देने लगते हैं।

कमरे में एक अजीब ख़ामोशी साँय-साँय करने लगी है। कुछ क्षण पहले की हँसी कसे हुए होठों में गुम हो गयी है। सभी लोग बीच में पड़े हुए नोटों को घूर रहे हैं, मानो उन्हें अपनी ओर खींचने की कोशिश कर रहे हों।

वह एक-एक करके सबको ओर देखता है। सब चेहरों को कुछ देर के लिए पहचानने की कोशिश करता है। सोचता है, इसे पहले कहाँ देखा है? सोचता है, इस कमरे का मालिक कौन है? कमरे में सिवाय एक दरी के, जिस पर वे सब बैठे हुए हैं और एक लैम्प के और कुछ भी नहीं है। ऐसे कमरे का मालिक कोई भी नहीं हो सकता, या कोई हो भी सकता है। दीवारें जगह-जगह से फटी हुई हैं, जैसे बाबा के जूते, जिनमें से दो-तीन अँगुलियाँ बाहर निकली रहती हैं, मानो वे उनकी अपनी न हों। दीवारों पर जगह-जगह धब्बे-से लगे हुए हैं।

—तुम तो हमेशा इसे अपने पास बिठाया करो।

बाबा नोट समेट रहे हैं। इतने नोट हैं कि अगर माँ को मिल जाएँ तो वह खुशी के मारे पागल हो जाए। ये सब बाबा ने ले लिये हैं। बाक़ी लोग क्या करेंगे? अगर वे सब मिलकर बाबा से छीन लें? बाबा को चाहिए कि ये सब मेरी जेब में ठूँसकर एक ऐसी फूँक मारें कि मैं उड़कर माँ के पास पहुँच जाऊँ। फिर बाबा ख़ुद घर आएँ न आएँ। माँ को तो पैसों से मतलब है।

—अच्छा, अब मैं चलता हूँ।

–यह कौन-सा क़ायदा है, जनाब? एक हाथ अच्छा पड़ा और जनाब उठकर चल दिये! बैठो, अभी जल्दी कौन-सी है। इसे कुछ खाने को दे दो। पकौड़े पड़े होंगे।

—इसे नींद आ रही है।

—नींद आ रही है तो सो जाए। घर में कौन-सा मखमल का बिछौना मिलेगा इसे! अपनी गोद में इसका सिर डाल लो और इसे कहो सो जाए।

—सो गया तो इसे उठाकर कौन ले जाएगा?

—तुम! और कौन?

—मैं? अरे यारो, हवा का एक झोंका लगा नहीं कि रहा-सहा होश भी ग़ायब। अच्छा, आओ, दो-तीन हाथ और खेल लेते हैं, नहीं तो तुम सारी उमर गालियाँ बकोगे।

बाबा उसकी जेब में फिर कुछ पैसे डाल देते हैं। खेल फिर शुरू हो जाता है।

सब गिलास खाली पड़े हैं। दीवारों पर लगे पीक के धब्बे जैसे रेंग रहे हैं और छत की कड़ियों से लटक रहे जाले फैलते हुए खेमों-से लग रहे हैं। लैम्प क़रीब-क़रीब बुझ गया है। फ़र्श पर बिछी दरी के चारों कोने उड़कर आपस में मिल जाते हैं। और वहाँ बैठे लोगों की एक गठरी-सी बँध जाती है। सिर्फ़ वह बाहर रह जाता है। दीवारों में पड़ी दरारें चलती लक़ीरों-सी नज़र आने लगती हैं। कहीं-कहीं ये लकीरें आपस में यूँ उलझ गयी हैं कि उन्हें सुलझाते-सुलझाते वह स्वयं उनमें उलझकर रह जाता है, मानो वह भी एक टेढ़ी-सी लकीर हो। फिर तेज़ी से वे सब अपनी जगह पर लौट आते हैं। गठरी खुल जाती है। वे अपनी-अपनी जगह पर बैठे हैं। और लकीरें एक-दूसरे से अलग हो गयी हैं। लैम्प से धुआँ निकल रहा है। हमारे घरवाले लैम्प में से भी इसी तरह धुआँ निकलता है। माँ को साफ़ करना भी नहीं आता। कई बार तो ऐसे ही साफ़ करते-करते तोड़ चुकी है। माँ कहती है, तेल में मिट्टी मिली रहती है, इसीलिए लैम्प से धुआँ निकलता है। आज तो घर में तेल था ही नहीं। लैम्प क्या खाक जला होगा। माँ दरवाज़े में बैठी हर आते-जाते से पूछ रही होगी—कहीं तुमने मेरे बीरू को देखा है?

माँ का ध्यान आते ही उसकी नींद उड़ जाती है।

—बाबा, अब चलो न।

—अभी चलते हैं, बेटा।

घर में तो कभी बाबा ने उसे बेटा कहकर नहीं बुलाया। हर वक़्त उनका पारा चढ़ा ही रहता है। और यहाँ तो ऐसा मीठा बोल रहे हैं कि...

—अरे यार, मैं कहता हूँ, इस लड़के को कहीं सुला दो न!

—तुम अपनी चाल चलो। लड़का तुम्हें तो कुछ कहता नहीं।

—लड़का तो कुछ नहीं कहता, लेकिन लड़के के बाप की हालत ख़राब नज़र आती है!

वह सिर को झटककर आँखें खोलता है। बाबा के पाँवों तले अब एक नोट भी नहीं और उनका चेहरा लटका हुआ है, ऐसे कि ठुड्डी अभी टूटकर नीचे गिर पड़ेगी। जब उनका चेहरा ऐसे लटक जाए तो समझो कोई आफ़त आने वाली है।

वह सहमकर अपनी साँस रोक लेता है। अब बाबा सारी रात भी बैठे रहें तो वह उन्हें कुछ नहीं कहेगा। चलें या न चलें। जब मर्ज़ी हो चलें। अब अगर कुछ कहा तो उनकी चपत और मेरे गाल। और बाबा का हाथ बहुत भारी है। एक गाल में एक चपत काफ़ी है। मास्टर की दस और बाबा की एक। न बाबा! वह चुपचाप सँभलकर बैठ जाता है।

—पासा पलट गया है।

—हाँ।

—एक-दो हाथ और?

—बस, अब और क्या रह गया है?

—यह लो पाँच रुपये और बाँटो पत्ते।

बाबा का हाथ फुर्ती से चलता है, बिल्कुल वैसे ही, जैसे माँ की ज़ुबान। उनका हाथ अब भी उसकी पीठ पर पड़ा है। पत्ते न जाने एक हाथ से वह कैसे बाँट लेते हैं! वह उनका हाथ उठाकर नीचे रख देना चाहता है। बाबा ज़रूर उसे वहाँ रखकर भूल गये हैं। उसकी कमर दर्द करने लगी है। हाथ एक जगह पर रखे रहने के बजाय अगर वह उसकी पीठ सहलाने लगें, तो उसका दर्द भी कम हो। बाबा हाथ उठा लेते हैं और कमर सीधी करके बैठ जाते हैं।

लैम्प की चिमनी बिल्कुल काली हो गयी है। अब तो पत्ते साफ़ नज़र नहीं आते।

—जल्दी-जल्दी चाल चलो, तेल ख़त्म हो रहा है।

—हाँ, यह लो।

—यह लो।

—अच्छा, एक चाल और सही।

—खुल जाओ।

—ले जाओ।

—मुझे भूख लगी है, बाबा।

—बस, अब चलते हैं।

वह एक अँगड़ाई लेता है। उसके माथे पर शिकनों का जो जाल-सा बना हुआ है, उसे देखकर लगता है जैसे वह यहाँ बैठे लोगों का दादा हो। उसकी आँखों में असीम थकन उतर आयी है। वह बाबा और उनके साथियों को एक बार ऐसी नज़र से देख जाता है, जैसे वह उन सबको गाली दे रहा हो।

—अब तो चलो, बाबा।

—हाँ, अब चलना ही चाहिए।

—अब तो सभी चल रहे हैं।

—नहीं, यार, थोड़ा और बैठो।

—अच्छा।

—अच्छा।

—अच्छा।

बाबा घुटनों पर हाथ रखकर उठ खड़े होते हैं। जूते पहनते-पहनते लड़खड़ाकर गिरने लगते हैं। उसका कन्धा और दूसरे लोगों की हँसी उन्हें थाम लेती है। लेकिन उनके पाँव जूते में पड़ने के बजाय इधर-उधर पड़ते हैं।

—क्यों, आज इतनी कैसे चढ़ गयी?

—इसके तो बिक गये दाने अब।

—बस?

—नहीं तो और क्या?

—देखो तो, कैसे झूम रहा है!

—चुप करो, हरामियो!

बाबा नीचे बैठकर जूते पहनने लगते हैं। वह उनकी काँपती अँगुलियों की ओर देख रहा है। बाक़ी सब लोग हँस रहे हैं।

नीचे से किसी के दरवाज़ा खटखटाने की आवाज़ आती है। बाबा खट से खड़े हो जाते हैं। बाक़ी लोग एक साथ कुछ-न-कुछ बुड़बुड़ाते हैं। बाबा चुप हैं।

—कौन है?

—खोलो दरवाज़ा, अभी बताती हूँ, कौन है!

—कौन है?

सब बाबा की ओर देखते हैं।

—आप ही की सरकार हैं! खोलिए जाकर दरवाज़ा!

बीरू ने माँ की आवाज़ पहचान ली है। लेकिन माँ को कैसे पता लगा कि वह यहाँ है? वह बाबा का हाथ पकड़कर उन्हें सीढ़ियों की ओर घसीटने लगता है। बाबा हाथ छुड़ाकर खिड़की की ओर बढ़ते हैं। बाहर झाँककर चिल्लाते हैं—चली जाओ चुपचाप, नहीं तो हड्डी-पसली एक कर दूँगा!

—*नहीं जाती! आज मैंने सबको तमाशा न दिखाया तो मेरा नाम बदल देना!* नीचे से माँ की आवाज़ आती है।

—माँ, मैं भी यहीं हूँ। तुम चलो, मैं बाबा को लेकर घर आता हूँ।

—अच्छा, तो तुम भी यहीं हो! नीचे आओ तो मैं तुम्हारी ख़बर लेती हूँ! *जैसा बाप, वैसा बेटा! खोलो दरवाज़ा, नहीं तो मैं तोड़कर रख दूँगी!*

—अरे बाबा, खोल दो, नहीं तो सारा शहर इकट्ठा हो जाएगा।

अँधेरे में माँ की शक्ल दिखाई नहीं देती। बाबा अपना सिर अन्दर कर लेते

हैं। लैम्प की लौ भी जैसे माँ के डर से काँप रही हो। माँ हवा के घोड़े पर सवार है और उसकी कर्कश आवाज़ अँधेरे की तहों को चीरती हुई फिर ऊपर आती है। अगर माँ किसी तरह अन्दर आ गयी तो क्या होगा? बाबा की आँखें ख़ून बरसा रही हैं। बाक़ी लोग यों दम साधे खड़े हैं जैसे चारों तरफ़ से घिर गये हों।

कुछ क्षण बीत जाते हैं। नीचे दरवाज़े पर माँ ईंटें मार रही है। कभी-कभी दरवाज़े की साँकल इस तरह खनक उठती है, मानो किसी ने माँ की पगली खीझ को ज़ुबान दे दी हो।

—भई, अब क्या करें? हमे तो देर हो रही है।

—भई, जल्दी भागो यहाँ से। कहीं ऐसा न हो कि हमारी सरकारें भी मौक़े पर पहुँच जाएँ।

—अजी, कोई मज़ाक है!

—हमने इस तरह सिर पे नहीं चढ़ा रखा है अपनी बीवी को!

—टाँगे तोड़कर रख दें!

लेकिन सब आवाज़ें कुछ ऐसी दबी घुटी हैं जैसे वे सबके सब न केवल डरपोक हैं, बल्कि बेईमान भी।

बाबा पर इन सब तानों का प्रभाव पड़ता है। वह धम-धम करते नीचे उतर आते हैं। बीरू खिड़की से सिर निकालकर नीचे की ओर देखने लगता है। कुछ दिखाई नहीं देता। जहाँ माँ खड़ी है, वहाँ अँधेरा और गहरा हो गया है। दरवाज़ा खुलने की आवाज़ आती है और साथ ही पटाख-पटाख की आवाज़ें। बाबा माँ की टाँगें तोड़ने की कोशिश कर रहे हैं। दो-तीन सिर और खिड़की से बाहर झाँकने लगते हैं। माँ रो रही है और उसकी आवाज़ अँधेरे के सीने पर मोटी-मोटी लकीरें खींचती हुई ऊपर की ओर आ रही है। बाबा दबी आवाज़ में उसे चुप हो जाने के लिए कह रहे हैं। लगता है, कई साँप एक साथ फुंकार उठे हों।

एक क्षण के लिए वह भूल जाता है कि वह कहाँ खड़ा है। उसे लगता है, जैसे यह दंगल उसके अपने घर में ही हो रहा हो और ये चोटें उसकी अपनी पीठ पर ही पड़ रही हों।

अँधेरे में एक-दूसरे से उलझी हुई दो क्रुद्ध आवाज़ें, मानो दो काली बिल्लियाँ गुर्रा रही हों।

—चली जाओ चुपचाप वापस घर!

—नहीं जाती!

—मैं कहता हूँ, मैं मार डालूँगा यहीं!

—मार डालो! आज मैं तुम्हारे सिर चढ़कर मरूँगी!

माँ की आवाज़ में अब वह गीलापन नहीं जो कुछ देर पहले था। अब उसमें

एक बिस्कुटी रूखापन आ गया है। वह भी मुक़ाबले पर डट गयी है। मास्टर ने चाँद बीबी की कहानी सुनायी थी। माँ का ग़ुस्सा चाँद बीबी की बहादुरी से कम नहीं। पिटती रहेगी, लेकिन टस से मस नहीं होगी। और बाबा तो राक्षस हैं। पीटने लगेंगे तो सबकुछ भूल जाएँगे। हे भगवान, तू माँ को बचा ले!

—अरे बीरू के बच्चे! नीचे जाकर माँ को छुड़ा! तुम्हारा बाप तो बिल्कुल वहशी है। उसे जान से ही मार डालेगा।

बीरू की माँ को आप नहीं जानते। वह इस तरह आसानी से मरने वाली नहीं! वह चाँद बीबी का अवतार है। ...बीरू खिड़की से सिर हटा लेता है। कमरे में उसके अलावा सिर्फ़ एक आदमी और है। बाक़ी लोग न जाने कहाँ जा छुपे हैं। शायद खिसक गये हैं। उस आदमी की शक्ल बहुत डरावनी है। देव-सा नज़र आता है। उसकी ओर यों देख रहा है जैसे सारा क़सूर उसी का हो। यह भी चला जाए, तो वह चुपचाप अन्दर से दरवाज़ा बन्द कर ले। फिर बाबा और माँ भले ही सारी रात बाहर कुश्ती लड़ते रहें।

—मैं कह रहा हूँ, नीचे चलो। मुझे भी तो घर जाना है। चल नीचे! मुझे दरवाज़ा बन्द करना है। चल!

लेकिन वह नीचे जाने को तैयार नहीं।

—चल, मैं तेरी हड्डी-पसली एक करती हूँ!

माँ ऊपर कमरे में कैसे आ गयी? उसे लगता है जैसे अँधेरे में वही डरावना-सा आदमी माँ बन गया हो। एक माँ नीचे बाबा के हाथों पिट रही है और एक ऊपर उसे पीट रही है। वह चिल्लाने के लिए पूरा ज़ोर लगाता है, लेकिन मुँह से आवाज़ नहीं निकलती।

—मैं तेरे लिए सारे शहर में टक्करें मारती फिरूँ, बाहर खेतों में आवाज़ें लगाती फिरूँ, और तू यहाँ बैठा शराबियों के संग मौज उड़ाता फिरे! तू आज चल तो घर! हाय लोगो, मैं समझती थी यह बड़ा होकर...अच्छा...अब तू चलेगा कि नहीं यहाँ से?

माँ बाबा का सारा ग़ुस्सा उसके ऊपर निकालेगी। लड़ते आपस में हैं और पिसता बीच में मैं रहता हूँ।

—माँ, मैं तो बाबा को बुलाने आया था।

—मैं सब जानती हूँ! बुलाने आया था। आधी रात हो गयी है!

—माँ, मेरी बाँहें...

—तू देख तो सही, आज मैं तेरी क्या गत बनाती हूँ!

—भई, अब तुम लोग अपने घर जाकर लड़ो, मुझे क्यों तंग करते हो। मुझे भी तो घर जाना है। अगर...

—चुप रहो जी! नहीं तो अभी वह शोर मचाऊँगी कि तुम्हारी सारी अगर-मगर निकल जाएगी!

—अच्छा-अच्छा, अब मुझ पर रौब झाड़ने की कोई ज़रूरत नहीं। तुम्हारा डर होगा तुम्हारे घरवालों को, मुझे नहीं। मैं किसी के बाप के घर का नहीं खाता!

—जा रे जा! बड़ा आया! बदमाशी का अड्डा खोल रखा है शरीफ़ आदमियों को ख़राब करने के लिए और ऊपर से आँखें दिखाता है?

बीरू खुश है कि माँ का ध्यान उससे हटकर उस टेढ़े-मेढ़े आदमी की ओर चला गया है। अगर माँ का सारा ध्यान उसी पर लग जाए तो मेरी खलासी हो सकती है। लेकिन बाबा कहाँ हैं?

नीचे से कोई आवाज़ नहीं आती है। बाबा ज़रूर कहीं नाली में बेसुध पड़े होंगे। मास्टर ने एक बार एक शराबी की कहानी सुनायी थी, जिसके मुँह में कुत्ते ने पेशाब कर दिया था। लेकिन इस वक़्त तो कुत्ते भी सो गये होंगे। वह चुपके से माँ का हाथ पकड़कर सीढ़ियों की ओर खींचने लगता है। नीचे जाकर देखना चाहिए कि बाबा कहाँ पड़े हैं।

माँ का ग़ुस्सा शायद कुछ ठंडा पड़ रहा है।

बाबा गली में औंधे मुँह पड़े हैं।

—माँ, बाबा को उठा...

—पड़ा रहने दे। जब होश आएगा तो अपने आप चले आएँगे।

—नहीं, माँ।

—मैं कह रही हूँ, तू चल चुपचाप!

उसे माँ की क्रूरता पर आश्चर्य होता है। बाबा सारी रात सर्दी में यहाँ गली में पड़े रहेंगे! नहीं। वह अपना हाथ छुड़ाकर बाबा के पास दौड़ जाता है और कहता है—बाबा उठो! माँ...माँ...

—चल, मादर...बाबा के मुँह से यह गन्दी गाली सुनकर मानो उसकी सहानुभूति ख़त्म हो जाती है और वह दौड़कर फिर माँ के पास चला जाता है।

—मैं न कहती थी! माँ कहती है।

वह माँ का हाथ पकड़कर दूसरी ओर खींचने लगता है।

बाबा फिर उठ रहे हैं। माँ की गर्दन काफ़ी देर तक बाबा की ओर मुड़ी रहती है।

घर पहुँचने तक माँ उससे कोई बात नहीं करती। धीरे-धीरे अपने आप ही बुड़बुड़ाती रहती है...

—बीरू, तू कहाँ चला गया था? देवी उन्हें ड्योढ़ी के दरवाज़े पर खड़ी मिलती है।

—तेरे सिर में! ख़बरदार, जो मेरे लड़के को हाथ लगाया!

—बीरू अन्दाज़ा लगा लेता है कि माँ और देवी में अभी-अभी कोई झड़प हुई होगी।

लेकिन आज बाबा ने उसे वैसी गाली क्यों दी, यही सोचते-सोचते उसकी आँख लग जाती है। और सारी रात वह नींद में बुड़बुड़ाता रहता है।

नौ

माँ के पास लम्बे दाँतों वाली जलालपुरनी बैठी है। दादी के चले जाने के बाद इन दोनों में फिर सुलह हो गयी है। फिर कई बार लड़ाई भी हुई है। आजकल फिर सुलह है। जलालपुरनी की पतली धोती में से उसकी टाँगें साफ़ नज़र आ रही हैं। बीरू को जलालपुरनी एक आँख नहीं भाती। आजकल वह हर समय देवी के खिलाफ़ माँ के कान भरती रहती है।

—बहन, लड़कियाँ हर किसी के घर होती हैं। तेरी लड़की, सो मेरी लड़की। मुझे उससे कोई बैर नहीं है। है कि नहीं?

—क्यों नहीं, बहन मेरी। तू जो कहती है, सोलह आने ठीक है।

—लेकिन लोगों का मुँह नहीं पकड़ा जाता, बहन। है कि नहीं?

—तुम बिल्कुल सच कहती हो।

—मेरी मानो तो जल्दी से जल्दी, जैसे भी हो, कोई लड़का ढूँढ़कर इसे ठिकाने लगा दो। नहीं तो मैं कह रही हूँ कि बात बढ़ जाएगी और फिर उसकी क़िस्मत! कहो, मैं ग़लत कह रही हूँ?

—हाय, मैं भी तो यही चाहती हूँ। कोई मिले भी तो!

—तू बहुत भोली है, बहन। तू नहीं जानती कि क्या हो रहा है। सिर से पानी निकल गया तो कहीं की न रहेगी। चादर को एक बार दाग़ लग गया तो किसी को मुँह दिखाने...

—हाय बहन, तू ही बता, मैं करूँ तो क्या? मेरी कोई सुने भी!

—बता तो रही हूँ, इसका बन्दोबस्त कर दो, नहीं तो लड़की हाथ से निकल जाएगी। इसके रंग मुझे अच्छे नहीं नज़र आते।

—कहाँ करूँ, कैसे करूँ? बात बिरादरी से दूर मेरी न कोई जान, न पहचान। मैं तो, बहन, बूढ़ी हो गयी इसी चिन्ता में।

—क्या बताऊँ, बहन। लोग तो ऐसी-ऐसी बातें कर रहे हैं कि तू सुने तो हैरान रह जाए।

—तू ठीक कहती है, बहन, लेकिन...

—जवान-जहान लड़की है। आख़िर कब तक दर-दर घूमती रहेगी? या तो घर में बैठकर काम-काज देखे, या...

—हाय, मैं तो कह-कहकर हार गयी!

—औलाद को जब तक माँ-बाप का डर रहता है, सब ठीक चलता है। लेकिन एक बार डर निकल गया तो फिर तुम कौन और मैं कौन? और बहन, बुरा मत बनाना, तेरी लड़की की आँखों में अब शरम तो रही नहीं। है कि नहीं?

—है, बहन, है। तू ग़लत थोड़े कहेगी।

—तेरी लड़की इतनी नदीदी हो गयी है, इतनी नदीदी हो गयी है कि परमात्मा बचाए! है कि नहीं?

—बिल्कुल सच है।

—तो, बहन, फिर इसे क़ाबू में रखना तुम्हारा काम है। नहीं तो मेरी बात दिल में रख ले..

—क्या करूँ? मैं तो लड़ती हूँ, झगड़ती हूँ, गालियाँ देती हूँ, मारती-पीटती हूँ। और मैं क्या करूँ, तू ही बता? वह इतनी ढीठ हो गयी है कि उस पर किसी बात का असर ही नहीं होता। अब वह बड़ी हो गयी है। हर रोज़ उस पर हाथ उठाना भी तो अच्छा नहीं लगता। वह मुझे माँ तो समझती ही नहीं। समझती है...

—मैं तो यह जानती हूँ कि अगर वह बदनाम हो गयी तो बहुत बुरा होगा। जमाना कितना ख़राब है, तुम्हें बताने की ज़रूरत नहीं। तू कोई बच्ची तो है नहीं। सबकुछ जानती-बूझती है।

—जानती क्यों नहीं। मुझे कौन सिखाएगा? मैं तो ख़ुद दस को सिखाऊँ। लेकिन मेरी कोई सुने भी!

—दुनिया में बुरे-भले सभी क़िस्म के लोग हैं।

—क्यों नहीं, क्यों नहीं!

—जब मैं तुझसे कहती हूँ कि जवान लड़की का क़ायदा है घर में रहे, न कि सारा दिन लोगों के घरों में बैठी ही-ही करती रहे!

—उसके पाँव तो घर में टिकते ही नहीं। क्या करूँ?

—अब मेरी भी तो लड़कियाँ हैं। है कि नहीं? एक छोड़ पाँच हैं। मजाल है जो बिना पूछे घर से क़दम भी बाहर रखें। मजाल है जो किसी की तरफ़ आँख

उठाकर भी देखें! मजाल है जो उनकी आवाज़ भी कभी ऊँची हो! ज़बान न खींच लूँ। जी-जी के अलावा कोई बात मुँह से नहीं निकलती। कहूँ, सारी रात एक टाँग पर खड़ी रहो, तो एक टाँग पर खड़ी रहेंगी। चूँ तक नहीं करेंगी।

—तेरी तो, बहन बात ही दूसरी है। तेरा-मेरा मुक़ाबला ही क्या है। तेरा घरवाला कितना अच्छा है! सारी बात घरवाले की है। अगर वह अच्छा हो, तो औलाद भी अच्छी, नहीं तो ज़िन्दगी कौड़ियों के मोल जाती है। मैं तो बस यही जानती हूँ।

—कितने लोग दूकान से रोटी-बोटी लेने आते हैं। मजाल है जो मेरी कोई लड़की उनके सामने आ जाए।

—बहन, मैं तो कह रही हूँ न, जिसका घरवाला अच्छा, उसका बेड़ा पार है, और जिसका घरवाला ख़राब, उसका बेड़ा ग़र्क।

—और तो और, मैंने तो यहाँ तक दबाकर रखा है, बहन, कि सूरज डूबते ही दरवाज़ा अन्दर से बन्द और उसके बाद अगर कोई हमारा दरवाज़ा खटखटाए तो कोई लड़की उठकर दरवाज़ा नहीं खोल सकती। पता नहीं, कौन हो। खोलूँ तो मैं खोलूँ। उनकी तो यह हिम्मत भी नहीं कि उठकर यह भी पूछ लें कि कौन है। चाहे बाहर उनका बाप ही क्यों न खड़ा हो।

—तेरी जैसी आज्ञाकारी औलाद भगवान सबको दे! हाय, मेरी तो क़िस्मत ही ख़राब है!

—मैं कहती हूँ, बहन, बिम्बो अभी क्या है? अभी पाँचवाँ नहीं लगा उसे। मैंने अभी से लड़कों के संग खेलने से मना कर दिया है उसे।

—हाय, मेरा घरवाला भी अच्छा होता तो मुझे किस बात की चिन्ता थी!

—अब एक दिन तेरे बीरू के साथ खेल रही थी बिम्बो। मैंने देखा तो उसी वक़्त उसे घर बुला लिया। अब बीरू बेचारा सात लड़कियों जैसा एक लड़का है। जैसा तेरा, वैसा मेरा। लेकिन, बहन, बुरा न मानना। आजकल सगे भाइयों का भी कोई एतबार नहीं। है कि नहीं?

—मैंने तो अपनी जवानी घुला दी। मैं तो खोखली हो गयी। मैं रो...

माँ रोने पर तुली हुई है। जान-बूझकर मुँह को बिगाड़ रही है। ऐसी बातें कर रही है कि अपने आप रोना आ जाए। माँ रोने में बच्चों से भी बढ़कर है। बात-बात पर उसका गला भर आता है। अगर बड़े भी इस तरह रोने लगें, तो बच्चों का क्या होगा? जलालपुरनी अपनी ही बीन बजाये जाती है। माँ के आँसुओं को ढुलक पड़ने का मौक़ा ही नहीं मिल रहा। उसकी आँखें सूखी हैं और चेहरा रो रहा है, मानो आँखें चेहरे को धोखा दे गयी हों।

—कोई माने न माने, मैं तो यही कहूँगी कि लड़की को अभी से सँभाल लो,

नहीं तो बाद में मुँह देखती रह जाओगी। सच्ची बात है। है कि नहीं?

—हाय, सब मुझे ही दोष देते हैं, लेकिन मैं करूँ तो क्या? कोई मेरी सुने भी! मैं तो...

—देखो ना, बहन, मेरी लड़कियों के ये चलन नहीं कि वे घर-घर घूमें और अगर माँ उन्हें मना करे तो आँखें दिखाएँ।

—हाय, वह मेरी सौत है सौत! मैं क्या करूँ?

माँ की शिकायतों में अब एक लय पैदा हो गयी है। बीरू को लगता है जैसे माँ किसी का मातम कर ही हो। हर वाक्य के साथ माँ विह्वल हो रही है। उसके दोनों हाथ ऊपर को उठे हुए हैं। कभी वह कानों को छू लेती है और कभी ज़मीन को। बीरू को हँसी आ जाती है।

—बहन, लड़की जब बड़ी हो जाए और उसका कहीं ठिकाना न लगे तो वह सौत से भी बुरी। अब भी कुछ नहीं बिगड़ा है। सयाने कह गये हैं...

—हाय, मैं सब जानती हूँ! मुझे कौन बताएगा। लेकिन करूँ क्या, जब अपनी औलाद ही बात न माने, जब अपना आदमी ही न पूछे, तो मैं क्या करूँ?

—सारा-सारा दिन वह बेहया पारो के घर बैठी रहती है। तू चाहे तो भी उसे मना नहीं कर सकती। तेरी जगह मैं होती तो मैं उसके टुकड़े-टुकड़े कर देती। सच्ची बात है। है कि नहीं?

—हाय, मैं क्या करूँ?

—तू चाहे तो सबकुछ कर सकती है, बहन। तू अगर उसे जान से भी मार डाले, तो भी कोई तुझे कुछ नहीं कहेगा। तेरी अपनी लड़की है। है कि नहीं? न, अगर मैंने ग़लत कहा तो मुझे बता दो। मैं तो तेरा भला सोच रही हूँ। नहीं तो मुझे क्या पड़ी है? तू जानती है, तूने मुझे वह-वह बातें सुनायी हैं कि कोई और मेरी जगह होती तो तेरे साथ बात एक न करती, तुझे मुँह तक न लगाती। है कि नहीं? लेकिन मैं फिर भी तुझे अपनी बहन समझती हूँ। है कि नहीं?

—हाय, छोड़ो इन पुराने क़िस्सों को।

—छोड़ दिया, तभी तो तेरे साथ बैठी हूँ। वह तो यूँ ही एक बात की बात कही है। मैं तो, बहन, ऐसा छोड़ती हूँ कि मरने के बाद भी मुँह न देखूँ। तू मुझे जानती नहीं। मैं बहुत बुरी हूँ।

बीरू को इस पर भी हँसी आ जाती है। यह तो वही हुआ जैसे ढोल ख़ुद अपनी पोल खोल रहा हो। जलालपुरनी और अपने आपको बुरी कहे! ज़रूर इसमें कोई भेद है!

—हाय, बहन, यह तू क्या कह रही है? मैंने तुझे जो कुछ भी कहा हो, मुझे माफ़ कर दे, लेकिन तूने भी मुझे कम तंग नहीं किया है।

—ज़रा याद तो कर अपनी बातों को! बीच गली में खड़े होकर तूने मेरे बच्चों को ऐसी-ऐसी गालियाँ दी हैं कि कोई और मेरी जगह होती तो मुड़कर तेरा मुँह भी नहीं देखती!

—ख़ैर, बहन, तूने भी मेरी कम दुर्गति नहीं बनायी है। एक सेर आटे के लिए तूने सारी गली में मेरी लाज उतारकर रख दी। और गालियाँ, तुझे अपनी गालियाँ याद नहीं? मुझे तो अब भी जब वे गालियाँ याद आ जाती हैं तो मेरी छाती फटने लगती है।

—अच्छा, बहन, जो हुआ, सो हुआ। उस पर मिट्टी डालो।

—मैं तो अन्दर-बाहर से एक हूँ। यही तो मेरा नुक़्स है। दिल में कोई बात मैं रख ही नहीं सकती। लल्लो-पत्तो मुझे आती ही नहीं। मेरा दिल साफ़ है। छल-कपट मुझे आता नहीं! अगर मैं भी दूसरों की तरह ज़रा चालाक होती, तो फिर बात ही क्या थी। हाँ, यह मैं जानती हूँ, ज़ुबान मेरी ज़रूर सख़्त है। लेकिन दिल मेरा सोना है, सोना।

—तेरा सोना है, बहन, तो मेरा भी सोना है। लेकिन, मेरी भोली बहन, दिल को कोई नहीं देखता। ज़ुबान पर भी कुछ क़ाबू होना चाहिए। अच्छा, छोड़ो इस क़िस्से को। कुछ तेरी ग़लती कुछ मेरी। लेकिन अब देख ले, तेरी मुसीबत देखकर मैं चैन से बैठी नहीं रही। मैंने कहा, मेरी बहन तकलीफ़ में है, दुखी है, मेरा फ़र्ज़ है कि मैं उसे हौसला दूँ, उसकी ख़बर लूँ...

बीरू उलझ गया है। बात की यह करवट उसकी समझ में नहीं आती। आख़िर देवी ने क्या किया है कि ये दोनों उसकी इतनी बुराई कर रही हैं? माँ सचमुच बहुत भोली है। उसे कोई भी फुसला ले। माँ का अपना दिमाग़ तो है ही नहीं। और अब देवी को भूलकर ये दोनों और ही क़िस्सा ले बैठी हैं। अगर कुछ देर और वे इसी तरफ़ चलती रहीं तो उन दोनों में बातों ही बातों में लड़ाई हो जाने का ख़तरा है। बीरू इस लड़ाई से बहुत घबराता है। सारी गली में उन दोनों की लड़ाई मशहूर है। आने-जाने वाले खड़े हो जाते हैं। बच्चे खेल-कूद बन्द कर देते हैं और मुँह खोले यूँ उनकी तरफ़ देखते हैं, जैसे बन्दर या रीछ का तमाशा देख रहे हों। और फिर कई दिनों तक गली में, स्कूल में हर वक़्त लड़के बीरू की माँ की नक़लें उतारते रहते हैं। कुछ एक तो इस चतुराई से बिल्कुल माँ की तरह हाथ मार-मारकर और गला फाड़-फाड़कर ठेठ औरतों की बोली में माँ का पार्ट करते हैं कि बीरू भी कुछ देर के लिए सबकुछ भूलकर उस खेल में शामिल हो जाता है। लेकिन जब कभी ऐसा घमासान मचता है, तो बीरू के लिए घर से बाहर निकलना मुश्किल हो जाता है। बात स्कूल में मास्टरों तक जा पहुँचती है। और मास्टरों को ऐसे मौक़े परमात्मा दे! सारे लड़के और मास्टर एक तरफ़ और बीरू बेचारा एक तरफ़।

यह सोचते-सोचते बीरू को यूँ महसूस होता है जैसे उसकी खोपड़ी में किसी ने छोटे-छोटे कंकर भर दिये हों।

नहीं, नहीं, नहीं! वह कभी भी माँ को अब जलालपुरनी से नहीं लड़ने देगा! जलालपुरनी के दाँत चाहे कितने ही लम्बे क्यों न हो जाएँ...

जलालपुरनी के दाँत सहसा बीरू को इतने लम्बे नज़र आने लगते हैं कि उसका मन होता है कि वह उन दाँतों को पकड़ ले और घसीटता हुआ जलालपुरनी को बाहर गली में ले जाए। और बेढब, ऊबड़-खाबड़ ऊँटनी जलालपुरनी बिलख उठे।

वह मुस्कराता है। उसका ध्यान उन दिशाओं से हट गया है, जिनमें माँ और जलालपुरनी की बातें अब भी भटक रही हैं। बहुत देर तक बीरू अपने ही अटपटे विचारों की भूलभुलैयों में ऐसा गुम-सा हो जाता है कि उसे कुछ दिखाई नहीं देता, कुछ सुनाई नहीं देता। इस तरह अपने आप में डूब जाने, अपने इर्द-गिर्द एक अस्थायी किन्तु अभेद्य-सी दीवार खड़ी कर लेने की आदत अच्छी हो या बुरी, बीरू के लिए बहुत हितकर है। नहीं तो वह कब का पागल हो गया होता।

—जा, जाकर देवी-सड़ेवी को बुला ला।

—इसके कहे से वह आएगी भी?

—जा, जाकर बालों से पकड़कर उसे घसीट ला।

माँ ने जलालपुरनी की बतायी हुई नसीहतों पर अभी से अमल करने का फ़ैसला कर लिया है। जलालपुरनी अपने निचले होंट पर अँगुली रखे मुस्करा रही है। शायद अपनी सफलता पर खुश हो रही है। देवी को बालों से पकड़कर घसीट लाने की बात बीरू को काफ़ी अच्छी लगती थी. लेकिन इधर वह देख रहा है कि देवी इतनी बड़ी हो गयी है कि अगर वह खड़ी हो तो उसका हाथ उसकी चोटी तक पहुँचता ही नहीं। वैसे भी अब उसे ऐसा करने में शर्म आती है। माँ की क्या बात है, वह तो हमेशा ऐसी उल्टी-सीधी बातें करती रहती है।

—नहीं माँ, मुझसे यह नहीं होगा।

—क्या कहा?

—तुम आप बुला लाओ उसे।

—देखा, बहन. अब उसकी देखादेखी यह निगोड़ा भी मुझे आँखें दिखाने लगा।

—यह तो होगा ही। जैसे वह करेगी...

वह जलालपुरनी की बात पूरी सुने बग़ैर उठ खड़ा होता है।

—तो बुलाकर ला रहा है न उसे?

—नहीं।

और वह दौड़कर गली में पहुँच जाता है।

जलालपुरनी और माँ की चोंचें फिर आपस में मिल जाती हैं। बीरू कुछ देर गली में खड़ा उनकी ओर देखता रहता है। गली में इस समय कोई नहीं है। वह फिर दबे पाँव दरवाज़े की ओर बढ़ता है। वे दोनों अपनी बातों में इतनी व्यस्त हैं कि वह फिर उनके पास जा बैठता है और उन्हें पता भी नहीं चलता। अब उनकी बात इतनी धीमी हो गयी है कि उसे कुछ भी सुनाई नहीं देता। कभी माँ अपना कान जलालपुरनी के मुँह के साथ लगा देती हैं और कभी जलालपुरनी माँ का मुँह अपने कानों से लगा लेती है, जैसे वे कोई खेल खेल रही हों। जलालपुरनी के हाथ अपने-आप लहरा रहे हैं। जब बीरू को उनकी कोई बात नहीं सुनाई देती तो उसकी दृष्टि उनके हाथों पर जम जाती है। उसे लगता है कि जलालपुरनी के हाथ माँ के हाथों से बातें कर रहे हैं। और उसकी हँसी फूट निकलती है। चार गुस्से भरी आँखें उसकी ओर उठती हैं और उसकी हँसी किसी सड़े हुए फल की भाँति टूटकर नीचे गिर पड़ती है। उसके होठ सिकुड़कर उसके दाँतों को छुपा लेते हैं।

—मैंने तुम्हें क्या कहा था, बीरू? एक बार कहे का असर नहीं होता तुझ पर। हैं? जाता है कि नहीं? जा भी! जा, जाकर उसे बुला ला। जा!

दहलीज़ से ठोकर खाकर वह गिरते-गिरते सँभल जाता है। पाँवों के अँगूठे के दर्द को दाँतों में दबाकर वह एक गाली जलालपुरनी को देता हुआ पारो के घर की ओर चल देता है।

गली खाली पड़ी है। पारो का मकान दूसरे सिरे पर है। ठोकर लगने के कारण उसके पाँव में दर्द हो रहा है। गली के बीचोंबीच धूप बिछी हुई है। उसके पाँव जल रहे हैं। पारो के घर पहुँचते-पहुँचते उसका गला भर आता है। वह दाँत पीसकर आँसू रोके रखने की कोशिश करता है। गले में अटके हुए गोलों के कारण उसे प्यास लग आती है। आँखें भीग जाती हैं, लेकिन चेहरा नहीं बिगड़ पाता। जब माँ रोती है तो उसका चेहरा इतना विकृत हो जाता है, उसकी आँखें सिमटकर इतनी छोटी रह जाती हैं, उसके होठों की फड़कन इतनी तेज़ हो जाती है और उसकी आवाज़ इतनी पिलपिली हो जाती है कि बीरू को प्राय: मितली आने लगती है, और उसके जी में आता है कि आगे बढ़कर माँ के चेहरे को खींच-तानकर ऐसे कस दे कि फिर उसमें कभी वैसा ढीलापन न आ सके।

पारो के घर का दरवाज़ा बन्द है।

बीरू सोचता है कि देवी को वहीं से आवाज़ लगाए या आगे बढ़कर दरवाज़ा खटखटाए। आवाज़ के जवाब में देवी कभी बाहर नहीं आएगी। सुनेगी ही नहीं।

वह जब अपनी बातों में मस्त हो तो उसे किसी की आवाज़ सुनाई नहीं देती। हो सकता है, वह सो रही हो। फिर तो चाहे उसके सिरहाने ढोल बजाते रहें, उसकी नींद नहीं खुलती। कभी-कभी वह वैसे ही चुप मारकर बैठी रहती है। बीरू को सहसा दादी की याद आ जाती है। दादी कहा करती थी, तेरी माँ जान-बूझकर चुप मार लेती है, सुनती ही नहीं। दादी न जाने अब इस वक़्त कहाँ बैठी होगी!

इसी सोच में डूबा-डूबा वह दरवाज़ा खटखटाने लगता है। कुछ देर बाद दरवाज़ा खुलता है। सामने पारो खड़ी है। उससे तिगुनी लम्बी, सिर से नंगी, पाँव से नंगी, उलझे हुए बाल, मोटी देह पसीने से तर, बग़लें खुजलाती हुई, आँखें झपकाती हुई।

—देवी कहाँ है? बीरू बहुत रुखाई से पूछता है।

—कौन-सी देवी? पारो उसे छेड़ती है।

—हमारी देवी! और कौन? बीरू को यह छेड़ अच्छी नहीं लगती।

—मेरी जेब में! और पारो अपनी जेब दिखाने लगती है।

—जल्दी बताओ, उसे माँ बुला रही है!

—कह तो रही हूँ, मेरी जेब में है, ले लो!

बीरू को हँसी नहीं आती।

—अन्दर आ जा, बाहर धूप में क्यों खड़ा है?

—मैं देवी को बुलाने आया हूँ।

—अच्छा, आ भी जाओ, शरबत पिलाऊँगी!

—मैं नहीं पीता। देवी कहाँ है?

—बाबा, कह तो है, अन्दर मेरी कमीज़ की जेब में पड़ी है, लोगे? आओ, दूँ!

लेकिन उसे अब भी हँसी नहीं आती। कुछ देर तक वे दोनों एक-दूसरे की ओर देखते हैं।

—बड़े ज़िद्दी हो। नहीं आओगे? कर लूँ दरवाज़ा बन्द? बोलो! कर लूँ बन्द? फिर बाहर धूप में खड़े रहना, अच्छा!

वह कुछ नहीं बोलता।

—तीन तक गिनूँगी। आना है तो आ जाओ, नहीं तो दरवाज़ा बन्द कर लूँगी। फिर धूप में खड़े रहना। हम अन्दर बैठकर मीठा-मीठा, लाल-लाल शरबत...

उसका गला काँटेदार गोलों से अँट जाता है। वह जबड़े कस लेता है और अपनी जगह पर खड़ा हो जाता है। उसके तलुए जल रहे हैं और उसके सिर में आग-सी लगी हुई है।

पारो हाथ से पकड़कर उसे खींचती है। वह हाथ छुड़ाकर परे हट जाता है।

पारो हँस देती है। उसकी हँसी अजीब है। जैसे काके ने झुनझुना बजा दिया हो।

—हमारा काका भी अन्दर है?

—वह तो हमारा काका है। लेकिन है अन्दर ही। उसे मैंने अलमारी में बन्द कर रखा है।

क्या बच्चों की सी बात कर रही है! मैं अब दूध-पीता बच्चा नहीं, जो हर बात मान लूँगा। बीरू अपनी नज़र में ये वाक्य लपेटकर पारो पर एक दृष्टि डालता है। पारो ने मानो उसका मतलब समझ लिया हो। कुछ सँभलकर, ज़रा गम्भीरता से उसकी ओर देखकर कहती है—अच्छा, अब आना है तो आ जा, देवी भी यहीं है और काका भी।

—देवी को माँ बुला रही है।

—तो बुलाने दे। माँ का क्या है? वह तो हमेशा बुलाती ही रहती है। तू थोड़ी देर को अन्दर तो आ।

—नहीं-नहीं, देवी को बाहर भेज दो! और बीरू पाँव ज़मीन पर पटकने लगता है।

—अच्छा, भाई भेज दूँगी। हम तेरी देवी का अचार तो नहीं डालेंगे। लेकिन अब थोड़ी देर के लिए अन्दर तो आ ही जा। मैं भी तो आख़िर तेरी बहन हूँ। और काका अभी सोया है। उसे जग लेने दो, फिर ले जाना दोनों को। आओ!

पारो कैसी मीठी-मीठी बातें करती है! अगर यह मेरी माँ होती, अगर मेरी माँ भी ऐसी ही बातें करती, तो मज़े आ जाते! देवी इसीलिए पारो के घर बैठी रहती है। जलालपुरनी बकवास करती है।

वह पारो के साथ अन्दर चला जाता है। अन्दर देवी काके के साथ लेटी हुई है। सो रही है। उसकी आँखें बन्द हैं और होंठ खुले। लेकिन उसके हाथ में छोटा-सा पंखा है, जो मानो अपने आप हिल रहा है। कमरा ठंडा है।

देवी को आवाज़ देने के लिए वह मुँह खोलता ही है कि पारो उसके मुँह पर हाथ रख देती है। पारो के हाथ से आ रही पसीने की बू उसे अच्छी लगती है। वह उसके साथ दूसरे कमरे में चला जाता है। वहाँ पारो की माँ लेटी हुई है। फ़र्श पर। उसकी आँखें भी बन्द हैं। बीरू को फिर अपनी दादी याद आ जाती है। पारो की माँ इतनी बूढ़ी क्यों है। वह अपने पेट पर हौले-हौले हाथ फेर रही है, मानो किसी बच्चे को सुला रही हो।

—अम्मा, यह देखो, कौन आया है हमारे घर?

—कौन है! बीरू! आओ, बेटा। तुम तो हमारे घर आते ही नहीं। देवी आए तो तुम उसे बुलाने चले आते हो।

पारो की माँ कुछ देर तक इसी बात पर हँसती रहती है। मुँह में एक भी दाँत

न होने के कारण उसकी हँसी अजीब-सी है। बीरू को फिर दादी की याद आ जाती है। उसके होठ यूँ खिंचे हुए हैं जैसे अब उन्हें ढीला छोड़ने की ताक़त उसमें न रही हो। अगर दादी को भी हँसने की आदत होती...काका भी इसी तरह हँसता है। कभी-कभी माँ कह दिया करती है—अपना पिछला जनम याद करके हँस रहा है।

—बैठ जा, बीरू। बोल, क्या खाएगा?

—कुछ नहीं।

—वह क्या होता है? बोल, बर्फ़ी खाएगा?

—नहीं।

—पेड़ा?

—नहीं।

—अच्छा, ज़रा इधर तो आ।

—देवी!...देवी!...देवी!

—अरे बाबा, धीरे बोल!

—देवी, घर चल, माँ बुला रही है!

—क्या कहती है माँ?

—घर चल।

—चलती हूँ।

—अभी चल।

—क्या करूँ घर जाकर?

देवी के इस सवाल में जो खीझ है, उससे बीरू चुप हो जाता है, मानो वह स्वयं यही सवाल अपने आपसे पूछ रहा हो; मानो अपनी उम्र की सीमाओं को लाँघ रहा हो, या किसी ऐसी चिन्ता में जा डूबा हो कि उसे देखकर उसकी उम्र का अनुमान लगाना मुश्किल हो। कुछ देर के लिए सब चुप हो जाते हैं। बीरू सिर झुका लेता है; मानो अपनी हार तसलीम कर रहा हो। पारो आगे बढ़कर उसे अपनी बाँहों में समेट लेती है और चूमने लगती है। बीरू की आँखें चमक उठती हैं। लेकिन उसका गला साफ़ है। आँसू भी दो प्रकार के होते हैं, कड़ुए और मीठे। मीठे आँसुओं से आँखें जलतीं नहीं, धुलकर कुछ निर्मल हो जाती हैं। अगर बीरू कड़ुए और मीठे आँसुओं का यह अन्तर उस समय प्रकट रूप में समझ पाता तो उसके आँसुओं की मिठास में कुछ कड़वाहट घुल जाती।

—माँ के पास कौन बैठा है, बीरू?

—जलालपुरनी।

—मैं न कहती थी, पारो। अब घर जाने पर जो मेरी गत होगी, सो मैं ही जानती हूँ।

थी। पारो देवी को उलटे रास्ते पर चलाती है। लेकिन पारो ने तो अभी-अभी उसे चूमा है। वह उसकी ओर देखता है। माँ बिल्कुल ग़लत कहती है, पारो बहुत अच्छी है। क्यों अच्छी है? इसका उसे पता नहीं। लेकिन अब वह आगे से हमेशा पारो की तरफ़दारी किया करेगा। पारो ने उसे चूमा है।

न जाने किस बात पर पारो अचानक खिलखिलाकर हँस उठती है। उसका क़हकहा खाली बरतन की खनक-सा इधर-उधर भटककर गुम हो जाता है, जैसे कोई जुगनू अँधेरे में चमककर। देवी उसी तरह चुपचाप मुँह लटकाये खड़ी रहती है।

—आओ, उधर दूसरे कमरे में चलो। काका जाग गया है।

पारो की माँ इस तरह फ़र्श पर लेटी हुई पड़ी है जैसे किसी के हाथ से कोई ऐसी चीज़ नीचे गिर गयी हो, जिसे उठाने की न इच्छा हो, न आवश्यकता, लेकिन वह वहाँ पड़ी-पड़ी भी ज़्यादा बुरी न लगे।

देवी और पारो दूसरे कमरे मे चली जाती हैं। बीरू कुछ देर वहीं खड़ा फ़र्श पर लेटी पारो की माँ की ओर देखता रहता है।

दूसरा कमरा मानो काके के जाग जाने से स्वयं भी जाग उठा हो। काके को फ़र्श पर बिठाकर पारो ने उसके सामने दो छोटे ताले, एक खाली पालिश की डिबिया, एक छोटी-सी कंघी, एक चाबियों का गुच्छा, एक रस्सी का टुकड़ा और भी कई ऐसी चीज़ें डाल दी हैं। काका उन्हें घूर रहा है। वह अभी ठीक से बैठ भी नहीं पाता। कभी-कभी यूँ लहरा जाता है कि सब एक साथ उसकी ओर लपक पड़ते हैं, लेकिन फिर वह अपने आप सँभल जाता है, जैसे उसने जान-बूझकर उन्हें धोखा दिया हो।

पारो खट से काके के पास बैठ जाती है और उसे खिलाने लगती है। देवी और बीरू खड़े एक-दूसरे की ओर देखते रहते हैं। देवी का मुँह अभी तक ठीक नहीं हुआ। पारो काके के सामने झुकी हुई है। उसका दायाँ गाल फ़र्श को छू रहा है। और उसके घुटने ऊपर को उठे हुए हैं और वह तरह-तरह की आवाज़ से काके को हँसाने की कोशिश कर रही है।

बीरू फिर देवी की ओर देखता है, जैसे उसे घर चलने के लिए कह रहा हो। फिर पारो के पास बैठकर काका को हँसाने के लिए पारो की रानों को थपथपाने लगता है। पारो उसके गालों पर हल्की-हल्की चपतें मार रही है और कह रही है—अरे भइया रे, हौले मार, मांस है, पत्थर तो नहीं। बीरू को बहुत मज़ा आ रहा है। देवी उन तीनों के सिर पर खड़ी चुपचाप ये सब देखती रहती है। बीरू बीच-बीच

मैं उसकी ओर देख लेता है, मानो उसे बैठ जाने की अनुमति दे रहा हो या घर चले जाने का आदेश।

—अच्छा तो मैं अब चलती हूँ, पारो।

—शाम को फिर आना।

—देखो।

—देखो नहीं, बस, थोड़ी देर के लिए आ ही जाना। बाक़ी बात फिर करेंगे।

काके को उठाकर देवी दरवाज़े की ओर चल देती है। बीरू पारो की तरफ़ देखता है और जैसे पूछ रहा हो, मैं भी चला जाऊँ? पारो उठ खड़ी होती है। बीरू को महसूस होता है जैसे उसे चले जाने को कह दिया गया हो। वह अभी कुछ देर और पारो की रानों को थपथपाना चाहता है...

देवी दरवाज़ा खोलने के लिए हाथ बढ़ाती है कि बाहर से माँ की आवाज़ आती है—दरवाज़ा खोलो!

माँ को देखते ही देवी दो क़दम पीछे हट जाती है। माँ हमेशा ऐन मौक़े पर आ पहुँचती है। बीरू पारो के पीछे छुपने की कोशिश करता है।

—आओ, मासीजी! पारो मुस्कराती है।

माँ एक झपट्टा मारकर काके को छीन लेती है। काका रोने लगता है। माँ उसे गाली देती है। फिर लपककर बीरू का हाथ पकड़कर बाहर की ओर घसीटने लगती है।

—तुझे मैंने किसलिए भेजा था यहाँ? बोल!

वह कुछ नहीं बोलता। देवी भी उनके साथ-साथ चल रही है। पारो ने दरवाज़ा अन्दर से बन्द कर लिया है। माँ के कपड़ों से बदबू आ रही है। घर पहुँचते-पहुँचते बीरू को अपने आपसे भी बदबू आने लगती है, जैसे किसी ने उसे नहला-धुलाकर फिर एक हफ़्ता पुराने बासी कपड़े पहना दिये हों।

दस

अच्छी तरह कान खोलकर सुन लो! इस रोज़-रोज़ की बक-बक से इतना तंग आ गया हूँ कि अगर तुमने अपना चलन नहीं बदला तो मैं सबकुछ छोड़-छाड़कर कहीं चला जाऊँगा! समझी? फिर उमर भर रोती रहना बैठकर अपने जनने वालों को!

माँ प्राय: जनने वालों की शान के ख़िलाफ़ एक शब्द भी नहीं सुन सकती और तिलमिलाकर कह दिया करती है, 'ख़बरदार, जो मेरे जनने वालों का नाम लिया!' और बाबा उसके बाद प्राय: न केवल उसके जनने वालों, बल्कि उसके जनने वालों के जनने वालों को भी अपनी गालियों की लपेट में लेकर यूँ बरसने लगते हैं, मानो उन्हें माँ से जो शिकायतें हैं, उन सबकी ज़िम्मेदारी उन बुज़ुर्गों पर ही हो।

लेकिन इस समय माँ ख़ामोश है। फ़र्श पर औंधे मुँह गिरी सिसक रही है। उसके बालों की एक रस्सी-सी बन गयी है। बाबा ने उन्हें इतना मरोड़ा था कि माँ बिलबिला उठी थी। अगर बाबा ने उसी समय माँ के बालों को छोड़ न दिया होता तो वह रस्सी जड़ से उखड़कर बाबा के हाथों में आ जाती और माँ के सिर से ख़ून का फ़व्वारा फूट निकलता। यह सोचकर बीरू का सारा शरीर झुरझुरा गया था। देवी ने बाबा को परे खींचना चाहा था, लेकिन बाबा जब ग़ुस्से में हों तो लोहे में बदल जाते हैं।

माँ ने बीरू को बताया है कि वह जवानी में रामलीला में कभी रावण की भूमिका अदा किया करते थे और कभी अंगद की।

अब वह रस्सी यूँ खुल रही है जैसे बालों में जान आ गयी हो।

आज सुबह सवेरे ही यह संग्राम न जाने किस बात पर छिड़ गया है। रात बाबा बहुत देर से लौटे थे। वह उनका इन्तज़ार करता-करता रसोई में ही सो गया था। सोने से पहले माँ ने उसे कई क़िस्से-कहानियाँ सुनायी थीं। इसीलिए शायद उसे नींद भी इतनी जल्दी आ गयी थी।

माँ ने कहा था कि एक बार बाबा ने माँ को भी दाँव पर लगा दिया था। तब वे एक छोटे-से गाँव कीराँवाला में रहते थे। उन दिनों देवी बहुत छोटी थी। सब लोग देवी को प्यार करते थे। मैं तो अभी हुआ भी नहीं था। शायद होने वाला था। देवी का एक ख़ास नाम रखा था उन लोगों ने। देवी को उस वक़्त भी घूमने की आदत थी। लेकिन बचपन में तो सभी घुमक्कड़ होते हैं। तकलीफ़ तो तब होती है जब बचपन की आदतें जवानी तक घिसटती चली जाएँ। देवी का वह नाम माँ को याद नहीं आया। काफ़ी देर सिर पकड़कर बैठे रहने और माथा सिकोड़ने पर भी याद नहीं आया।

—क्या करूँ, मेरा दिमाग़ अपनी जगह पर नहीं रहा। जब मैं छोटी थी, तो मेरे चाचा कहा करते थे—जानकी, तेरे पास इतना दिमाग़ कहाँ से आ गया? तेरी माँ तो पहले दरजे की बेवकूफ़ है।

फिर बहुत देर तक माँ की बातों का रुख़ उसके अपने माँ-बाप की छोटी-छोटी बातों की ओर मुड़ा रहा था। बीरू इन बातों में काफ़ी रस लेता रहा था। उसकी

नींद फिर खुल गयी थी।

फिर माँ ने वही ऊटपटाँग बातें शुरू कर दी थीं—एक बार तो, बेटा, इन्होंने मुझे भी दाँव पर लगा दिया था। अब कभी वे दिन याद आ जाते हैं तो हँस देती हूँ। पांडवों ने भी तो द्रौपदी को हार दिया था। लेकिन वह तो सब भगवान की लीला थी। और यह सब उस बेईमान रामचरण की शरारत। रामचरण बाबा का दोस्त था। दिन भर उसी के संग घूमते थे। सारी कमाई शराब में ग़र्क कर देते थे। जुआ भी खेलते थे। उन दिनों बाबा को ऊपर की आमदनी बहुत होती थी। इलाक़ा बहुत अच्छा था। लेकिन फिर भी कई-कई दिन घर में चूल्हा तक नहीं जलता था।

—एक दिन वह सबकुछ हारकर उठने लगे तो उस बेईमान रामचरण ने कह दिया, क्यों नहीं एक हाथ और खेल लेते? अपनी बीवी को लगा दो न दाँव पर! अब उसने बेशक मज़ाक से ही कहा हो। लेकिन ये नशे में धुत्त, मान गये। बस फिर क्या था, दूसरे दिन यह बात सारे गाँव में फैल गयी। बच्चा-बच्चा जान गया। हाय बेटा, तुम्हें क्या-क्या बताऊँ! मैंने क्या नहीं देखा! जो कुछ मैंने देखा है, परमात्मा दुश्मन को भी न दिखाए! जो कुछ मैंने सहा है, कोई और सहकर दिखाए तो मान जाऊँगी! उन दिनों तेरी दादी हमारे पास नहीं रहा करती थी।

और फिर माँ की बातों का रुख़ न जाने किस ओर मुड़ गया था। माँ की बातों का रुख़ भी किसी अपरिचित नगरी में किसी भूले-भटके मुसाफ़िर के समान है, जिसे अपने स्थान पर पहुँचने के लिए कितनी देर इधर-उधर भटकना पड़ता है।

कोई ज़माना था जब माँ की दुखद बातें सुनते-सुनते बीरू की आँखें भीग जाती थीं। लेकिन अब उसे उन बातों पर नींद ही आती है।

बीरू को दादी की निन्दा हमेशा की भाँति अरुचिकर लगी थी। परन्तु दादी की चर्चा करते हुए माँ की आवाज़ और उसके लहज़े में एक ऐसा पुट आ गया था कि बीरू ने उसे मना करने के बजाय चुपचाप सो जाने की ठान ली थी। उसने कानों को बाँहों में लपेटकर यह कोशिश भी की थी कि माँ की बातें उसे सुनाई न दें। माँ थोड़ी-थोड़ी देर बाद उससे पूछ लेती थी, सुन रहे हो न, सो तो नहीं गये? एक बार उसने कह दिया था, नहीं, सो गया हूँ। माँ ने नाराज़ होने के बजाय झुककर उसे चूम लिया था।

दिन को माँ और ही रंग में होती है और रात को किसी और ही रंग में। अगर बीरू का बस चले तो उनके घर में हमेशा ही रात रहे। बाबा घर पर न हों! जलालपुरनी का कहीं खटका न हो। देवी गहरी नींद में सोयी रहे। माँ इसी प्रकार उसे छोटी-छोटी घटनाएँ सुनाती रहे। वह बीच में कभी सो जाए और कभी जाग उठे। और जब जागे तो माँ सामने फ़र्श पर औंधे मुँह पड़ी सिसक न रही हो।

माँ अब भी फ़र्श पर औंधे मुँह पड़ी है, पर उसकी सिसकियाँ शायद बन्द हो गयी

हैं। उसका शरीर कभी-कभी लम्बी साँस से सिहर उठता है। बाबा माँ के सिर पर खड़े अब भी उसे घूर रहे हैं। धीरे-धीरे माँ भी सिर उठाती है। उसका चेहरा देखकर बीरू सहसा डर जाता है। जब वह पूरी तरह बैठ जाती है तो बाबा झुककर उसका हाथ पकड़कर उसे खड़ा कर देते हैं और फिर एक-दो बार झिंझोड़कर छोड़ देते हैं। माँ गिरते-गिरते सँभल जाती है। बाबा बुड़बुड़ाते हुए बाहर चले जाते हैं। और माँ फूट-फूटकर रोने लगती है।

—चुप कर जाओ, माँ! बीरू माँ के पास खड़ा है।

—चुप कर जाओ, माँ! देवी कहती है।

माँ उठकर दीवार से टक्करें मारने लगती है। वे दोनों उसे पकड़ लेते हैं। माँ शायद पागल हो गयी है। ड्योढ़ी का दरवाज़ा खुला है। बीरू के दो साथी दरवाज़े में खड़े सबकुछ देख रहे हैं। स्कूल का समय हो गया है। वे उसे बुलाने आये हैं।

—स्कूल नहीं जाओगे, बीरू?

लेकिन उनकी आवाज़ बीरू के कानों में नहीं पड़ती। वह भी धीरे-धीरे माँ के साथ रो रहा है। जिधर को माँ झूल जाती है, उधर वह भी। देवी उन दोनों को सँभालने की कोशिश में उनके साथ-साथ झूल रही है।

दरवाज़े में खड़े लड़के ज़ोर-ज़ोर से हँस उठते हैं। बीरू माँ का आँचल छोड़कर उनके पास जा खड़ा होता है। लड़कों की हँसी बन्द हो जाती है। बीरू के होठ शर्म और ग़ुस्से से काँप रहे हैं।

—आज स्कूल नहीं जाआगे, बीरू? देर हो रही है।

बीरू उनकी ओर से मुँह मोड़कर खड़ा हो जाता है। माँ चारपाई पर जा गिरी है। दोनों हाथ छत की ओर उठाये कह रही है—हाय, मुझे मौत क्यों नहीं आती।

लड़के फिर आपस में खुसर-फुसर करने लगते हैं। बीरू का सिर दर्द से फटा जा रहा है। लेकिन उसके होठों का कम्पन बन्द हो गया है। उसके आँसू मानो आग में तब्दील हो गये हैं।

—ठहरो, मैं अभी आता हूँ।

बीरू दौड़कर अन्दर जाता है और किसी कपड़े से मुँह पोंछ बस्ता उठाकर बाहर चला आता है।

—ओ देवी, उस बेचारे को कुछ खाने को तो दिया होता!

बीरू ने दरवाज़ा बाहर से बन्द कर दिया है।

—अरे यार, भागते क्यों हो? हम भी तो वहीं जाएँगे।

—तेरी माँ को क्या हुआ था, बीरू?

—तेरे बाबा को हमने देखा था। तेज़-तेज़ कहीं जा रहे थे। कहाँ जा रहे थे?

उनका चेहरा लाल हो रहा था। क्या बात थी?

—हम तो कितनी देर से खड़े आवाज़ें दे रहे थे।

—जब तेरे बाबा ने दरवाज़ा खोला तो हम तो डर के मारे उछलकर परे जा खड़े हुए। तुझे अपने बाबा से डर नहीं लगता, बीरू?

—हमें देख लेते तो हमारी ख़ैर नहीं थी।

—क्यों? बीरू पूछता है।

लड़के जवाब नहीं देते। कुछ देर तीनों चुपचाप चलते रहते हैं।

—बीरू, तूने स्कूल का काम किया है?

—नहीं।

—क्यों?

बीरू चुप रहता है।

—यार बीरू, तेरे घर रोज़ लड़ाई क्यों होती रहती है?

—मैं बताऊँ, बीरू के बाबा बहुत सख़्त हैं।

—मेरी माँ कहती है, सारा क़सूर बीरू की माँ का है।

—मेरी माँ कहती है, क़सूर दोनों का है।

—बीरू बेचारे ने आज कुछ खाया भी नहीं।

—बेचारे को भूख लग रही होगी।

—मेरी माँ कहती है, बीरू की बहन देवी भी बीरू की माँ को बहुत तंग करती है।

—मेरी माँ कहती है, बीरू की माँ बहुत लड़ाकी है।

—बीरू, तेरे बाबा तेरी माँ को मारते हैं?

—यार, यह भी कोई पूछने की बात है!

—यार बीरू, हमसे बोलोगे नहीं?

—छोड़ो, बेचारे को रोना आ रहा है।

—बताओ न, बीरू, किस बात पर...?

—अन्धे हो? किस हरामी को रोना आ रहा है?

—आख़िर बुलवा ही लिया न!

—अच्छा, बीरू, अब तो बता दे, तुम्हारी माँ क्यों रो रही थी?

—आज तो पूछकर छोड़ेंगे!

—क्या तुम्हारी माँ कभी नहीं रोती?

—रोती है, लेकिन कभी-कभी। और जब रोती है तो हम सब उसे चुप कराने लगते हैं।

—लेकिन बीरू की माँ तो हरदम रोती रहती है।

—छोड़ो! बेचारे को शर्म आ रही है।

—अच्छा, छोड़ देते हैं, लेकिन, हरामी कोई और बात भी तो करे! यह तो ऐसे चल रहा है जैसे इसकी नानी मर गयी हो।

बीरू उन दोनों की छेड़खानी से इतना तंग आ गया है कि अगर उसमें हिम्मत होती तो वह उन पर झपट पड़ता। लेकिन उसके लिए तो चलना मुश्किल हो रहा है। दिन भर भूखा रहने के ख़्याल से उसका दिमाग़ चकरा जाता है।

गेट के बाहर रुककर बीरू अपने साथियों से कहता है—देखो, केशव के बच्चे, किसी को बताना नहीं। अगर बताया तो आज से मेरी तुम्हारी बोलचाल बन्द!

—क्या नहीं बताना?

—बस, मैं कह रहा हूँ।

—क्या?

—अरे यार, यही कि इसकी माँ रो रही थी।

—हम तो बताएँगे, हम तो सबको बताएँगे, हम तो मास्टर को भी बताएँगे, बोर्ड पर लिख देंगे! क्यों न बताएँ? क्यों न बताएँ?

—अच्छा, फिर बताकर देख लेना!

—देख लेंगे!

वे दोनों गेट की ओर चल देते हैं। अगर इन कमबख़्तों ने बात फैला दी तो सब लड़के दिन भर मुझे छेड़ते रहेंगे। केशव शायद न बताए, जीता ज़रूर बता देगा।

—अच्छा, एक शर्त पर नहीं बताएँगे। जीता बीरू के पास जाकर उसके कान में कुछ कहता है और फिर भागता हुआ केशव से जा मिलता है। दोनों हँसते हुए अन्दर चले जाते हैं। बीरू गेट पर खड़ा सोचता रहता कि स्कूल जाए या नहीं।

चार-पाँच लड़के घड़ियाल के नीचे खड़े बारी-बारी घंटी बजा रहे हैं। जब बीरू की बारी आती है तो प्रार्थना की सीटी हो जाती है। बीरू जल्दी से एक-दो बार घड़ियाल को बजाकर दौड़ता हुआ अपनी क़तार में जा खड़ा होता है।

'तारीफ़ उस ख़ुदा की जिसने जहाँ बनाया।'

बीरू उस ख़ुदा की तारीफ़ में शामिल नहीं होता। वह चुपचाप सिर झुकाये मन-ही-मन किसी बात पर कुढ़ता रहता है। शायद घंटी न बजा सकने पर। मास्टर आज फिर सबकी किताबें देखेंगे। उसने माँ से कहा भी था, आज भी किताब न दिखायी, तो मास्टरजी पीटेंगे। माँ ने कहा था, पीटकर तो देखें! माँ न जाने अपने आपको समझती क्या है! अगर इतनी ही बहादुर होती, तो...मास्टर कहेंगे, किताब के बग़ैर झख मारने चले आते हैं। लाट साहब के बच्चे! पढ़ेगा अपनी माँ का सिर? अगर कल भी किताब नहीं लाए तो मास्टर कान ऐसा मसलते हैं कि तारे नज़र आने लगें।

—यतीमखाने में क्यों नहीं ले जाते? तुम्हारे बाप के पास शराब पीने के लिए पैसे हैं, जुआ खेलने के लिए पैसे हैं, लेकिन किताब ख़रीदने के लिए नहीं! है न?

और फिर हुक्म मिलेगा, जाओ, जाकर उस कोने में दीवार की तरफ़ मुँह मोड़कर खड़े हो जाओ। एक टाँग पर खड़ा होना कोई आसान काम नहीं। मास्टर को खड़ा होना पड़े, तो पता चले!

प्रार्थना ख़त्म हो जाती है। फिर एक मिनट के लिए ख़ामोशी रहती है।

बीरू हाथ जोड़े, आँखें बन्द किये, परमात्मा से कह रहा है, मास्टर आज किताब के बारे में न पूछें! हे परमात्मा! तू मुझे चिड़िया बनाकर मास्टर के गंजे सिर पर बिठा दे!

फिर सीटी होती है। क़तारें रेंगने लगती हैं। बीरू के पीछे खड़ा लड़का बार-बार उससे शरारत कर रहा है। कमीज़ खींचकर पुचकार-पुचकारकर कह रहा है—बीरू, तेरी निक्कर पीछे से फटी हुई है!

मास्टर अपनी रानों को दोनों हाथों से खुजलाते हुए अन्दर दाखिल होते हैं। लड़के एक साथ खड़े होकर उनका स्वागत करते हुए कहते हैं—मास्टरजी, बन्दगी!

—एक बार फिर कहो, पूरे ज़ोर से।

—मास्टरजी, बन्दगी! सब लड़के चिल्लाते हैं।

मास्टरजी को, न जाने क्यों, हरदम रानों के बीच इतनी खुजली होती है कि कभी-कभी जब उनका ध्यान किसी और तरफ़ होता है तो उनकी तहमद के दोनों पाट सामने से खुल जाते हैं। लड़के हँसी दबाने की कोशिश में फूँ-फूँ करते रहते हैं। मास्टर की बला से! वह खुजली करते-करते, न जाने किन ख़्यालों में खो जाते हैं कि उन्हें देर तक आसपास का होश ही नहीं रहता।

और जब उन्हें होश आता है तो कहते हैं—भई, कोई जाकर हुक्के की ख़बर तो लाये! कमबख़्त ने न जाने क्यों इतनी देर लगा दी है!

कमबख़्त से मास्टरजी का मतलब अपनी पत्नी से होता है।

दो-तीन लड़के दरवाज़े की ओर लपकते हैं। उनमें से एक बीरू है। मास्टर बीरू को गर्दन से पकड़कर पूछते हैं—तुम कहाँ जा रहे हो?

बीरू हकलाता है—आपका हुक्का लेने।

—चलो, बैठो। हुक्का लेने जा रहे हैं? पैदा हुए नहीं और हुक्का लेने चल पड़े हैं! तुम्हारे तो बाप से भी वह हुक्का उठाये नहीं उठेगा। हरामख़ोरों को बस कोई बहाना चाहिए आवारागर्दी करने का। बैठो अपनी जगह पर!

लेकिन वह बैठे कैसे, मास्टर उसकी गर्दन छोड़ना तो भूल ही गये हैं। देख किसी और तरफ रहे हैं, बातें बीरू से कर रहे हैं, सोच कुछ और रहे हैं।

—मैं सब जानता हूँ, हरामियो! मुझे चलाते हो! मैं तुम्हारी रग-रग से

वाक़िफ़ हूँ। मैंने तुम्हारे जैसे हज़ारों-लाखों देखे हैं। मुझे धोखा देना कोई आसान काम नहीं! चलो, बैठो अपनी जगह पर!

जब बीरू जाने की कोशिश करता है तो मास्टर की पकड़ और मज़बूत हो जाती है, जैसे वह पनीर निचोड़ रहे हों। बीरू झुका-झुका हिचकोले खा रहा है। उसे लगता है जैसे उसकी जान आँखों के रास्ते निकल जाएगी और अगर मास्टर ने उसे छोड़ा नहीं तो आँखें निकलकर नीचे गिर पड़ेंगी। वह आँखें बन्द कर लेता है।

—चलो, बैठो अपनी जगह पर!

और एक झटका देकर मास्टर फिर उसे अपनी ओर खींचकर पूछते हैं— किताब लाया है या नहीं?

आँखें निकलकर नीचे गिर जातीं, वह अन्धा हो जाता, जान निकल जाती, लेकिन मास्टर ने यह किताब का क़िस्सा क्यों छेड़ दिया?

—बोल, किताब लाया है कि नहीं?

बोलना क्या ज़रूरी है? नहीं लाया। लेकिन मास्टर बिना बुलवाये नहीं छोड़ेंगे! बुलवाने ही में तो सारा मज़ा है!

—बोल, सूअर की औलाद! ज़ुबान हिला! बोल, किताब लाया है कि नहीं? बाक़ी लड़के दम रोके बैठे हैं। शुरू-शुरू में तो बीरू को मास्टर के पंजे में छटपटाता देखकर वे सब बहुत खुश हुए थे। बीरू की पीठ पर बैठने की इच्छा कई लड़कों के मन में उठी थी, उसके बिगड़े हुए चेहरे को देखकर कई लड़कों के लिए हँसी रोकना मुश्किल हो गया था, उसके फीके सफ़ेद रंग को देखकर कई चेहरे गुलाबी हो गये थे। लेकिन अब शायद बात हँसी मज़ाक की हद से गुज़रकर गम्भीरता और क्रूरता की सीमा तक जा पहुँची है।

कुछ लड़के दुआ माँग रहे थे कि मास्टर का हुक्का किसी तरह उसी क्षण आ जाए तो शायद बीरू की खलासी हो। नहीं तो मास्टर उस बेचारे को बिल्कुल ही निचोड़कर रख देगा। पहले ही चिड़िया-सी जान है बेचारे की।

—बोलेगा कि और कोई तरकीब करूँ बुलवाने की? बोल, किताब लाया है कि नहीं?

एक लड़का उठकर कहता है—मास्टरजी, इसके बस्ते में किताब नहीं है।

उस लड़के ने शायद यह सोचा हो कि मास्टर का कौतूहल शान्त हो जाएगा और वह बीरू को छोड़ देंगे।

—अच्छा, तो आज भी नहीं लाया?

'भी' पर बल देने के लिए मास्टर बीरू की गर्दन को पूरे ज़ोर से कस लेते हैं। बीरू चिल्ला उठता है। मास्टर खिल उठते हैं, जैसे इसी आवाज़ को सुनने के

लिए उन्होंने इतना कष्ट उठाया हो!

—अब निकली आवाज़! तुझे कल क्या कहा था? याद है कि नहीं? मैं पूछ रहा हूँ, याद है कि नहीं?

बीरू को तो क्या, उसके फ़रिश्तों को भी इस समय कुछ याद नहीं। उसे तो साफ़ सुनाई भी कुछ नहीं दे रहा।

—मास्टरजी, बेचारे की जान निकल जाएगी। वही लड़का फिर उठकर कहता है।

मास्टर हँस उठते हैं, जिससे उनकी पकड़ कुछ ढीली हो जाती है।

—बड़ी हमदर्दी है तुम्हें इससे तो फिर आ जाओ न इसकी जगह पर!

मास्टर बीरू को छोड़कर उस लड़के को पास आने के लिए इशारा करते हैं। बीरू की गर्दन टेढ़ी हो गयी है। वह सिर नीचा किये यूँ झूमता रहता है जैसे कोई अभिनेता शराबी की भूमिका अदा कर रहा हो। वह लड़का अपनी जगह पर खड़ा रहता है।

—आ जाओ न, आते क्यों नहीं?

मास्टर देखने को तो हँस रहे हैं, लेकिन उनके ग़ुस्से का अनुमान सभी लड़कों ने ठीक-ठीक लगा लिया है। वे सब असलम की ओर देख रहे हैं। असलम अपनी जगह पर डटा हुआ है, मास्टर की नज़र से नज़र बाँधे खड़ा है, मानो अपनी हठ की परीक्षा ले रहा हो।

मास्टर की हँसी का ज़ोर कम हो जाता है और उनका ग़ुस्सा बढ़ जाता है।

बीरू के पाँव अब कुछ जम गये हैं। लेकिन उसकी गर्दन का खम अभी दूर नहीं हुआ। उसे सी[illegible]धा करने की कोशिश में बीच की तनातनी का पूरा-पूरा आभास उसे नहीं होता। कुछ लड़के उसकी ओर हैरानी से देख रहे हैं, जैसे पूछ रहे हों, क्या अभी तक ज़िन्दा हो?

—तो क्या तुम वहीं खड़े रहोगे?

मास्टर की झिड़कीली आवाज़ सुनते ही सबके दिल दहल जाते हैं। बीरू की गर्दन अपने आप सीधी हो जाती है। आज मास्टर एक-एक लड़के को पीटेंगे। इस सामूहिक मारपीट के विचार से लड़कों के रोएँ मानो डर से नहीं उत्सुकता से खड़े हो जाते हैं।

—असलम!

मास्टर असलम का नाम इस अन्दाज़ से पुकारते हैं कि एक बार तो असलम के पाँव भी उखड़ जाते हैं। उसकी नज़रें गिर जाती हैं, मानो वह अपनी हार तसलीम कर रहा हो। और वह धीरे-धीरे मास्टर की ओर चल देता है।

एक लड़का बीरू की निक्कर को खींचकर उसे चुपचाप बैठ जाने का इशारा

करता है।

मास्टर के पास पहुँचकर असलम फिर तनकर खड़ा हो जाता है, मानो अपनी जगह से वहाँ तक पहुँचते-पहुँचते उसने कोई नया फ़ैसला कर लिया हो।

—हाँ, तो वकील साहब!

और मास्टर छूटते ही एक ज़न्नाटे का तमाचा असलम के मुँह पर दे मारते हैं।

असलम चुपचाप, अलिफ़ की तरह सीधा खड़ा रहता है। उसके हाथ गाल को सहलाने के लिए नहीं उठते और न ही उसकी नज़र में ही कोई खम पड़ता है, मानो तमाचा उसके मुँह पर नहीं किसी पत्थर पर पड़ा हो। बीरू चकित-सा असलम की ओर देख रहा है, मानो उसकी गर्दन का बल उस तमाचे से निकल गया हो।

मास्टर असलम की ओर देखते हैं, लड़कों की ओर देखते हैं, अपने हाथ की ओर देखते हैं और फिर पागल हो जाते हैं और अन्धाधुन्ध दोनों हाथों से असलम पर पिल पड़ते हैं। और इस पर भी जब असलम रोता-चिल्लाता नहीं, तो वह दोनों हाथों से उसके कन्धों को झिंझोड़कर उसकी गर्दन दबोचने की कोशिश करते हैं। असलम चुपके से उनके हाथों को परे झटक देता है, मानो कोई पहलवान दूसरे पहलवान से कह रहा हो—क़ायदे से लड़ो, ओछापन क्यों करते हो?

मास्टर के मुँह से झाग छूट रहा है। गाली देने के लिए मुँह खोलते हैं तो मुँह खुला का खुला रह जाता है। असलम सीना ताने वापस अपनी जगह पर लौट आता है। लड़कों की साँसें तेज़-तेज़ चल रही हैं। सभी लड़के असलम की ओर देख रहे हैं। बीरू का जी चाहता है कि उठकर उसके पास जा बैठे।

—हुक्का कहाँ है? मास्टर उन लड़कों से पूछते हैं जो बहुत देर से दरवाज़े में खड़े सारा नज़ारा देख रहे हैं।

—मास्टरनीजी ने कहा, हुक्का तो ले जाओ, लेकिन तम्बाकू की जगह क्या गधे की लीद डालोगे चिलम में।

सब लड़के एक साथ खिलखिलाकर हँस उठते हैं। मास्टर एक-दो बार दहाड़कर उन्हें डराने की कोशिश करते हैं और फिर भुनभुनाते हुए बाहर चले जाते हैं।

बीरू उठकर असलम के पास जा बैठता है।

घर लौटते हुए बीरू के पाँव ज़मीन पर नहीं पड़ते। सारा रास्ता हँसी-मज़ाक में कट जाता है। उसके साथियों में से कोई भी उसके साथ छेड़छाड़ नहीं करता। असलम बहुत रास्ता उसके साथ आता है।

बीरू को एक नया दोस्त मिल गया है, एक हमदर्द, एक साथी। अब उसे

स्कूल में किसी बात की चिन्ता नहीं रहेगी। लड़के उसे निक्खू कहकर नहीं बुलाएँगे। असलम अपनी छाती पर हाथ रखकर कहता है—अगर फिर कभी मास्टर ने तुम्हें पीटा तो मैं उन्हें मज़ा चखा दूँगा! सारे शहर की दीवारों पर कोयले से उनका नाम लिख दूँगा। लिख दूँगा, मास्टर फ़क़ीर मुहम्मद उल्लू है, मास्टर फ़क़ीर मुहम्मद की चिलम में गधे की लीद! स्कूल के गेट पर उसकी शक्ल बनाकर नीचे लिख दूँगा, गधों का बादशाह।

असलम से जुदा होते समय बीरू कहता है—एक दिन तुम्हारे घर आऊँगा।

असलम ज़ोर से कहता है—ज़रूर।

बीरू की गली के लड़के उसकी पीठ ठोंक देते हैं।

अब जब वह क्लास में बैठा किसी सोच में ग़र्क़ मास्टर की ओर देख रहा होगा तो किसी लड़के की हिम्मत नहीं होगी कि वह उसकी निक्कर में छोटे-छोटे कंकर डाल दे और जब वह उठे तो ताली बजाकर कहने लगे—बीरू अंडे देता है! असलम सबको डंके की चोट कह देता है—आज से बीरू मेरा दोस्त है! ख़बरदार, जो किसी ने इसे छेड़ा, मार-मारकर भुग्कस निकाल दूँगा!

असलम कितना लम्बा है! मास्टर के पास खड़ा मास्टर से भी ऊँचा दिखाई देता है। और उसके कपड़े कितने साफ़ हैं। बालों को खुशबूदार तेल लगाता है। उसके बूट! उसके बूटों का ख़्याल आते-आते बीरू की नज़रें अपने नंगे पाँवों पर जम जाती हैं।

देवी दरवाज़ा खोलती है। बीरू उसे एक ओर धकेलकर अन्दर दाखिल होते ही कहता है—रोटी दो, माँ, भूख लगी है।

लेकिन माँ मुंह फुलाये ड्योढ़ी के एक कोने में खड़ी है।

—तो बोलो, क्या जवाब दूँ इस चिट्ठी का?

बाबा की आवाज़ सुनकर भी बीरू सहमता नहीं। उछल-उछलकर उनके हाथों से चिट्ठी छीनने की कोशिश करने लगता है। बाबा हाथ ऊपर कर लेते हैं। दूसरे हाथ से बीरू के गालों को थपक देते हैं। बीरू को लगता है जैसे उनके मुँह के टेढ़ेपन का उस थपकी से कोई सम्बन्ध न हो। वह उस थपकी में छुपे प्यार की गर्मी को महसूस करता है और उस मुँह के टेढ़ेपन से झलक रहे गुस्से को, मानो जानता हो कि प्यार उसके लिए है और गुस्सा माँ के लिए।

—बोलो, मुझे फिर काम पर भी जाना है।

—मैंने तो कह दिया, मुझे मंजूर नहीं।

—तो फिर क्या इरादा है तुम्हारा? इसे सारी उमर घर बिठाये रखोगी? आख़िर तुम्हें कुछ मंज़ूर भी होगा या नहीं?

—और कुछ भी हो, इस मत्थासड़े रामलाल को तो मैं अपनी लड़की की हवा

भी न लगने दूँ, रिश्ता तो दूर की बात है!

—लेकिन उसमें नुक़्स क्या है? ज़रा अक़्ल से काम लो, आसमान से कोई फ़रिश्ता तो ढूँढ़कर लाओगी नहीं तुम। दसवीं पास है। नौकर है। देखने-सुनने में अच्छा है।

—ख़ाक अच्छा है।

—तुम्हारे मुँह में तो बस हमेशा ख़ाक ही रहेगी!

—मैं उसकी ईची-बीची जानती हूँ।

बीरू रोटी भूलकर बड़े ध्यान से ये बातें सुन रहा है। आज बाबा इतने आराम से न जाने कैसे कह रहे हैं। यह रामलाल कौन है? चिट्ठी में जाने क्या लिखा हुआ है। ईची-बीची पर बीरू को हँसी आ जाती है।

—अच्छा, तो फिर न कर दूँ?

—और नहीं तो क्या, उस घर में अपनी लड़की देने से तो अच्छा कि कुएँ में धकेल दूँ उसे!

—अच्छा, अब ज़्यादा बकवास मत करो।

—बकवास है तो बकवास ही सही। लेकिन मैं अपने जीते-जी...

—किसी भी बात का जवाब सीधी तरह नहीं दोगी! और बाबा चिट्ठी फाड़ते हुए बाहर चले जाते हैं। बीरू को यूँ महसूस होता है जैसे आज का झगड़ा अधूरा रह गया हो।

—रामलाल! ऊँ! वही है न, जिसकी माँ ने मेरे गहनों का डिब्बा उठा लिया था। उसे अपनी लड़की दे दूँ? गोली मार दूँ उसे! न मुँह, न मत्था, जिना पहाड़ों लत्था! उँह, काला धूत, न अक़्ल, न शक्ल! हाय, अगर मेरी लड़की अच्छी होती तो मुझे क्या जल्दी थी!

माँ बोलती जा रही है। आदत से लाचार। अपने आप चुप भी हो जाती है। खाने को कुछ मिल जाए तो...सब बरतन गन्दे पड़े हैं। खाने के लिए कहीं कुछ नहीं। चूल्हे से धुएँ की दो-तीन बारीक रेखाएँ उठ-उठकर छत से चिपकती जाती हैं। बीरू दहलीज़ के पास पड़े एक खाली गिलास को ठोकर मारकर रसोई से बाहर निकल आता है।

—शाबास, शाबास! कहीं पीछे न रह जाना अपने बाप से! जैसा बाप, वैसा बेटा! तोड़ दे, सारे बरतन तोड़ दे! देखता क्या है?

बीरू एक घृणा भरी दृष्टि माँ की ओर फेंकता हुआ बाहर निकल जाता है। रोटी नहीं तो न सही, आज वह माँ की बुड़बुड़ नहीं सुनेगा!

ग्यारह

गली में बच्चे नाच रहे हैं—

रब्बा रब्बा मींह बसा...

साहडी कोठी दाने पा...

कई दिनों से रोज़ बादल घिर-घिर आते हैं। लेकिन बारिश नहीं होती। गली की औरतें कहती हैं, परमात्मा हमसे रूउ गया है।

बच्चे मुँह ऊपर को उउाये बन्दरों की भाँति नाच रहे हैं।

बीरू दरवाज़े के साथ लगा चुपचाप उनकी ओर देख रहा है। बादल केवल आकाश में ही नहीं, उसके चेहरे पर भी घिर आये हैं। आकाश के बादलों में हरकत है, गर्जन है, कम्पन है; उसके चेहरे के बादलों में सिर्फ़ स्याही और ख़ामोशी।

कालियाँ इट्टा काले रोड़...

मींह बसा दे ज़ोरोज़ोर...

बच्चे पूरे ज़ोर से एक-एक शब्द को खींचकर बादलों को आवाज़ें दे रहे हैं। और बादल उनकी आवाज़ें सुन-सुनकर मानो स्वयं बच्चों की तरह मचल रहे हों और अपनी अनजानी भाषा में उनसे कुछ कह रहे हों। बीरू केवल बच्चों की बातें सुन रहा है। लेकिन दूसरे बच्चों की समझ में शायद बादलों की बातें भी आ रही हैं।

बीच-बीच में बीरू ऊपर आकाश की ओर देख लेता है। बादलों का अथाह समुन्दर ठाठें मार रहा है। कभी-कभी बिजली की एक काँपती हुई-सी लकीर यूँ खिंच जाती है, जैसे किसी ने चाकू की नोक से बादलों को फर्र से फाड़ दिया हो। और कभी-कभी वह लकीर ही इधर-उधर यहाँ-वहाँ दौड़ती हुई नज़र आती है, मानो आकाश में चमकते हुए मेढक फुदक रहे हों। और कभी-कभी सारा आकाश एकदम शान्त हो जाता है, मानो बादलों को अकस्मात् नींद आ गयी हो।

लेकिन बच्चे चिल्लाकर फिर उन्हें जगा देते हैं। और बादल झुँझलाये हुए बुज़ुर्गों की तरह खँखारने लगते हैं, जैसे नीचे वालों को अपने आने की ख़बर दे रहे हो।

रब्बा रब्बा मींह बसा...

साहडी कोठी दाने पा...

बीरू दहलीज़ पर बैठ जाता है, घुटनों को अपनी बाँहों की लपेट में लेकर ठोड़ी को उन पर टिकाकर, एक ठंडी साँस लेता है। ...बादलों का दानों से क्या मेल? हमारे घर दाने नहीं। दाने नहीं, आटा नहीं, रोटी नहीं, पैसे नहीं। कई दिनों

से माँ इधर-उधर से सेर-दो सेर उधार ले आती है और रोटियाँ पकाते हुए कहती रहती है, उधार में बरकत बिलकुल नहीं होती, उधार का आटा गले से नहीं उतरता, उसमें कंकर होते हैं। एक रोज़ पड़ोस की विद्या ने आख़िर वाली बात सुनकर कह दिया था, भई, कौन तुम्हें गुड़ भेजता है, तुम्हारी मिन्नतें करता है कि आकर हमसे उधार लो? हमें क्या पड़ी है कि आटा भी दें और बातें भी सुनें? अब तक तो देती रही, अब अगर मुझसे माँगा, तो...माँ ने बेतहाशा सौगन्धें खानी शुरू कर दी थीं। मैं तुम्हें थोड़ा ही कह रही थी। मेरा परमात्मा जानता है। तुम्हारा आटा तो मैदे से भी ज़्यादा बारीक होता है। मैं तो वैसे ही बात कर रही थी। फिर माँ ने बीरू के सिर पर हाथ रखकर कहा था, मुझे इसकी सौंह, जो मैंने तुम्हारी बात की हो! और विद्या के पीठ मोड़ते ही माँ की आँखों में आँसू भर आये थे।

कालियाँ इट्टा काले रोड़...
मींह बसा दे ज़ोरोज़ोर...

अगर मेंह बरस भी पड़े तो भला इन सालों को क्या मिल जाएगा? मेंह तो तब बरसना चाहिए जब चूल्हे में आग हो। मेंह भी बरसे और खाने को भी कुछ न मिले, उससे तो कड़कती धूप अच्छी। मेंह में भूख बहुत लगती है। जब कभी मेंह बरसता है, तो गली में बारिश के छींटों के साथ पूरियों और पकौड़ियों की सुगन्ध भी उड़ने लगती है।

बीरू को महसूस होता है जैसे किसी ने पूरियाँ-कचौड़ियाँ उसके मुँह के पास ले जाकर ज़ोर से एक तमाचा उसके मुँह पर मार दिया हो।

रब्बा रब्बा मींह बसा...
साहडी कोठी दाने पा...

इन सालों की कोठी में तो पहले ही बहुत दाने होंगे! न होते तो ये नाचते कैसे? खाली पेट तो रीछ भी इतनी देर नहीं नाच सकता। हरामियों के पेट ठसाठस भरे हुए होंगे। माँ कहा करती है, हाय, सबके घर सबकुछ है, मेरे घर कुछ भी नहीं! हाय, मैं तो भिखमंगों से भी गयी-गुज़री हूँ।

बादल दहाड़ते हैं। लड़के चिल्लाने लगते हैं—कन मन, कन मन...

नन्ही-नन्ही बूँदें बीरू की गर्दन पर पड़ती हैं, मानो बादल उससे छेड़खानी कर रहे हों, उसके पेट में गुदगुदी कर रहे हों। लेकिन वह हिलता नहीं, सिहरता नहीं, मानो उसकी कोमलता पर कछुए का खोल चढ़ा दिया गया हो।

बच्चे यूँ उछल रहे हैं जैसे भटियारिन की कड़ाही में मक्की के दाने।

बीरू गली के नुक्कड़ से मिट्टी का एक ढेला उठाकर बेदिली से एक बच्चे की ओर फेंक देता है और फिर दहलीज़ पर जा बैठता है। कोई उसकी ओर ध्यान नहीं देता।

घुटनों को बाँहों में लपेटकर वह ईर्ष्या की दृष्टि से बच्चों की ओर देखता रहता है और देखते-देखते उसकी आँखें भीगने लगती हैं। उसका जी चाहता है कि बीच गली में खड़े होकर ज़ोर-ज़ोर से रोने लगे। एड़ियाँ रगड़-रगड़कर, गला फाड़-फाड़कर। लेकिन ऐसा करने के बजाय वह चुपचाप बाँहों में मुँह छुपाये, बिना कोई आवाज़ निकाले, आँसू बहाता रहता है।

दरवाज़ा खुलता है। बीरू हड़बड़ाकर उठ बैठता है। पीछे माँ खड़ी है। कुछ ऐसे रंग में कि आदमी देखकर डर जाए। बीरू दहलीज़ छोड़कर नीचे गली में उतर आता है।

—जा, जाके उन्हें बाज़ार से बुला ला।

बीरू आकाश की ओर देखता है। माँ उसका इशारा समझ जाती है। लेकिन उसका बहाना स्वीकार नहीं करती।

—कुछ नहीं होता, कुछ नहीं होता। अगर दो छींटे पड़ भी गये तो आफ़त नहीं आ जाएगी। नमक का तो नहीं बना तू कि गल जाएगा। यह देख, वे भी तो बच्चे हैं। क्या मज़े मे खेल-कूद रहे हैं! और तू है कि दहलीज़ पकड़कर बैठा है। मरियल...

माँ जो मुँह में आता है कह देती है। अच्छा, मरियल तो मरियल ही सही। सुबह से एक चप्पा रोटी नहीं खायी। मरियल नहीं तो गामा पहलवान बनूँगा? और अगर कभी खेल-कूद में कहीं ज़रा देर हो जाए तो सारे शहर को इकट्ठा कर लेगी। फिर मेरा मुक़ाबला करनी है उनसे, जिनके पेट ठसाठस भरे हुए हैं। अगर माँ में ये बुरी बातें न हों तो...

—जा, न! ऊपर बरसात का रंग है। घर में न आटा है न घी लकड़ी। बुला ला! माँ, ज़रा और ऊँचा बोल कि सब सुन लें। पहले वह कह दिया करता था, मुझे शर्म आती है बाबा के दोस्तों से, वे मुझे छेड़ते हैं। और माँ उसकी शर्म को दो-एक तमाचों और कई एक गालियों की बौछार से दूर कर दिया करती थी। लेकिन अब तो उसे यह कहते हुए भी शर्म आती है। अब उसे हर बात में शर्म आती है। माँ से पिटते हुए तो शर्म के मारे उसकी जान जाती है और माँ की आदत ऐसी बुरी है कि जहाँ हो, वहीं पीटने लग जाती है।

—अब क्या पता, इस वक़्त वे कहाँ होंगे!

—जहाँ भी हों, ढूँढ़के बुला ला। यहीं कहीं फिर रहे होंगे, विलायत तो चले नहीं गये।

बीरू बुड़बुड़ाता हुआ चला जाता है। बच्चों के शोर से उसे स्वयं अपनी बुड़बुड़ाहट सुनाई नहीं देती। उनके पास से गुज़रता हुआ वह आँख उठाकर उनकी ओर देखता तक नहीं। बच्चे, जो एक क्षण पहले रब्ब और बादलों से बातचीत कर

रहे थे, बीरू को देखते ही चिल्लाने लगते हैं—बीरू की ओए ओए!

बीरू भागता हुआ गली से निकलकर बाज़ार में दाख़िल हो जाता है। बच्चे उसे वहाँ छोड़कर वापस लौट आते हैं, जैसे गली के कुत्तों ने किसी अजनबी कुत्ते को अपनी गली से बाहर भगा दिया हो।

बाज़ार में घुसते ही कपड़े की एक दूकान पड़ती है। उसमें कपड़े इतने कम और तमाशबीन इतने ज़्यादा होते हैं कि ग्राहक दूर से ही हाथ जोड़ देते हैं। बाबा वहाँ बैठकर ताश खेला करते हैं। दूकानदार का नाम सरदारी है। लोग उसे दारी बज़ाज कहकर बुलाते हैं। दुकानदारी तो एक बहाना है। उसका असली शग़ल तो आती-जाती औरतों से छेड़छाड़ है।

—आओ नन्द के लाल!...आओ मदनगोपाल! कहो, क्या बात है? माँ ने भेजा है। तुम्हारी माँ से तो परमात्मा दुश्मन को भी बचाए!

उसे दारी बज़ाज के इस मज़ाक का कोई सिर-पैर समझ में नहीं आता। बाबा दूकान में नहीं हैं। अगर वह वहाँ होते तो उसे देखते ही बाहर चले आते। उन्हें बुलवाये जाने में उतनी ही शर्म आती है, जितनी उसे बुलाने में। वह बीरू को दूर से ही देखकर भाँप जाते हैं कि वह उनकी टोह में फिर रहा है। और फिर उठकर उसके आगे-आगे चलते हुए बुड़बुड़ाने लगते हैं—कहीं दो मिनट टिककर बैठने न देना मुझे, अच्छा!

—अच्छा, यह तो बता दो, नन्द के लाल, कि तुम्हारी माँ को इस वक़्त क्या तकलीफ़ हो रही है जो बाबा को बुलवा भेजा है?

दूकान में बैठे लोग हँसने लगते हैं।

बीरू शर्म के मारे पसीना-पसीना हो, ग़ुस्से से काँपता, ज़मीन में धँसता हुआ-सा आगे की ओर निकल जाता है।

सरदारी की दूकान से आगे कुछ दूकानें छोड़कर एक घड़ीसाज़ की दूकान है। उसकी दोनों टाँगें ग़ायब हैं। पहले-पहल न जाने क्यों, बीरू यही सोचा करता था कि उसकी टाँगें हैं तो, लेकिन वह उन्हें किसी तरह अपने नीचे छुपाकर बैठा रहता है। फिर एक बार उसने साफ़ देखा कि टाँगों के नाम पर उसके पास सिर्फ़ दो ठूँठ रह गये हैं, जिन्हें देखते ही इनसान कानों को हाथ लगा ले या आँखें मूँदकर अपनी टाँगों को कल्पना के कुल्हाड़े से काटकर काँप उठे। लेकिन उस घड़ीसाज़ के शरीर का ऊपर का हिस्सा इतना पुष्ट है कि सहानुभूति सिर्फ़ उसकी टाँगों से होती है, उससे नहीं। और उसकी चाल और ढाल और बोलचाल में कुछ ऐसा है कि कई बार तो देखने वाला यह चाहने लगता है कि अगर इसकी टाँगें होतीं, तो यह एक रौबदार हौए-सा नज़र आता।

बीरू घड़ीसाज़ की दूकान के सामने खड़ा-खड़ा भूल जाता है कि वह बाज़ार

किस काम के लिए आया था। वह दूकान भी ऐसी है कि लगता है कि इसकी टाँगें भी टूट चुकी हों। न दरवाज़ा, न छत, बस दो दूकानों के बीच अटकी-सी खड़ी है। लोग कहते हैं, यु टुंडा लाट—कोई उसे उसके सही नाम से नहीं पुकारता—बरसों से चला आता है और बरसों चलता चला जाएगा। उसके साथ के कई आदमी मर-खप गये, या इतने बूढ़े हो गये कि कभी बाज़ार में चलते-फिरते दिखाई नहीं देते। लोग कहते हैं कि वह बरसों से एक ही घड़ी को बना-बिगाड़ रहा है। वह चारों तरफ़ से सब्जी के टोकरों से घिरा रहता है। सब्जी के ग्राहक नहीं आते तो शायद वक़्त काटने के लिए उसी एक घड़ी को ठीक करने में व्यस्त हो जाता है। और जब सब्जी के ग्राहक होत हैं तो उनसे लड़ने-झगड़ने में। फिर सब्जी जाने कैसे और किस वक़्त बिकती है!

उसकी सब्जी प्राय: कई दिनों की बासी होती है। जब तक वह ताज़ी रहती है, वह भाव में एक पाई की कमी की माँग पर भी ऐसी बुरी तरह भिन्ना उठता है कि ग्राहक भाग खड़ा होता है। और जब सब्जी बासी हो जाती है तो वह राह चलते लोगों के नाम ले लेकर उन्हें आवाज़ें लगाता है, भई, अब तो पाव भर मटर खा लो, अब इससे ज़्यादा सस्ते और क्या होंगे? अब तो वे भी खा रहे हैं जिनके पास ज़हर खाने तक को एक फूटी कौड़ी नहीं। भाई दारी बज़ाज, क्या सारी उमर मूँग की दाल ही खाते रहोगे? अरे, भाई कभी गोश्त और सब्जी को भी मुँह से लगा लिया करो।

कई बार पड़े-पड़े उसकी तरकारियों के रंग ऐसे बदल जाते हैं कि उन्हें देखकर यह बताना मुश्किल हो जाता है कि वे टिंडे थे या परवल, करेले थे या तोरियाँ।

माँ कहती है, टुंडा नीयत का बुरा है। कम तोलता है। लेकिन बीरू ने कई बार देखा है कि तोलने तक बात कभी पहुँचती ही नहीं है। उससे कोई चीज़ माँगो तो वह अपने दोनों हाथों में थोड़ी-थोड़ी मिक़दार डालकर, एक-दो बार हिलाकर या ऊपर उछालकर जाने कैसे कह देता है, यह लो, आध सेर आलू। तराजू का इस्तेमाल वह तभी करता है जब कोई उसके हाथों की सूझ-बूझ को स्वीकार करने से बिल्कुल इनकार कर दे। ...भई, हमारे हाथ ही तराजू हैं। उमर बीत गयी यही काम करते। लेनी हो तो लो, नहीं तो सब्जी की दूकानें क़स्बे में और भी तो हैं।

इस चैलेंज को समझदार लोग कम ही मंज़ूर करते हैं। कौन टके की सब्जी के लिए क़स्बे की ख़ाक छानता फिरे!

बीरू दूकान के सामने खड़ा-खड़ा ऊब जाता है। वह भूल गया है कि बाबा को ढूँढ़ने के लिए घर से चला था। अचानक उसे शरारत सूझती है और वह बढ़कर टुंडे से कहता है—चार पैसे के टिंडे दो। लेकिन वह किसी दूसरे ग्राहक से उलझा हुआ है।

—अज़ी साहब, कद्दू से बेहतर और कौन-सी तरकारी है ? हकीम अज़मल खाँ के नुस्खों में इसका इस्तेमाल होता है। यूँ क्यों नहीं कहते कि लेना-देना कुछ नहीं आपको, यूँ ही दिल्लगी कर रहे हैं। वक़्त काटने का यह भी एक अच्छा तरीक़ा है, कोई-सी चीज़ उठा ली और लगे उसकी बुराई करने। आपकी तो ज़ुबान हिलती है, लेकिन साहब, कभी यह भी सोचा है कि दूसरे का वक़्त जाया हो रहा है। ख़ुदा किसी को ज़रूरत से ज़्यादा फ़ुरसत न दे!

वह ग्राहक भौचक्का-सा उसकी ओर देखता रहता है। शायद कोई नया है। बजाए हँसने या मुस्कराने के वह नाक सिकोड़कर कहता है—लेक्चर देने की ज़रूरत नहीं, हमें जो चाहिए, वही लेंगे। तुम दूकानदार हो कि...

—बस-बस, ज़्यादा बातें बताने की ज़रूरत नहीं। यहाँ से तशरीफ ले जाइए। किसी और का मग़ज चाटिए जाकर! दूकानदार हूँ, कोई आपका ज़रख़रीद ग़ुलाम नहीं हूँ।

बेचारा बाबा का-सा मुँह बनाये आगे की ओर चल देता है। बीरू उसके पीछे-पीछे हो लेता है, जैसे वही उसका बाबा हो। उस दुकान से आगे निकलते ही बीरू का ध्यान फिर ऊपर उमड़-घुमड़ रहे बादलों की ओर चला जाता है। बादल गड़गड़ा रहे हैं, मानो किसी पर मुसीबतों के पहाड़ तोड़ रहे हों। बच्चे अब भी गली में नाच रहे होंगे। बाज़ार में बारिश के स्वागत में कोई तैयारी नहीं हो रही। शायद बारिश की खुशी सबसे ज़्यादा बच्चों को ही होती है। सुबह सवेरे ही माँ ने दो श्लोक सुना दिये थे। देवी ने माँ की ओर देखकर दाँत पीस लिये थे और बाबा ने देवी और माँ दोनों को एक ही गाली की लपेट में लेकर उन्हें भाड़ में झोंक दिया था। सुबह से बीरू ने कुछ भी नहीं खाया। बादलों से पेट नहीं भरता।

सामने से बाबा और शामसिंह को आते देखकर बीरू रुक जाता है। शामसिंह की मुस्कराहट उसकी घनी मूँछों के पीछे से यूँ झाँक रही है जैसे चुहिया अपने बिल में से। और बाबा के माथे पर एक बड़ा-सा त्रिशूल तना हुआ है।

—यहाँ कैसे फिर रहे हो?

बीरू बाबा की अँगुली पकड़कर उन्हें घर की ओर खींचता है, जैसे अक़्लमन्द को इशारा दे रहा हो। बाबा इशारा समझ जाते हैं और वही इशारा शामसिंह को दे देते हैं।

बाबा की नज़रें नीचे झुकी हुई हैं, मानो वे अपने क़दम गिन रहे हों। उनके माथे पर बना हुआ त्रिशूल उसे बिल्कुल अच्छा नहीं लगता। उनकी ढीली-ढाली पगड़ी में से झाँकते हुए खिचड़ी बालों के गुच्छे, होठों के कानों में डूबती हुई पीली-पीली मूँछें, मैले दाँतों और गालों पर उगे हुए सफ़ेद-सफ़ेद...अच्छा है, बाबा कभी उसे चूमते नहीं।

गली में पहुँचकर बीरू बाबा की अँगुली छोड़कर दौड़ता हुआ बच्चों के

टोली में जा शामिल होता है और चिल्लाने लगता है—रब्बा रब्बा मींह बसा! साहडी कोठी दाने पा! बच्चे सहसा चुप हो जाते हैं। बीरू कुछ क्षण अकेला ही चिल्लाता रहता है। बच्चे कूदना बन्द कर देते हैं। बीरू कुछ क्षण अकेला ही कूदता रहता है। बच्चे उससे अलग होकर खड़े हो जाते हैं। बीरू रुककर उनकी ओर प्रश्नसूचक दृष्टि से देखता है। इस ख़ामोशी में उसे बाबा की कड़क सुनाई देती है। सभी बच्चों का ध्यान भी शायद उस आवाज़ की ओर मुड़ गया है। बीरू दुबारा कूदने या चिल्लाने के बजाय चुपचाप सिर झुकाये, कन्धों को ढीला छोड़, वापस अपने घर की ओर चल देता है।

बाबा ड्योढ़ी में खड़े हैं। उनकी नज़रें एक चिट्ठी पर जमी हुई हैं और हाथ काँप रहे हैं। माँ चुपचाप एक ओर खड़ी है। उसके बाल उलझे हुए हैं, जैसे अभी-अभी किसी से कुश्ती करके हटी हो। देवी काके को गोद में लिये एक कोने में बैठी है।

बाबा चिट्ठी को मरोड़कर, उसकी एक गोली-सी बनाकर नाली में फेंक देते हैं। फिर माँ की ओर एक ज़हरीली दृष्टि डालकर रोने लगते हैं।

बीरू समझ जाता है कि चिट्ठी में क्या लिखा है। कुछ दिन पहले एक चिट्ठी आयी थी, जिसमें दादी की बीमारी की सूचना थी। दादी मर गयी होगी। बीमारी की ख़बर सुनकर बीरू ने बाबा से दादो के बारे में कई सवाल किये थे। लेकिन इस समय बीरू एकदम ऐसा गम्भीर हो गया है जैसे ख़ूब समझता हो कि मौत और बीमारी में कितना और क्या अन्तर है।

—कब पूरी हुई?

—पिछले सोमवार को।

—चिट्ठी बहुत देर से मिली।

बाबा माँ की इस बात का कोई जवाब नहीं देते। उन्होंने अपने चेहरे को अपने हाथों से ढाँप लिया है।

कुछ देर बाद वह माँ से पूछते हैं—तुम्हारे पास कुछ पैसे हैं?

माँ 'न' में सिर हिला देती है।

बीरू को कुछ हैरानी होती है कि माँ ने सिर्फ़ इतना ही किया है।

—देवी, तुम्हारे पास?

—नहीं।

बाबा बीरू की ओर देखते हैं, जैसे उससे भी वही सवाल कर रहे हों। फिर वह सिर पकड़कर बैठ जाते हैं और उनका रोना बन्द हो जाता है। बीरू के मन में ख़्याल आता है कि दादी के साथ अगर माँ भी मर गयी होती तो भी उसे रोना नहीं आता।

इसके कुछ ही क्षण बाद बीरू ज़ोर-ज़ोर से रोने लगता है।

बारह

बाबा, माँ और काका वहाँ चले गये हैं, जहाँ दादी मरी है। उन्हें गये तीन-चार दिन हो गये हैं। इस बीच बीरू और देवी दादी के मरने के सदमे को क़रीब-क़रीब भूल गये हैं।

बीरू को अभी तक उस जगह का नाम लेना नहीं आता जहाँ बाबा और माँ गये हैं। बहुत टेढ़ा नाम है। वह कई बार उस नाम को उलट-पलट कर, कभी उसमें से एक आध अक्षर निकालकर, कभी उसमें एक आध अक्षर जोड़कर, अपने आप हँस पड़ता है। और देवी उसकी हँसी में अपनी हँसी मिलाकर कह देती है—तू तो बिल्कुल पागल हो गया है, बीरू!

हर समय बीरू देवी से इधर-उधर के कई उलटे-सीधे सवाल करता रहता है। लेकिन देवी ऊबती नहीं। बात से बात मिलाती है, सवालों का जवाब देती है, उसे छेड़ती या चिढ़ाती रहती है। दोनों ख़ूब ज़ोर से हँसते हैं और उस हँसी में कहीं किसी स्याही का कोई हल्का-सा दाग़ भी नज़र नहीं आता।

कई बार वह अकेला बैठा-बैठा दादी के और माँ के उन मुहावरों को दुहराता रहता है, जिन्हें वह बीच में बिल्कुल भूल गया था। कुर्बल कुर्बल...त्रुम त्रुम...तुखुतुखुं...

—तू ज़रूर एक दिन पागल हो जाएगा।

घर की फ़िज़ा में ऐसा हल्कापन आ गया है मानो हर ओर से ठंडी-ठंडी हवा चल रही हो। आभास होता है कि ड्योढ़ी के काले कोनों में फूल खिल उठे हों।

देवी ने माँ के चले जाने के बाद सारे घर को कुछ इस सलीके से झाड़ा-बुहारा है कि बीरू को अपने घर और देवी की सहेली पारो के घर में बहुत कम अन्तर नज़र आने लगा है। पारो का घर हमेशा लश-लश करता रहता है!

आग जलती है, लेकिन धुआँ नहीं उठता, जैसे माँ उसे भी अपने संग ले गयी हो। बीरू को हर समय हल्की-हल्की-सी भूख लगी रहती है।

—तेरा तो पेट ही नहीं भरता।

—पेट बातों से कैसे भरे?

—उन दोनों में हर समय ऐसी ही प्यार भरी छेड़छाड़ होती रहती है। देवी में माँ के जाते ही मानो फूल की-सी ताज़गी आ गयी हो।

देवी रोटी पका रही हो तो बीरू दबे पाँव उसके पास जाकर उसकी चोटी खींच लेता है, लेकिन इतने ज़ोर से नहीं कि बजाय हँसी के उसे ग़ुस्सा आ जाए। देवी और पारो आपस में खुसर-फुसर कर रही होती हैं तो बीरू उनके पास जाकर

दबी ज़ुबान में कहता है—माँ आ गयी!

वे दोनों यह सुनकर यूँ सहम जाने का अभिनय करती हैं कि बीरू खिल-खिलाकर हँस पड़ता है; हालाँकि वह जानता है कि वे सिर्फ़ बहाना कर रही हैं, उसे खुश करने के लिए।

कभी-कभी वह आटेवाला खाली टीन उठाकर उसे बजाने लगता है—आटा शाटा नुक शुक...तारे गये लुक छुप...

इस गाने के सभी शब्द उसके अपने हैं। इन शब्दों की योजना भी उसने स्वयं की है। देवी सुनती है तो दौड़कर पारो को बुला लाती है। वे दोनों तालियाँ बजाती रहती हैं और वह बिल्कुल रीछ की भाँति नाचने लगता है।

एक बार बीरू ने कुछ ऐसा ही हंगामा मचा रखा था कि जलालपुरनी किसी बहाने से अन्दर जा घुसी। बीरू का माथा उसी समय ठनका था कि जलालपुरनी माँ से सब कह देगी और ख़ूब नमक-मिर्च लगाकर कहेगी। इस विचार से उसके दिल की एक-आध धड़कन गुम ज़रूर हुई थी, लेकिन ज़्यादा देर के लिए नहीं। और फिर उसने महज़ जलालपुरनी को चिढ़ाने के लिए और भी अधिक ज़ोर से चिल्लाना शुरू कर दिया था। जलालपुरनी के दाँत नीचे को लटक आये थे। देवी ने झूठमूठ नाराज़गी ज़ाहिर करते हुए कहा था, बस अब रहने भी दे, बन्दर कहीं का! उसी समय पारो आ गयी थी। पारो ने आते ही बीरू को उठाकर अपने कन्धों पर बिठा लिया था। जाते समय जलालपुरनी कुछ बुड़बुड़ाती थी, लेकिन उसकी पीठ मुड़ते ही बीरू ने ऐसे ज़ोरों का क़हक़हा लगाया था कि देवी और पारो को अपने-अपने मुँह मे कपड़ा ठूँसना पड़ा था।

अभी कभी-कभी बीरू यूँ ही अकारण उछलने और चिल्लाने लगता है—रब्बा रब्बा मींह बसा...साहडी कोठी दाने पा...

गली के सब बच्चों से बीरू की गाढ़ी छनने लगी है। वे उसके घर बेधड़क आते हैं। कहते हैं, अब क्या है, अब तो बीरू की माँ यहाँ नहीं है। अब किसका डर है? वह उनके घर जाता है। लड़के कहते हैं, जब से बीरू की माँ गयी है, बीरू को तो पर लग गये हैं। और जब कभी उसके किसी दोस्त की माँ उससे पूछती, बीरू, तेरी माँ तो अब आने ही वाली होगी तो बीरू को ऐसा अनुभव होता है जैसे किसी ने उसके पर काट लेने की कोशिश की हो।

जाने से पहले माँ ने उसे बहुत हिदायतें की थीं। कहा था, देवी का ख़्याल रखना। जहाँ-जहाँ जाए, उसके पीछे-पीछे जाना। जिस-जिससे मिले, मुझे बताना। घर बैठना। सूरज डूबने से पहले हमेशा घर लौट आना। अपनी सेहत का ख़्याल रखना। कोई ऐसी-वैसी चीज़ मत खाना। घर में हर वक़्त बच्चों की भीड़ न लगाये रखना। दरवाज़ा अन्दर से बन्द रखना। धूप में मत घूमना। बारिश में मत नहाना।

देवी का पीछा तो कभी भी न छोड़ना।...

आज उनका खाना पारो के घर है। देवी और पारो रसोई में बैठी बातें कर रही हैं। बीरू को लगता है जैसे वे दोनों किसी बहुत ही जटिल गुत्थी को सुलझाने की कोशिश कर रही हों। वह काफ़ी देर से उनकी बातों को सुन रहा है। समझने की व्यर्थ कोशिश के बाद अपने खेल में मस्त हो जाता है। खाने पर कुछ लोग और भी आ रहे हैं। देवी और पारो की बातों का सम्बन्ध उन्हीं लोगों से है।

पारो की माँ एक कोने में बैठी माला फेर रही है। उसकी आँखें बन्द हैं और होठ हिल रहे हैं। बीरू उसकी ओर देखकर मुस्करा रहा है। उसका जी चाहता है कि आगे बढ़कर माला छीन ले, और भाग जाए। लेकिन फिर उसका ध्यान देवी और पारो की ओर मुड़ जाता है। वे दोनों धीरे-धीरे गा रही हैं। कुछ देर तक ख़ामोशी के साथ गाना सुनते रहने के बाद वह भी गाने लगता है। वे दोनों गाना बन्द करके हँसना शुरू कर देती हैं। बीरू लपककर उन दोनों की चोटियाँ खींच लेता है। वे ऊई-ऊई करती और हँसती जाती हैं। जब बाबा माँ की चोटी को खींचते मरोड़ते हैं तो माँ भी ऊई-ऊई करती है, लेकिन उसकी आवाज़ में जो दर्द और दुख होता है, उसके स्थान पर देवी और पारो की आवाज़ में एक ऐसा उन्माद है कि बीरू की पकड़ ढीली पड़ने के बजाय और मज़बूत हो जाती है। उनकी ऊई-ऊई में खीझ की झलक आते ही वह उन्हें छोड़ देता है और अपने हाथों की ओर देखते ही उसे फिर बाबा का ध्यान आ जाता है। बाबा माँ को पीटने के बाद हमेशा अपने हाथों की ओर कुछ इस तरह देखा करते हैं जैसे उनसे कुछ पूछ रहे हों। और प्रायः उसके बाद वह तड़-तड़ अपना माथा पीटने लगते हैं।

बाबा की याद में ही बीरू हौले-हौले झूठमूठ अपना माथा पीटने लगता है। देवी और पारो एक साथ उसकी ओर घूर कर देखती हैं। और वह खिसिया जाता है।

उसी समय एक स्त्री और पुरुष अन्दर आते हैं। देवी और पारो झट उठकर उन्हें नमस्ते करती हैं। बीरू कुछ देर के लिए कटकर एक तरफ़ हो जाता है। वे लोग बैठ जाते हैं और देवी और पारो हँसती हुई, एक-दूसरे के पीछे भागती हुई दूसरे कमरे में चली जाती हैं। बीरू अकेला रह जाता है।

—तुम किस क्लास में पढ़ते हो?

—चौथी में।

—कौन-सी किताब पढ़ते हो?

बीरू से कोई जवाब नहीं बन पाता।

—तुम्हारे मास्टर का नाम क्या है?

—मास्टर फ़क़ीर मुहम्मद।

—ओह!

बीरू को ये प्रश्न और इन प्रश्नों के पूछने का ढंग अच्छा नहीं लगता। इस स्त्री को तो उसने पहले भी कई बार देखा है। पहली नज़र में बहुत मोटी नज़र आती है, फिर मानो नज़रें उसके मोटापे की जल्दी ही अभ्यस्त हो जाती हैं और मोटापे का स्थान उसका रंग ले लेता है, जो पहली नज़र में इतना काला नज़र नहीं आता, जितना बाद में। इस समय लेटी हुई कितनी मोटी दिखाई देती है! बीरू को ज़्यादा पसन्द नहीं। बीरू को बहुत कम औरतें पसन्द आती हैं। और जिस औरत की कोई भी चाल माँ से मिलती-जुलती हो, वह तो उसे हरगिज़ पसन्द नहीं आती। इस मोटी-सी और काली स्त्री की कौन-सी बात माँ से मिलती-जुलती है, वह नहीं जानता।

उस स्त्री के साथ जो आदमी है, वह इतना बड़ा भी नहीं कि वह उसका पति हो और इतना छोटा भी नहीं कि उसका लड़का हो। और, न जाने क्यों, बीरू के दिमाग़ में इन दो रिश्तों के सिवाय और कोई तीसरा रिश्ता इस समय बिल्कुल आ ही नहीं रहा। उसका रंग गोरा है और बाल घुँघराले। बहुत लम्बा आदमी है। अगर एड़ियाँ उठाकर खड़ा हो जाय और हाथ ऊपर उठा दे तो छत को छू ले। बैठा भी यूँ नज़र आता है जैसे खड़ा हो। जिस तरह वह उस स्त्री से सटकर बैठा है, बीरू को अच्छा नहीं लगता। वह तो उस पर गिरा जा रहा है। बिल्कुल उसके पेट के साथ उसकी पीठ लगी है। चारपाई दोनों के बोझ से काफ़ी नीचे को धँस गयी है। उसकी आँखों में बिल्ली की-सी चमक और नीलापन है। बिल्ली की-सी आँखोंवाले बहुत चालाक होते हैं। पता नहीं, उसने यह धारणा किस आधार पर या किसके कहे पर बना ली है।

वह स्त्री अब उस आदमी की पीठ पर हाथ फेर रही है और वह आदमी उस स्त्री की पीठ पर। बीरू को अच्छा नहीं लगता, लेकिन उसकी नज़रें उन दोनों पर ऐसे गड़-सी जाती हैं कि शक हो कि उसे अच्छा ही लग रहा है।

बीरू खँखारता है, जैसे इस तरह दोनों के बीच एक पर्दा गिरा देना चाहता हो।

ये लोग आते ही चारपाई पर इस तरह ढेर हो गये हैं, जैसे बहुत दूर से पैदल चलकर आये हों। चारपाई बेचारी उनके बोझ से फ़र्श से लगी जा रही है। वह स्त्री ज़रा भी हिलती है तो उसकी चूलें चरमराने लगती हैं। ये अलग-अलग क्यों नहीं बैठ जाते? दूसरी चारपाई खाली पड़ी है! बीरू का जी चाहता है कि उनसे कह दे कि चारपाई टूट जाएगी। इकट्ठे बैठे हुए न जाने वे क्यों उसे बुरे-से लग रहे हैं, जैसे रास्ते में पड़ा कोई मरा कुत्ता हरएक को बुरा लगता है। देवी और पारो ही आ जाएँ...

—ज़रा इधर तो आओ। वह आदमी बीरू को बुलाता है।

—रहने भी दो, नरेश। वह स्त्री उससे बहुत धीमे से कहती है।

बीरू को न उस आदमी का बुलाना अच्छा लगता है और न उस स्त्री का मना करना। वह अपनी जगह से नहीं हिलता। वह स्त्री आँखें बन्द किये लेटी है और उसके हाथ उस आदमी के घुँघराले बालों से उलझे हुए हैं। बीरू को यह भी अच्छा नहीं लगता। उसे लगता है जैसे वे दोनों पारो के घर बैठे कोई छोटी-सी चोरी कर रहे हों। वह चुपचाप रसोई की ओर यूँ चल देता है जैसे पारो को उनकी चोरी के बारे में बताने जा रहा है।

देवी और पारो रसोई में हैं। लेकिन पहले की तरह चहचहा या गुनगुना नहीं रहीं। उनके चेहरों पर कुछ रहस्यपूर्ण गम्भीरता-सी आ गयी दिखाई देती है। वे खुश तो अब भी नज़र आती हैं, लेकिन ऐसा लगता है, जैसे उस खुशी के साथ ही साथ उन दोनों पर कोई बोझ भी आ पड़ा हो। इस समय वे इस बोझ को सँभालने में ही व्यस्त नज़र आती हैं।

रसोई में बिल्ली घूम रही है। बीरू पाँव पटककर शी करता है! और देवी कहती है—अरे, तू यहाँ खड़ा है? जा, जाके उन लोगों के पास बैठ न!

—वे लोग हैं कौन?

—अरे बहनजी को नहीं जानता? कई बार हमारे घर आयी हैं। अरे, वही, जो लाहौर में रहती हैं।...अरे बाबा, वही जिन्हें माँ पूतना दाई कहती है!

बीरू को उस स्त्री के सभी नाम एक साथ याद आ जाते हैं। उसका अपना असली नाम भी और वे भी, जो माँ ने यदा-कदा दिये हैं। माँ उसे पूतना के अलवा काली-कलूटी, बगला भगत, मोटी मटक, मीठी छुरी और फफ़्फेकुट्टन भी कहती है।

—और उसके साथ कौन है?

—एक आदमी। पारो जवाब देती है।

—उसका क्या लगता है?

—उसका तो जो लगता है सो वह ही जाने। तुम अब यह पूछो कि तुम्हारी बहन का क्या लगता है!

देवी शरमा जाती है। पारो हँसने लगती है। और बीरू को कुछ समझ में नहीं आता कि आख़िर बात क्या है! उसका कुतूहल और बढ़ जाता है।

—बताओ न, वह कौन है? नहीं तो माँ के आने पर सब माँ से कह दूँगा!

—क्या कह दोगे?

—सबकुछ।

—कह देना। तब तक यह यहाँ रही तो ना! यह तो बस अब उड़ी कि उड़ी!

—कहाँ?

—इसी आदमी के साथ!

देवी आदमी के साथ!

देवी पारो की ओर रोनी-सी होकर देखती है। बीरू देवी की ओर ग़ुस्से भरी निगाह डालकर, पारो की बात को समझने की व्यर्थ कोशिश कर, उन दोनों से कुछ नाराज़ होकर फिर वापस उसी कमरे में चला जाता है। अब वे दोनों साथ-साथ लेट गये हैं। उसे उसके आगे का कुछ पता नहीं चलता। वह दो-एक क्षण चुपचाप उनकी ओर देखते रहने के बाद फिर तेज़ी से वापस रसोई की ओर लौट जाता है, जैसे जाते ही उनके खिलाफ़ कोई शिकायत कर देगा। लेकिन रसोई में पहुँचकर फिर उसे कुछ पता नहीं चलता कि क्या कहे और कैसे कहे। उसे यह भी ठीक तरह से मालूम नहीं कि वह कुछ कहना चाहता भी है कि नहीं। देवी और पारो फिर न जाने किस उलझन में इस क़दर लीन हो गयी हैं कि उन्हें उसके आने का कुछ पता ही नहीं चलता। उसका जी चाहता है कि वह ज़ोर-ज़ोर से चिल्लाने लगे या कोई चीज़ उठाकर फ़र्श पर दे मारे। अपने अन्दर उठते हुए इस उबाल को रोकने की पूरी कोशिश करने के नतीजे के तौर पर उसकी आँखों में से आँसू फूट निकलते हैं और वह बाहर निकल जाता है।

बाहर गली में खेलते हुए बच्चों को देखकर उसे अन्दर की बातें भूल जाने में आसानी हो जाती है। वह असलम के घर की ओर चल देता है। जब से छुट्टियाँ हुई हैं, वह असलम से एक बार भी नहीं मिला। फिर कुछ दिन बाद माँ आ जाएगी तो जाना मुश्किल हो जाएगा। माँ को मुसलमानों से बहुत चिढ़ है। कहती है, मुसलमान बहुत बुरे होते हैं। लेकिन बीरू को न जाने क्यों मुसलमान इतने अच्छे लगते हैं। हिन्दू लड़कों के जिस्मों से उसे घी की बू आती है और मुसलमान लड़कों के जिस्मों से पसीने की। और न जाने क्यों उसे घी की बू से घृणा है और पसीने की बू से उतना ही प्यार।

थोड़ी दूर जाकर उसे ख़्याल आता है कि उसे देवी से कह देना चाहिए था कि वह असलम के घर जा रहा है। लेकिन साथ ही उसे यह सोचकर कुछ खुशी होती है कि देवी पीछे से परेशान होगी, उसे ढूँढ़ेगी। होने दो। और उसके क़दम और तेज़ी से असलम के घर की ओर उठने लगते हैं। आज शाम तक वह असलम के घर ही रहेगा। असलम कहता था, उसकी बहन हफ़ीज़ा लाहौर से आयी है। उससे लाहौर के बारे में पूछेगा। देवी और पारो जाएँ भाड़ में!

असलम अपने घर के आँगन में खड़ा लंगोट बाँधे मालिश कर रहा है। बीरू से पूछता है, मालिश करोगे? बीरू सिर हिला देता है। असलम उसे मालिश के फ़ायदे बताने लगता है। बीरू मुस्कराता रहता है। वह असलम से उसकी बहन के

बारे में पूछना चाहता है। *असलम की माँ से तो वह एक बार पहले मिल चुका है। असलम उसे अपनी बाँहों में मचलती हुई मछलियाँ दिखा रहा है। उसका शरीर तेल से चमक रहा है। अभी-अभी उसने पचीस डंड किये हैं। वह बीरू से कह* रहा है कि पढ़ाई में कुछ नहीं रखा, असली चीज़ सेहत है, और सेहत के लिए मालिश बहुत ज़रूरी है।

—असलम, तुम्हारी बहन चली गयी?

—नहीं, अभी मिलाऊँगा। वह नहा रही है। कुश्ती लड़ोगे मेरे साथ?

—न बाबा!

—अच्छा, तो तुम बैठो। मैं नहा लूँ। फिर ताश खेलेंगे।

बीरू को ताश खेलना नहीं आता। आज वह असलम से सीख लेगा। अगर माँ को पता चल गया तो वह सिर पीटकर कहेगी, जैसा बाप, वैसा बेटा। लेकिन उसे पता नहीं चलेगा। असलम का घर उसके घर से बहुत दूर है। और माँ न जाने कब वापस आएगी। न आए तो कितना अच्छा हो! देवी भी माँ के चले जाने से कितनी खुश है! पारो ने कहा था, देवी माँ के आने से पहले उस आदमी के साथ उड़ जाएगी। वह आदमी कौन है? कोई भी हो, देवी उसके साथ उड़ नहीं सकती। यह कैसे हो सकता है? उड़ेगी तो वह भी उसके साथ उड़ जाएगा। फिर माँ उन्हें ढूँढ़ती फिरेगी। और वे दोनों माँ के सिर के ऊपर खुले आसमान में उड़ते हुए माँ की चीख़-पुकार सुना करेंगे। बीरू इस विचित्र कल्पना पर मुस्करा देता है।

—अम्मा, रास्ते से हट जाओ! असलम की सवारी आ रही है।

अन्दर से असलम की अम्मा के हँसने की आवाज़ सुनकर बीरू को अपनी माँ का रोना याद आ जाता है।

कुछ देर बाद असलम की अम्मा बाहर आ जाती है और उसे अकेला खड़ा देखकर कहती है—अन्दर आ जाओ, बेटा। असलम नहाने में बहुत देर लगाता है। तुम हफ़ीज़ा के पास बैठो। वह नहा चुकी है।

बीरू इस प्यार भरे न्यौते पर पिघल-सा जाता है।

—कौन आया है, अम्मा? हफ़ीज़ा बाल बना रही है।

असलू का दोस्त, बीरू।

—अम्मा, फिर मुझे असलू कह रही हो? असलम ग़ुसलखाने में से सिर निकालकर कहता है। इस पर हफ़ीज़ा और बीरू हँस उठते हैं। असलम उनकी हँसी की नक़ल उतार कर दरवाज़ा बन्द कर लेता है। हफ़ीज़ा कहती है, असलू बहुत बदमाश है! बीरू झेंप जाता है। अब वे दोनों कमरे में अकेले हैं। हफ़ीज़ा बहुत बड़ी है। उसका सारा शरीर बहुत गठा हुआ है। एक बार उसने देवी को नहाते हुए देखा था। हफ़ीज़ा को देखते ही वह दृश्य उसकी आँखों के सामने आ जाता है।

हफ़ीज़ा बाल बनाते हुए बीरू की ओर मुँह करके खड़ी हो जाती है। उसका कद देवी से कुछ छोटा है। लेकिन उसका रंग देवी से बहुत अच्छा है। देवी के रंग में पीलापन है। हफ़ीज़ा का रंग मिट्टी के पके बरतन-सा है। हिन्दू दालखोर होते हैं, इसलिए उनके रंग में भुसभुसापन होता है, असलम ने एक बार इस बात पर बहुत कुछ कहा था।

जब हफ़ीज़ा कंघी करते-करते अपने हाथों को पीछे की ओर ले जाती है तो उसकी कमीज़ ऊपर को खिंच जाती है और बीरू की नज़रें उसके सीने पर जम जाती हैं।

—अच्छा, फिज्जो, तेरा सिंगार कब ख़त्म होगा?

असलम निचुड़ता हुआ ग़ुसलखाने से बाहर निकलता है। हफ़ीज़ा दाँत पीसकर उसकी ओर देखती है और बीरू के दाँत अपने आप जुड़ जाते हैं।

—हमारे लिए कुछ खाने को लाओ, नहीं तो हम दोनों तुम्हें ही खा जाएँगे।

हफ़ीज़ा हँसती हुई अन्दर चली जाती है। बीरू असलम से हफ़ीज़ा के बारे में कुछ पूछना चाहता है, लेकिन उसका नाम लेने में उसे शर्म महसूस होती है। इसलिए कुछ भी पूछ नहीं पाता। लाहौर के बारे में उसने बहुत कुछ सुन रखा है। शायद हफ़ीज़ा बिना पूछे ही लाहौर की कुछ बातें उन्हें बताए।

हफ़ीज़ा एक रक़ाबी में कुछ सालन और दूसरी में दो-तीन बड़ी-बड़ी रोटियाँ डाले वापस लौटती है। उनकी अम्मा भी आ खड़ी होती हैं। दोनों बीरू की ओर देखती हैं। बीरू समझ जाता है कि वे यह देखना चाहती हैं कि वह उनके घर की रोटी खाएगा कि नहीं। बीरू को सख़्त भूख लगी हुई है। रक़ाबी से उठती हुई भाप और खुशबू से उसकी भूख और भी चमक उठती है और वह माँ की बतायी हुई तमाम हिदायतों को भूलकर बिना झिझक असलम के साथ बैठकर खाने लगता है। हाथ धोना भी भूल जाता है। हफ़ीज़ा भी उनके साथ आ बैठती है। असलम कहता है, अम्मा, तुम भी आ जाओ न। अम्मा कहती है, नहीं, तुम लोग खा लो। कुछ बचेगा तो मैं भी खा लूँगी! इस पर ख़ूब हँसी होती है। मिर्च से बीरू का मुँह जल रहा है। लेकिन इतना मज़ेदार खाना उसने अपने घर में कभी नहीं खाया।

खाना खाते-खाते बीच बीच में असलम गाने लगता है :

मुहम्मद न होते, ख़ुदाई न होती
ख़ुदा ने यह दुनिया बनाई न होती
जमाअत में मेरी पिटाई न होती
फ़िज्जो के सिर पे रज़ाई न होती
ख़ुदा ने ये अम्मा बनाई न होती
मुहम्मद न होते, ख़ुदाई न होती

इस पर असलम की अम्मा उससे नाराज़ होती है। कहती है—कुछ तो शर्म कर, असलू के बच्चे! इस तरह ख़ुदा और रसूल का मज़ाक उड़ाकर क्यों गुनाह अपने सिर लेता है। न जाने, तेरी अक़्ल को क्या हो गया है।

असलम झट जवाब देता है—अम्मा, एक दिन मैं बहुत गहरी नींद सोया हुआ था कि इस फ़िज्जो ने मेरी सारी अक़्ल चुरा ली। इस बेचारी के पास अपनी तो थी नहीं!

हफ़ीज़ा हँसते हुए बीरू से पूछती है—क्या तू भी अपनी बहन को इसी तरह तंग करता है?

बीरू चुप रहता है। वह अपनी बहन और अपनी माँ के बारे में चुप ही रहना चाहता है, न ही कुछ सुनना चाहता है।

लेकिन असलम की अम्मा कह रही है—बीरू बेटा, कभी अपनी माँ से मिला। उन्हें एक दिन हमारे घर ले आ या हमें अपने घर ले चल।

बीरू को इन दोनों बातों में से कोई भी बात मंज़ूर नहीं, यह उनसे कैसे कहे! सो वह चुप रहता है। माँ का नाम आते ही उसका दिमाग़ दो हिस्सों में बँट जाता है और इस बँटवारे की परछाइयाँ उसके चहरे पर भी साफ़ दिखाई दे रही हैं।

—अरे बेटा, खाना खाना क्यों बन्द कर दिया?

—बस, मेरा पेट भर गया।

—इसका पेट तो चिड़िया के पेट-सा है।

—असलू, तू भी अपने दोस्त से सबक़ सीख!

हफ़ीज़ा ने भी खाना बन्द कर दिया है। बीरू अब उसकी ओर देखने के बजाय सिर नीचा किये अपने घर के बारे में सोच रहा है। शायद माँ और बाबा आ गये हों। असलम खाना खा ले तो वह घर वापस चला जाएगा।

—असलू, आज तो तुम्हारा दोस्त मुसलमान बन गया!

—हफ़ीज़ा, अगर इसकी माँ को पता चल गया तो इसका हमारे घर आना जाना बन्द हो जाएगा।

—मेरी माँ आजकल यहाँ नहीं है।

—कहाँ गयी हुई है?

—जहाँ दादी रहती हैं।

—तेरी दादी अभी तक ज़िन्दा है?

—नहीं, मर गयी है। इसीलिए तो माँ वहाँ गयी है। बाबा भी साथ गये हैं।

—अपने अब्बा को बाबा कहते हो?

—हाँ।

—हमारे यहाँ तो दादा को बाबा कहते हैं।

असलम खाना खा चुका है।

—अच्छा, मैं अब चलता हूँ।

—ताश नहीं खेलेगा?

—मुझे ताश खेलना नहीं आता।

—अरे वाह! तो तुझे आता ही क्या है? क्यों, हफ़ीज़ा, तुम इसे ताश खेलना सिखा दोगी?

—जाने दो बेचारे को, उसकी माँ उसका इन्तज़ार कर रही होगी।

असलम की अम्मा, न जाने क्यों, बात-बात में माँ का नाम ले रही है।

—इसकी माँ यहाँ नहीं है, अभी तो इसने बताया था। क्यों, बीरू?

—हाँ, लेकिन बहन तो यहीं है।

—तो तू बहन से भी इतना डरता है?

—नहीं तो और क्या, तेरी तरह बेहया थोड़े ही है, जो बड़ी बहन से न डरे!

—अच्छा, तो चलता हूँ।

—चल, मैं तुझे छोड़ आऊँ।

—नहीं, मैं अकेला ही चला जाऊँगा। बीरू असलम को अपने घर नहीं ले जाना चाहता। शायद पीछे माँ आयी बैठी हो।

घर लौटते हुए वह असलम, उसकी अम्मा, उसकी बहन और उनके घर के बारे में सोचता रहता है। फिर वह उन सबका मुक़ाबला अपने आपसे, अपनी माँ से, अपनी बहन से, और अपने घर से करने लगता है। इन दोनों के बीच एक लकीर-सी खींच देता है। और उसका चेहरा और भी धुँधला पड़ जाता है। असलम मुझसे कितना लम्बा ऊँचा है! उसकी बाँहें कितनी मोटी हैं। हर वक़्त हँसता रहता है। मुझसे कितना ज़्यादा खाता है। अपनी बहन से कितने मज़ाक करता है! उसके कपड़े कितने साफ़-सुथरे रहते हैं! असलम की अम्मा कितनी ख़ूबसूरत है! जब हँसती है तो कितनी प्यारी लगती है! माँ के कपड़े हमेशा गन्दे रहते हैं। नाड़ा हमेशा नीचे लटकता रहता है। बालों की रूखी-सूखी लटें इधर-उधर उड़ती रहती हैं। हाथों और ज़ुबान में एक-सा खुरदरापन है। गाल पिचके हुए। जगह-जगह से दाँत ग़ायब। चेहरे पर हमेशा हवाइयाँ उड़ती रहती हैं। हरएक से उसकी लड़ाई रहती है। और असलम का घर! और असलम की बहन हफ़ीज़ा की शक्ल पारो से मिलती है। देवी की शक्ल तो माँ से मिलती ही है, उन दोनों की आदतों में भी ज़्यादा फ़र्क़ नहीं। बाबा को जब ग़ुस्सा आता है तो वह हमेशा यही कहते हैं, तुम दोनों से तो भगवान बचाए! असलम के अब्बा यहाँ नहीं हैं। बाबा की ऐनक, जब वह चारपाई में धँसे हुए काग़ज़ों पर झुके हुए होते हैं, उनकी नाक की नोक पर ऐसे टिकी रहती है कि अब गिरी, अब गिरी। फ्रेम की एक कमानी टूटी ही रहती है। उनकी दाढ़ी

जब देखो, बढ़ी रहती है। लगता है, जैसे उन्होंने अपने चेहरे पर एक काँटेदार चेहरा और चढ़ा लिया हो। उनके पाँव की अँगुलियों में बड़ी-बड़ी मोटी गाँठें पड़ी रहती हैं। पता नहीं, वह चलते कैसे हैं। उनका सिर बहुत बड़ा है। इसीलिए शायद वह उसे ठोकते-पीटते रहते हैं। वह किसी क्षण भी काग़ज़ों पर से नज़र हटाकर दहाड़ना शुरू कर देते हैं।

घर पहुँचते-पहुँचते बीरू को घर की हरएक चीज़ से घिन-सी आने लगी है। और वह अपने गले में उभरते हुए ग़ुस्से के बड़े-बड़े गोलों को अन्दर धकेलता, मुट्ठियाँ बन्द करता खोलता, अपनी आँखों में चटक रही चिनगारियों की जलन में झुलसता आख़िर अपने घर के दरवाज़े पर आ खड़ा होता है।

दरवाज़ा बन्द है। माँ और बाबा नहीं आये। देवी अभी तक पारो के घर में ही बैठी हुई है। लेकिन उसका जी पारो के घर से भी अब ऊबने लगा है। उसकी समझ में नहीं आता कि वह क्या चाहता है। लेकिन इतना वह भी जानता है कि कहीं कोई चीज़ ऐसी है जो अगर उसे मिल जाए तो उसकी सारी बकेली दूर हो जाए। वह क्या चीज़ है, कहाँ है, कैसे मिल सकती है, इसका अभी उसे कुछ ज्ञान नहीं।

कुछ बच्चे उसके पास आ खड़े होते हैं। वह चुप है। बच्चे कुछ देर यूँ ही उसके इर्दगिर्द घेरा डाले खड़े रहते हैं, जैसे कोई तमाशा देख रहे हों। वह तटस्थ मुद्रा में बैठा रहता है। मेरी बला से!

फिर ख़ामोशी तोड़ने के ख़्याल से ही शायद एक बच्चा उससे पूछ लेता है—बीरू, तेरी माँ कहाँ चली गयी?

—दादी के घर।

—तेरी दादी मर गयी है ना?

—हाँ।

—तो फिर आओ, एक नया खेल खेलें। तुम रोओ, हम तुम्हें चुप कराएँगे। बड़ा मज़ा आएगा!

बीरू को लड़कों के इस सुझाव में दोस्ती की भावना नज़र आती है। वह मान जाता है और झूठमूठ मुँह बिसूरने लगता है।

—अरे भई, क्यों रोते हो!

—रोने से कभी कोई वापस लौटा है!

—अब तो धीरज धरो। रोने से कुछ फ़ायदा नहीं होता।

—अरे यार, क्या रो-रोकर अपनी जान दे दोगे? कुछ हौसला करो, भाई।

—होनहार बहुत बलवान है।

—किसी का कोई बस नहीं चलता।

—नानक दुखिया सब संसारा।
—एक दिन तो सभी को मरना ही है आख़िर।
—बेचारे की दादी अचानक मर गयी।
—मरते ही बेचारी की साँस निकल गयी।
—बहुत ही अच्छी थी बेचारी।
—हाँ, थी। लेकिन मौत किसी का लिहाज़ नहीं करती।
—भई, एक दिन तो सबों को जाना है।
—इसीलिए तो इस बेचारे से कह रहे हैं कि अब चुप कर जाए।
—भई, चुप कर जाओ ना, जो होना था वह तो हो चुका।
—बेचारा करे भी क्या! इस बेचारे की माँ भी तो न होने के बराबर है।
—कैसे?
—भई, इसे हर वक़्त डाँटती रहती है। इसके बाबा से लड़ती-झगड़ती रहती है। इसकी बहन को हरदम गालियाँ देती रहती है। बस, बेचारे की एक दादी थी, उसे भी भगवान ने अपने पास बुला लिया। यह बेचारा तो यतीम हो गया कि नहीं?
—हो गया! बहुत से लड़के एक साथ जवाब देते हैं।
—ज़िन्दगी का कुछ भरोसा नहीं।
—पाँच तत्त्व का पुतला...
—इस पर ख़ूब ज़ोरों की हँसी होती है।
खेल बहुत कामयाब रहा है। लेकिन बीरू तो अब सचमुच रो रहा है। बच्चे घबरा जाते हैं।
—यह तो सचमुच रोने लगा।
—रोता रहे, हमने इसे क्या कहा है?
—यह बुद्धू है।
—साले, अगर रोना था तो पहले 'हाँ' क्यों की थी?
—अगर इसकी बहन आ गयी तो?
—आ जाए, वो हमारा क्या छीन लेगी?
इस पर सब हँसते हैं। बीरू उठकर उन सबको गालियाँ देने लगता है।
—मारो साले को!
—पकड़कर गाड़ दो!
—कचूमर निकाल दो!
सभी चिल्लाते तो हैं, लेकिन आगे कोई नहीं बढ़ता। दरअसल वे लड़ने के लिए तैयार नहीं। इसलिए नहीं कि वे उससे डरते हैं, या उसकी माँ से डरते हैं, बल्कि इसलिए कि उन्हें इस तरह उसे कष्ट देने में जो मज़ा आ रहा है, वह उसे

मारने-पीटने में शायद न आए।

—अच्छा हुआ, बच्चू की दादी मर गयी!

—अगर हमसे लड़ेगा तो एक दिन इसकी माँ भी मर जाएगी।

—जा, बुला ला अपनी माँ को!

—जा, घुस जा माँ की गोद में!

—भागो! वह देखो, हरामी की बहन आ रही है! दौड़ो!

लड़के भाग जाते हैं। देवी को अपनी ओर आता देखकर बीरू खुलकर रोने लगता है।

—क्या हुआ, बीरू? तू चला कहाँ गया था? दिन भर कहाँ घूमता रहा? अरे, अब रोता क्यों है? बोल क्या हुआ है, किसने मारा है?

देवी को परे हटाकर पारो बीरू को ऊपर उठाने की कोशिश करती है। पारो के गर्म-गर्म और नर्म-नर्म शरीर के स्पर्श से बीरू का रोना बन्द तो नहीं होता, लेकिन उसे शान्ति मिल जाती है।

तेरह

एक रात वह और देवी पारो के घर सोते हैं। वह पारो के साथ सोता है। देर तक उसे ठीक तरह से नींद नहीं आती। नींद पारो और देवी को भी नहीं आती। वे दोनों न जाने कितने और क्या-क्या क़िस्से एक-दूसरे को सुनाती रहती हैं। वह आँखें बन्द किये पारो के साथ सटा पड़ा रहता है। कभी-कभी पारो उसे अपनी छाती से भींचकर चूम लेती है और उसकी आँखें बोझिल हो जाती हैं। लेकिन फिर उसका ध्यान उन दोनों की बातों की ओर लग जाता है।

—पारो, माँ को कौन बताएगा?

—तुम्हें ही बताना पड़ेगा।

—मेरी तो वो जान ले लेगी।

—तो फिर बहनजी से कह।

—बहनजी तो माँ को एक आँख नहीं भाती।

—लेकिन वो तेरे बाबा से तो बात कर सकती है।

—उनसे तो तुम भी कह सकती हो।

—तो फिर क्या है!

असली डर तो माँ का है। सुनेगी तो बस पागल हो जाएगी। पारो, मेरा तो दिल बैठ जाता है यह सब सोचकर।

—अगर इतना ही कमज़ोर दिल था, तो पहले ही ख़्याल रखती।

—पारो, मैं तो सोचती हूँ, बैठे-बिठाये एक मुसीबत मोल ले ली।

—मुसीबत? अजीब बातें कर रही हो? उस दिन तो देखते ही ऐसी मोहित हुई कि अगर मैंने रोका न होता तो सबके सामने लिपट गयी होती उससे!

—उस दिन पता नहीं, क्या हो गया था मुझे। लेकिन अब वैसा जोश मुझमें नहीं रहा। सच्ची बात है।

ये दोनों उसी आदमी के बारे में बात कर रही हैं। बीरू कुछ डर जाता है। उसकी आँखों के सामने माँ की शक्ल कौंध जाती है।

—बाल देखे, कितने ख़ूबसूरत हैं!

—और आँखें!

—और नाक!

—और रंग कितना गोरा है!

—मैं तो बस आवाज़ पे मर गयी! गाता कितना अच्छा है!

—अरी, उस आवाज़ पर कौन नहीं मरेगा? अगर तूने पहल न कर ली होती तो मैं खुद मर गयी होती।

—तो अब तुझे कौन रोकता है?

—घबराती क्यों है, मैं तो मज़ाक कर रही थी। देखा, कितना लम्बा है! तेरी तो जान निकालके रख देगा!

—हट, बेशर्म!

—सच कहती हूँ।

—तेरे मुँह से राल क्यों टपकती है? तुझे इससे भी अच्छा मिलेगा।

—अब रहने भी दे!

पारो देवी के कान में कुछ कहती है, जिसे बीरू सुन नहीं पाता। लेकिन इन दोनों की बातचीत का विषय अब कुछ-कुछ उसकी समझ में आने लगा है। उसे उनकी बातों में बहुत रस आ रहा है।

—एक बात कहूँ, बुरा तो नहीं मानोगी? सच कहती हूँ, अगर ऐसे आदमी के लिए माँ-बाप को छोड़ना पड़े तो छोड़ देना चाहिए।

देवी कोई जवाब नहीं देती। फिर कुछ देर बाद कहती है—माँ से तो जितना मैं तंग आयी हूँ, वह मैं ही जानती हूँ।

—अब क्यों घबराती है, थोड़े ही दिनों की तो बात है।

—तो तुझे हर तरह से पसन्द है?

—पसन्द? कहीं तू जलने न लगे, वर्ना मैं कुछ और भी कहती।

देवी फिर चुप हो जाती है। बीरू करवट बदलकर लेट जाता है।

—तू अभी सोया नहीं, बीरू?

—नहीं।

—बदमाश कहीं का! हमारी बातें तो नहीं सुन रहा?

—सुन रहा हूँ।

—सुनता रहे, यह क्या समझेगा!

—मैं सब समझ रहा हूँ। बताऊँ?

—नहीं, बाबा! तू मेहरबानी करके सो जा। ...अच्छा, देवी, अब तू भी चुप करके सो जा। मीठे-मीठे सपने आएँगे।

—तेरा सिर आएगा!

दोनों हँसती हैं। पारो बीरू को अपनी बाँहों में लेकर ख़ूब ज़ोर से प्यार करती है। बीरू की आँखों में खुमारी आ जाती है। उसे लगता है जैसे उसकी माँ ने पहली बार उसे प्यार किया हो। लेकिन माँ और पारो का अन्तर अगर्चे अँधेरे में वह देख नहीं रहा, महसूस ज़रूर कर रहा है।

—पारो, ज़रा इसके बालों को खुजला दे, इसे फ़ौरन नींद आ जाएगी।

—तू इसकी फ़िकर मत कर। तू बता कि तुझे क्या करूँ, जिससे तुझे भी दो पल आराम मिले।

देवी हँसती है। बीरू सोचता है, क्या ही अच्छा हो, अगर मैं हर रात पारो के साथ सो सकूँ तो।

—सुन, पारो, एक बात मेरे दिल में बहुत खटक रही है।

—फिर ले बैठी ना इसी क़िस्से को! अरे बाबा, हुआ ना! अब कोई और बात भी तो कर!

—सुन तो। तूने देखा नहीं कि बहनजी उससे किस तरह लिपटी रहती है!

—तो क्या हुआ? आख़िर उसका बेटा है।

—लेकिन ऐसे तो माँ अपने सगे बेटे से भी नहीं लिपटती, और ख़ास कर जब बेटा इतना बड़ा हो जाए...

—यह तू एक और ही चिन्ता ले बैठी। अरे बाबा, शादी के बाद तो तू ही लिपटेगी उसके साथ। तब तक लिपट लेने दो बेचारी बुढ़िया को उसके साथ।

—लेकिन, पारो, बहनजी को बुढ़िया कौन कहेगा!

—नहीं तो वह जवान है?

—जवान न सही, बुढ़िया भी तो नहीं है। भई, ज़रा सोच तो इसके बारे में।

—अच्छा, अच्छा, सोच ले।

—सच कहती हूँ, कहीं ऐसा न हो...

देवी उठकर पारो के पास आ लेटती है। बीरू उन दोनों के बीच कुछ पिसने-सा लगता है। लेकिन उसे नींद आ रही है। उनकी सरगोशियाँ धीमी, और धीमी, होती जाती हैं।

कुछ देर बाद फिर बीरू की नींद खुलती है। वह अब अकेला लेटा हुआ है। पारो उठकर देवी की चारपाई पर चली गयी है। उनकी बातें अभी तक चल रही हैं।

—अच्छा, जो होगा सो देखा जाएगा।

—हो सकता है, बात कुछ भी न हो।

—हाँ, हो तो सकता है, लेकिन, पारो, कुछ बात है ज़रूर, नहीं तो असली माँ-बेटे में भी इतना प्यार कम ही होता है। और अगर हो भी तो यह कौन-सा तरीक़ा है कि माँ इतने बड़े बेटे को गोद में लिये बैठी रहे!

—तू ठीक कह रही है। लेकिन सोच, अगर कोई और बात होती तो बहनजी उसकी शादी किसी से करने पर राज़ी हो जातीं?

—ख़ैर, जाने दे। मैंने तो वैसे अपने दिल का चोर तुझे बता दिया। जो भगवान को मंज़ूर होगा, देखा जाएगा।

पारो उठकर बीरू के पास आ जाती है। और उसकी आँखें फिर बन्द हो जाती हैं।

दोपहर का समय है। वे सुनसान पड़ी गलियों को पार करके सिर जलाती धूप में कहाँ जा रहे हैं, बीरू नहीं जानता। उसे अफ़सोस हो रहा है कि उसने देवी और पारो के साथ आने पर ज़िद क्यों की। आराम से घर बैठता लेकिन घर में भी अकेला क्या करता! लड़कों ने तो उस दिन से उसे छेड़ना शुरू कर दिया है। उसे देखते ही चिल्लाने लगते हैं : 'हाय दादी! हाय दादी!'

माँ ऐसी गयी है कि वापस लौटने का नाम ही नहीं ले रही है। न जाने किस कुएँ में जा गिरी है। जब से गयी है, एक चिट्ठी तक नहीं लिखी।

वह अब देवी और पारो से भी तंग आ चुका है। सिवाय नरेश के इन दोनों को और कोई बात ही नहीं सूझती। पारो बहुत बोलती है। हर वक़्त लुतर लुतर। असलम की बहन हफ़ीज़ा बहुत कम बोलती है। लेकिन वह तो वापस लाहौर चली गयी है। वह असलम के साथ हफ़ीज़ा को छोड़ने स्टेशन पर गया था। जाने से पहले

हफ़ीज़ा ने उससे कहा था, 'लाहौर आओगे?' उसने कहा था, 'हाँ।' असलम उस दिन न जाने क्यों बीरू से नाराज़ हो गया था। वापसी पर उसने बीरू से बात तक नहीं की। जब से हफ़ीज़ा गयी है, बीरू असलम के घर नहीं गया। अब उसका जी कहीं भी नहीं लगता। अब तो माँ ही वापस आ जाए।

लेकिन माँ के आते ही घर में फिर हर समय महाभारत होता रहेगा। होता रहे। शायद माँ इतने दिनों के बाद लड़ना भूल गयी हो। उसे तो माँ की शक्ल भी भूलती जा रही है। काका न जाने कितना बड़ा हो गया होगा। एक रात उसे सपना आया था कि काका मर गया है और माँ उसे गोद में लिये रो रही है। उसने यह सपना देवी को नहीं बताया।

कल जलालपुरनी कह रही थी, तेरी माँ क्या गयी है, देवी को आवारागर्दी की खुली छुट्टी मिल गयी है। उसने आजकल क्या शोशा छेड़ रखा है, सब जानती हूँ। तेरी माँ को सब बता दूँगी।

बीरू ने घर आकर देवी से कहा था। लेकिन देवी किसी और ही धुन में मस्त थी। कहने लगी, देखा जाएगा।

वे अब अपनी गली से दूर एक बाग़ की दीवार के साथ-साथ चल रहे हैं।

देवी कह रही है कि उसे फूल बहुत पसन्द हैं।

पारो हँस रही है। पारो हर वक़्त हँसती रहती है। किसी वक़्त चुप भी रहना चाहिए। कह रही है—लाहौर चली जाओगी, रानी, तो दिन ऐसे ही बाग़ों में कटेंगे!

सामने बाग़ के दरवाज़े पर नरेश और बहनजी खड़े हैं। उन्हें अपनी ओर आते देखकर वे लोग अन्दर चले जाते हैं। देवी पारो के कान में कुछ कहती है। पारो बीरू से कहती है—दौड़कर जा और उन्हें कह, हम आ गये हैं।

बीरू ऐसा करने से इनकार कर देता है। थोड़ी देर बाद वे नरेश और बहनजी से जा मिलते हैं।

—इतनी धूप में आने की क्या ज़रूरत थी! बहनजी नाक सिकोड़कर कहती हैं।

देवी और पारो एक-दूसरे की ओर देखती हैं, जैसे इतनी धूप में आने की वजह तलाश कर रही हों। बीरू नरेश की तरफ़ देख रहा है। नरेश ने ढीला-ढाला कुर्ता पहन रखा है। उसके पायजामे के पाँयचे बहुत खुले हैं। सारे क़स्बे में कोई इतने खुले पाँयचे वाला पायजामा नहीं पहनता होगा। उसके हाथों में एक कापी है। कापी साथ-साथ उठाये फिरने का मतलब यह है कि ज़रूर उसका दिमाग़ ठीक नहीं। उन सबका दिमाग़ ठीक नहीं। नहीं तो गली से इतनी दूर इस धूप में इस सूखे सड़े बाग़ में मिलने का क्या मतलब?

—इतनी देर से आना था तो हमें कहा क्यों था? बहनजी काफ़ी नाराज़ नज़र आती हैं।

देवी चुप रहती है। पारो मुस्कराने की कोशिश करती है। कहती है—काम-काम में देर हो गयी। —फिर वह बहनजी की ओर देखकर मुस्कराना बन्द कर देती है।

बीरू को लगता है जैसे देवी और पारो अपनी ग़लती पर पछता रही हों।

—अगर आना ही था तो साथ इस बेचारे को क्यों ले आयीं?

—यह तो बस अड़ ही गया। हमने बहुत समझाया। रोने लगा तो हमने सोचा...

—अच्छा, रहने दो। चलो, चलो, अब तो बहुत देर हो गयी। कोई देखेगा तो क्या कहेगा। यह लाहौर तो है नहीं। यहाँ लोग इतनी-सी बात को बड़ा करके देखते हैं।

और वे सब वापस चल पड़ते हैं। रास्ते भर कोई बात नहीं होती। बहनजी और नरेश अपने घर चले जाते हैं। उनका घर किसी दूसरी गली में है।

पारो और देवी बीरू की ओर ग़ुस्से से देखती हैं, जैसे सारा काम उसी ने ख़राब किया हो। बीरू का सिर इस क़दर तप रहा है कि उसे उनके ग़ुस्से की इस समय रत्ती भर परवाह नहीं। वह घर जाकर पानी के दो घूँट पीना चाहता है। उसका गला सूखा जा रहा है और उसके तलुए जल रहे हैं।

घर का दरवाज़ा खुला देखकर देवी और बीरू ठिठककर रह जाते हैं। माँ आ गयी दिखाई देती है। ताला टूटा हुआ कुंडी से लटक रहा है। पारो चुपचाप उनको घर के दरवाज़े के पास खड़ा छोड़कर तेज़-तेज़ अपने घर की ओर चल देती है।

बीरू देवी की ओर देखता है। उससे पूछना चाहता है कि अब क्या होगा? देवी सुन्न खड़ी है, जैसे उसे काठ मार गया हो।

अन्दर से कोई आवाज़ नहीं आ रही।

आख़िर दोनों धीरे-धीरे दरवाज़े की ओर बढ़ते हैं। माँ को सामने दहलीज़ में खड़ा देखकर उसका ख़ून खुश्क हो जाता है।

माँ पाँव से नंगी, सिर से नंगी, साँस फुलाये, आँखों से आग बरसाती हुई उन दोनों की ओर देख रही है। उसका चेहरा पीला पड़ गया है। उसे देखते ही बीरू को ख़्याल आता है कि माँ को पेट भर रोटी वहाँ भी नहीं मिली होगी।

बीरू धीरे-धीरे माँ की ओर बढ़ता है। सोचता है, शायद नज़दीक जाने पर माँ को उस पर प्यार आ जाए। इतने दिनों बाद मिली है। ज़रूर उठाकर उसे चूम लेगी। शायद रोने भी लगे। अगर माँ ने उसे गले से नहीं लगाया तो वह रोने लगेगा। उसकी तरफ़ देखने के बजाय देवी की तरफ़ देखती चली जा रही है। उसके चेहरे

पर मानो माँ ने पिछले दिनों की सब बातें साफ़ शब्दों में लिखी हुई देख ली हैं।

अचानक बीरू को लगता है कि जैसे उसके सामने माँ नहीं, माँ का भूत खड़ा हो, लम्बे-लम्बे दाँतों वाला, माथे पर दो सींगों वाला, उल्टे पाँवों वाला...

वह चीख़ मारकर माँ की टाँगों से लिपट जाता है।

कुछ देर बाद जब उसके सिर में आ रहे चक्कर कुछ थमते हैं तो उसके कानों में माँ और देवी के एक साथ रोने की आवाज़ आती है। माँ कह रही है—हाय, मैं वहाँ क्यों गयी? हाय, मैं वहाँ क्यों और किसलिए गयी? हाय, मेरा सोने जैसा लड़का वहीं रह गया—

बीरू को यह समझने में कुछ देर लगती है कि काका वहाँ क्यों रह गया। और जब बात उसकी समझ में आती है तो सबसे पहले उसका ध्यान बाबा की ओर जाता है। बाबा कहाँ हैं? वह भी तो कहीं उसी की तरह वहाँ नहीं रह गये! माँ रोये जा रही है...जवाब नहीं देती।

चौदह

बीरू को मानो किसी ने आग में डाल दिया हो। माँ बार-बार उसके माथे को हाथ लगाती है। फिर आँखें बन्द करके हाथ जोड़कर कभी ऊँची और कभी धीमी आवाज़ में भगवान से बातें करने लगती है। बीरू टुकुर-टुकुर माँ को देख रहा है। माँ की आवाज़ उसके कानों में बुख़ार की तपिश से छन-छनकर पड़ती है। उसका दिमाग़ सुन्न है और कानों में धूँ-धूँ हो रही है। उसकी आँखों में शोले जल रहे हैं। जब माँ अचानक उसके सिरहाने से सटकर, नीचे फ़र्श पर बैठकर, नाक से लकीरें खींचने लगती हैं तो उसे रोना भी आता है और हँसी भी। अगर माँ को उसका इतना ही ख़्याल था तो कल रात उसने उसे पीटा क्यों? इतना तो माँ ने उसे आज तक नहीं पीटा था। ऐसा लगता था जैसे उसे जान से ही मार डालेगी। अगर वह बेहोश होकर गिर न पड़ता तो माँ ने शायद उसे ज़िन्दा न छोड़ा होता।

लेकिन आज सुबह से वह देख रहा है कि घड़ी-दो घड़ी बाद उसके माथे को हाथ लगाकर वह पागल-सी हो उठती है और रुँधे हुए गले से कहती है—हाय, मुझ पापिन को उस वक़्त क्या हो गया था! हाय, मेरे हाथ क्यों न टूट गये!

हाय, मेरी ज़ुबान जल जाए, मैंने इस ज़ुबान से अपने लाल को क्या-क्या गालियाँ नहीं दीं!

बीरू सब सुनता है तो उसका ख़ून ग़ुस्से और प्यार से खौलने लगता है। माँ का प्यार भी सौदाइयों का-सा और ग़ुस्सा भी।

देवी माँ की आँख बचाकर कई बार उसके गालों को हाथ लगा चुकी है। उसे देवी पर भी बहुत ग़ुस्सा आ रहा है। ख़ुद तो बच गयी और उसे पिटवा दिया। अगर देवी इतनी बड़ी न होती तो माँ का सारा नज़ला उसी पर न गिरता।

उसका सिर चकराने लगता है और वह आँखें बन्द कर लेता है। माँ समझती है कि वह सो गया है। वह उठकर रसोई में जाती है और देवी से कहती है—मेरी आँखों से दूर हो जा, डायन! चली जा यहाँ से! अगर मेरे लड़के को कुछ हो गया तो देखना!

देवी कुछ जवाब नहीं देती। बीरू आँखें खोल देता है। अगर माँ ने देवी से और कुछ कहा तो वह चिल्लाकर कह देगा, बकबक बन्द करो माँ! नहीं तो मेरा बुखार तेज़ हो जाएगा!

देवी रसोई से उठकर बाहर चली आती है। बीरू फिर आँखें बन्द कर लेता है। वह देवी की आँख से आँख नहीं मिलाना चाहता। देवी उसके सिरहाने आ खड़ी होती है।

—अब उसके सिरहाने क्या कर रही हो? यह तो नहीं होता कि जाकर किसी सगी सहेली से चार पैसे ही माँग लाये कि इस मरजाने के लिए दवाई ही ले आऊँ!

बस, माँ के आते ही सब वही पुराने दुखड़े फिर शुरू हो गये हैं। पैसा नहीं, आटा नहीं, कुछ भी नहीं। जब तक माँ नहीं थी, सबकुछ था। पता नहीं, देवी कैसे सब इन्तज़ाम किया करती थी। बाबा ठीक कहते हैं, माँ की हाय-हाय से ही घर में कुछ नहीं रहता। दादी कहा करती थी, तेरी माँ कुलच्छमी का अवतार है। जब वह बहुत छोटा था तो माँ उसे एक कहानी सुनाया करती थी, लच्छमी और कुलच्छमी दो बहनें थीं...इसके आगे पता नहीं कहानी कैसे चलती थी। आख़िर में माँ दो-तीन बार कहा करती थी—लच्छमी आवे, कुलच्छमी जावे, लच्छमी आवे, कुलच्छमी जावे...मारे घर में तो कुलच्छमी ऐसी आयी है कि जाने का नाम ही नहीं लेती! एक बार माँ शायद उसे यही कथा सुना रही थी कि दादी हँस पड़ी थी। माँ कथा को वहीं छोड़ दादी से लड़ने लगी थी। दादी उस रोज़ सिर्फ़ यही कहती रही थी, कुलच्छमी का वासा जिस घर में हो, उस घर का बेड़ा पार! दादी और माँ की लड़ाइयाँ काफ़ी दिलचस्प हुआ करती थीं। उस समय अगर वह इतना छोटा न होता तो बजाय सहमने के ख़ूब हँसता। दादी कभी ऊँची आवाज़ में नहीं लड़ती थी। धीरे-से कुछ ऐसा कह देती थी कि माँ को आग लग जाती। माँ दिन भर तड़पती

रहती थी और दादी रज़ाई में मुँह छुपाकर राम राम की रट लगाये रहती थी। देवी और माँ की लड़ाई का ढंग दूसरा है। बहुत देर तक तो देवी बोलती नहीं, सुनती रहती है। फिर एकदम जब बोलने लगती है तो बिलकुल माँ ही की तरह बोलती चली जाती है। माँ और उसमें ज़्यादा फ़र्क़ नहीं रहता। दोनों की आवाज़ें भी बहुत मिलती-जुलती हैं। बाबा ठीक कहते हैं कि देवी भी माँ का ही दूसरा रूप है।

ख़ुद बाबा किसी और ही मिट्टी के बने हुए हैं। ग़ुस्सा उनका भी बहुत तेज़ है, ऐसा तेज़ है कि बस यूँ लगता है कि भूचाल आ रहा है। लेकिन न जाने कैसे बीरू के दिल में यह ख़्याल बैठ गया है कि बाबा फिर भी अच्छे हैं, समझदार हैं, उनके ग़ुस्से की वजह माँ है। जब बाबा माँ को पीटते हैं तो वह बीरू को बहुत बुरे लगते हैं। बीरू का जी चाहता है कि वह उठकर उन्हें पीटने लगे। एक-दो बार माँ ने उसे ऐसा करने के लिए उकसाया भी था। माँ ने कहा था, अब तू जवान हो रहा है, बेटा, अब तो तुझे मेरी तरफ़दारी करनी चाहिए। और एक बार बाबा ने मुड़कर उसकी ओर देखा था और फिर वह अपना माथा पीटने लगे थे।

बाबा को माथा पीटते देखकर बीरू को फ़ौरन उन पर रहम-सा आने लगता है। शायद अब वह यह समझ सकता है कि बाबा हमेशा माँ को पीट चुकने के बाद ख़ुद अपने-आपको भी क़रीब-क़रीब उतना ही पीट लेते हैं। माँ पर उसे रहम तभी आता है जब वह पिट रही हो। उस समय भी अगर वह साथ-साथ बोलती जाए तो बीरू को रहम और प्यार के साथ ग़ुस्सा भी आता है। बाबा के लिए उसका दिल क़रीब-क़रीब हर समय पसीजता रहता है। उनपर उसे ग़ुस्सा सिर्फ़ उसी समय के लिए आता है जब वह माँ को पीट रहे हों। मोटे तरीक़े से उसने बाबा और अपने आपको एक तरफ़ रखा है और देवी और माँ को दूसरी तरफ़। देवी को उसने क्यों माँ के साथ ला खड़ा किया है, शायद अभी वह स्वयं नहीं जानता।

वह आँखें खोलता है। उसे लगता है, जैसे वह नींद का बहाना करते-करते सचमुच थोड़ी देर के लिए सो गया हो। वह कमरे में अकेला है। माँ शायद गली में किसी से मिलने चली गयी है। देवी भी मौक़ा देखकर निकल गयी है। दोनों को घर-घर घूमने और बातें करने का बहुत चस्का है। यह चस्का तो बाबा को भी काफ़ी है।

बाबा माँ के साथ वापस क्यों नहीं लौटे? अगर वह होते तो माँ उसे इतना नहीं पीटती। उसे बुख़ाकर भी नहीं होता। लेकिन बुख़ार तो धूप लग जाने से हो गया होगा। कल से पारो उनके घर नहीं आयी। पारो बहुत चालाक है। जानती है कि माँ का पारा चढ़ा हुआ होगा। देवी शायद उसी के घर गयी होगी। देवी वहीं बैठी रहे और माँ किसी दूसरे के घर। बाबा जहाँ हैं वहीं पड़े रहें, दादी और काका तो मर ही गये हैं और पीछे से चुपके से मैं भी मर जाऊँ...

अपने मरने की बात से बीरू को कुछ नहीं होता। वह आँखें बन्द करके साँस रोकने की कोशिश करता है। अगर इस वक़्त ऊपर से माँ आ जाए तो उसे देखकर यही समझेगी कि वह मर गया है। माँ की चीख़ निकल जाएगी और वह दुहत्तड़ पीटने लगेगी। कहेगी, हाय, शेर बेले विच मारया। गली की औरतें दौड़ी-दौड़ी आएँगी और माँ की आवाज़ से आवाज़ मिलाकर बोलना शुरू कर देंगी, हाय, शेर बेले विच मारया! गली के लड़के उसकी चारपाई के इर्दगिर्द जमा हो जाएँगे। वो साले रोएँगे नहीं। अगर उस समय उसके पाँवों में खुजली होने लगी तो बना-बनाया खेल बिगड़ जाएगा।

उसकी आँखें फिर खुल जाती हैं। इस कल्पना से न उसे डर लगता है, न ही खुशी होती है। इतना ख़्याल उसे ज़रूर आता है कि कहीं वह पागल तो नहीं हुआ जा रहा, जो उसे ऐसे ख़्याल आ रहे हैं?

इस शहर में कितने ही पागल हैं। वह आँखें बन्द कर लेता है और दायें हाथ की अँगुलियों पर शहर के पागलों को गिनने की कोशिश करता है।

गिनती करते-करते उसका ध्यान शहर के पागलों से भटककर अपने घर के पागलों की ओर चला आता है। यह घर है या पागलख़ाना! बाबा के ये शब्द उसके मस्तिष्क में बार-बार घूम जाते हैं और वह बिस्तर में पड़ा-पड़ा झुँझलाने लगता है। वह यह याद करने लगता है कि उसके होश और याद में बाबा ने माँ को कितनी बार पीटा है, कितनी बार शराब पीकर घर लौटे हैं और कितनी बार घर में आटा ख़त्म हुआ है, कितने लोगों से कितनी बार माँ ने आटा उधार लिया है और कितने लोगों से माँ की लड़ाई हुई है, माँ ने देवी को कितनी बार कौन-कौन-सी गालियाँ दी हैं। थोड़ी ही देर में ये सब गिनतियाँ ऐसी गडमड हो जाती हैं कि वह चाहने लगता है कि माँ उसी समय आ जाए, ताकि वह उससे पूछ सके कि बाबा कहाँ रह गये, उसके साथ वापस क्यों नहीं लौटे?

माँ दौड़ती हुई आती है। उसे देखते ही बीरू सहम जाता है। माँ गली की औरतों से मिलकर आयी है। उसने देवी की सारी बातें सुन ली होंगी। अब देवी की खैरियत नहीं। अगर इसी समय देवी भी लौट आयी, तो माँ और उसमें वह घमासान...बीरू कल्पना करके काँप उठता है।

लेकिन माँ ने तो आते ही चूल्हे में मिर्चें झोंक दी हैं। अब उसके सिर पर अपने दायें हाथ की मुट्ठी घुम रही है और कह रही है, तुम्हें नज़र लग गयी है। वह मुस्कराता है। माँ जलालपुरनी के पैरों की मिट्टी लायी होगी। कह रही है, अगर घर में थोड़ी-सी फिटकरी होती, तो अभी तेरा बुखार उतर जाता। तुझे साफ़ किसी की नज़र लगी हुई है और कुछ भी नहीं हुआ।

फिटकरी होती तो माँ उसके सिर पर वार के उसे भी मिर्चों के साथ आग

में डाल देती। जब फिटकरी फूल जाती तो बीरू के हाथ में कोई जूता देकर माँ उससे कहती कि इसे मारो, यह उस जलालपुरनी का बुत है, साफ़ शक्ल उसी से मिलती है।

घर में और कोई पागल हो या न हो, माँ तो ज़रूर है। बीरू शहर के दूसरे पागलों के साथ माँ का नाम जोड़कर हँसने लगता है।

—माँ, बाबा कहाँ हैं?

—मेरी जाने जूती!

—तुम्हारे साथ वापस नहीं आये।

—नहीं।

—तो फिर कहाँ रह गये?

—मेरी जाने बला!

—कब आएँगे?

—क्या पता!

बाबा का ज़िक्र आते ही माँ का चेहरा ग़ुस्से से पीला पड़ जाता है और वह किसी सोच में डूब जाती है।

—देवी कहाँ मर-खप गयी? माँ कहती है।

वह चुप रहता है।

—मैं सब सुन चुकी हूँ कि पीछे से उसने क्या शगूफ़ा खिलाया है।

उसका दिल धक से रह जाता है।

—आज वह घर आए तो सही!

बीरू को माँ का ध्यान बदलने की कोई तरक़ीब नहीं सूझती। वह आँखें बन्द कर लेता है और मानो डर के मारे उसे एकदम नींद आ जाती है!

—निकल जाओ यहाँ से!

बीरू हड़बड़ाकर उठ बैठता है। सामने देवी सिर झुकाये खड़ी है। माँ रसोई के दरवाज़े में खड़ी फुफकार रही है।

—मैं कह रही हूँ, दूर हो जाओ मेरी आँखों से!

—मासीजी, ज़रा बात तो...

—मैं किसी की मासी-चाची नहीं! यह सारी शरारत तेरी है, पारो, तूने ही मेरी लड़की को फुसला-सिखलाकर मेरी नाक कटवायी है और अब उसकी वकालत करने आयी है! मैं कह रही हूँ, ले जाओ इसे अपने साथ और धकेल दो उस कुएँ में जो तूने इसके लिए खोदा है!

—मासीजी!

—मासीजी गयी चूल्हे में! तुझे इतना भी ख़्याल न आया कि तू इसे ले कहाँ जा रही है!

—ज़रा सुनो तो, हुआ क्या है? कुछ पता भी तो चले!

—मैं सब सुन चुकी हूँ। पीछे से जो लैला-मजनूँ का खेल तुम दोनों ने खेला है, मुझे सब पता लग गया है। मुझे वह चुड़ैल पूतना नज़र आए तो मैं उसका चूँड़ा उखाड़कर उसके हाथों में न दे दूँ तो मेरा नाम जानकी नहीं। तुम लोगों ने मुझे समझ क्या रखा है?

—माँ, दूसरों को क्यों दोष देती हो, मुझे ही मार डालो न!

—तुझे तो मैं ऐसा मारूँगी कि तेरी हड्डी-पसली एक हो जाए। तूने सारे ख़ानदान की आबरू को मिट्टी में मिला दिया है!

लड़ाई तो माँ और देवी और पारो के बीच हो रही है लेकिन बीरू की मुट्ठियाँ यों ही तन गयी हैं। उसकी सारी रगें बुरी तरह फड़क रही हैं। रह-रहकर उसका जी चाह रहा है कि उठकर माँ को बालों से पकड़ ले और घसीटकर घर से बाहर निकाल दे। अगर बाबा इस समय घर में होते तो ऐसा ही करते। परमात्मा करे कि बाबा इसी वक़्त लौट आएँ, नहीं तो माँ चिल्ला-चिल्लाकर शहर इकट्ठा कर लेगी।

पारो माँ के पास जा खड़ी हुई है। देवी की आँखों से आँसू बह रहे हैं। बीरू को देवी का रोना भी उतना ही बुरा लग रहा है जितना माँ का चिल्लाना।

—मैं यह पूछती हूँ कि अगर बात कुछ भी नहीं तो सारे लोग झूठ बक रहे हैं? मैं कैसे मानूँ? मैं तुम दोनों को जानती नहीं क्या? मुझे तो पहले ही ख़तरा था। यह जो दिन-रात तुम दोनों मनसूबे बाँधती रही थी। हाय, मेरी अक़्ल को क्या हो गया था! मैं यहाँ से जाकर क्यों सोने-सा लड़का दे आयी वहाँ!

—उसे क्या हुआ था, मासीजी? पारो को बात का रुख़ बदलने का मौक़ा मिल जाता है। माँ जवाब नहीं देती, मानो सोच रही हो कि पारो से काके के बारे में कोई बात करे या देवी को ही कोसती जाए।

—उसे हुआ क्या था? पारो फिर पूछती है।

शायद माँ को काके की बीमारी और मौत के बारे में विस्तार से बात करने का अवसर अभी तक नहीं मिला। बीरू के कान खड़े हो जाते हैं। वह भी सुनना चाहता है कि काका आख़िर मरा तो किस तरह। उसे दरअसल, अभी तक पूरा यकीन नहीं आया है कि काका वाक़ई मर गया है। वह समझता है कि शायद माँ यूँ ही ग़ुस्से में उसे कहीं फेंक आयी है।

माँ आँखें पोंछ रही है। माँ का ग़ुस्सा पिघलता देख देवी भी चुपके से माँ और पारो के पास आ खड़ी होती है। अगर माँ ने अब उसे कुछ नहीं कहा तो समझो कि कम-से-कम इस वक़्त तो देवी के सिर से बला टल ही गयी।

अब बाबा न आएँ। नहीं तो बनी-बनायी बात फिर बिगड़ जाएगी। बीरू उठकर बैठ जाता है।

—लेट जा न! कहीं बुखार में हवा लग गयी तो क्या करूँगी!

माँ को गर्मियों में भी हवा का ख़तरा लगा रहता है, जैसे सभी बीमारियों की वजह सिर्फ़ हवा हो।

—उसे क्या हुआ था, मासीजी? कितने दिन बीमार रहा? किसी वैद-हकीम को तो दिखाया ही होगा। वहाँ गाँव में कोई डॉक्टर तो क्या होगा!

माँ रसोई की दहलीज़ पर बैठ जाती है। पारो और देवी भी वहीं बैठ जाती हैं।

—हाय, उसे तो किसी की नज़र खा गयी और उसे कुछ भी नहीं हुआ था। जैसे ही हम वहाँ पहुँचे, सब कहने लगे, जानकी, तेरा बेटा कितना मोटा है! कितने साल का है? मैंने कहा, बस अभी तो एक ही साल का हुआ है। सब आँखें फाड़ फाड़ के उस बेचारे की तरफ़ देखने लगे। कहने लगे—हाय, देखने में तो दो-तीन साल का लगता है! बस, उसी दिन बेचारे को ऐसा बुखार चढ़ा कि अभागे ने फिर आँखें नहीं खोलीं।

—कोई दवाई तो...

—दवाई क्या करती! इन्हें तो वहाँ भी मिल गयी बुरी संगत। गये थे माँ की ग़मी में और पीने लगे शराब। दवाई कौन करवाता? मेरे पास तो फूटी कौड़ी भी नहीं थी। जिस किसी से कहती, वही कह देता—ठीक हो जाएगा, बुखार ही तो है, उतर जाएगा।

माँ ठोड़ी को घुटनों पर टिकाकर हौले-हौले झूलने लगती है। उसकी आँखों से आँसू जारी हो जाते हैं। बीरू सोचता है, इस तरह चुपचाप रोती हुई माँ ज़्यादा बुरी दिखाई नहीं देती। असलम की माँ का उदास चेहरा माँ के उदास चेहरे से काफ़ी मिलता-जुलता है। हफ़ीज़ा की शक़्ल देवी से नहीं मिलती। देवी की आँखें बहुत छोटी हैं और हफ़ीज़ा की बहुत लम्बी। और उसके हाथ बहुत मुलायम हैं, देवी के हाथ बहुत खुरदरे हैं। लेकिन उसने हफ़ीज़ा के हाथों को कब छुआ था, बीरू को याद नहीं आता। असलम को अगर पता चल जाता कि वह बीमार है तो शायद उसे देखने चला आता। अगर वह कभी आया तो वह माँ को बताएगा नहीं कि असलम मुसलमान है। देखने में काफ़ी गोरा है। माँ कहा करती है, मुसलमानों का रंग काला होता है। लेकिन माँ ने उसका नाम पूछ लिया तो? तो वह कोई नाम बता देगा। कह देगा उसका नाम रामलाल है। लेकिन कहाँ असलम और कहाँ रामलाल! मुसलमानों के नाम बहुत ज़ोरदार और रौबीले होते हैं। कहाँ हफ़ीज़ा और कहाँ देवी! पारो भी कुछ नहीं। नरेश कुछ अच्छा है। देवी की शादी नरेश से हो जाए तो वह

देवी के साथ लाहौर चला जाएगा। फिर वह सारी उमर वहीं रहेगा। पीछे बाबा और माँ भले ही दिन-रात लड़ते रहें। वहाँ शायद उसे हफ़ीज़ा मिल जाए। जब वह बहुत छोटा था तो बाबा का एक दोस्त, उसका नाम न जाने क्या था, उससे पूछा करता था—बीरू, तू बड़ा होकर किससे शादी करेगा? माँ से या बहन से? एक दिन बीरू ने घर आकर माँ से कह दिया था। माँ ने कहा था—अब पूछे तो कहना, तेरी माँ से। अब वह आदमी न जाने कहाँ चला गया है। अगर अब कोई उससे पूछे कि, बीरू, तू शादी किससे करेगा, तो वह साफ़ कह देगा कि हफ़ीज़ा से या पारो से। लेकिन वे दोनों तो उससे इतनी बड़ी हैं! हुआ करें! लाहौर जाकर वह भी एकदम बड़ा हो जाएगा।

माँ कह रही है—हाय, एक दुख हो तो किसी को बताऊँ। मेरा तो नसीबा ही फूट गया है।

पारो पूछती है—लेकिन, मासीजी, आपने उन्हें ट्रंक की चाबी दी ही क्यों?

—हाय, न देती तो गाड़ी में ही वह मुझे पीटने लगते। मुझे क्या पता था। कहने लगे, गहने हैं, तेरे से कहीं गुम हो जाएँगे, मैं अपने पास रखूँगा। मैंने टालने की बहुतेरी कोशिश की, लेकिन उन्होंने कब मेरी सुनी है!

—लेकिन फिर वह गये कहाँ? आ तो उसी गाड़ी से रहे थे।

—मैं क्या जानूँ! मैं जब यहाँ स्टेशन पर उतरी, तो वह कहीं दिखाई नहीं दिये। हाय, अब मैं क्या करूँ, किससे कहूँ? न जाने कहाँ टक्करें मार रहे होंगे। ज़रूर वहीं रह गये होंगे जेहलम के स्टेशन पर। हाय, मेरे कड़े पूरे पाँच तोले के थे!

बीरू हैरान है कि बाबा की बात करते करते माँ कड़ों का वजन क्यों बताने लगी?

—लेकिन मासीजी, वह गहनों का करेंगे क्या?

—करेंगे क्या? कहीं बेचकर खा-उड़ाकर खाली हाथ लौटेंगे। और करेंगे क्या? पारो, तू नहीं जानती उनकी आदतें। कोई बैठकर सुने तो मेरे दुखड़े!

और माँ अपना दुखड़ा सुनाने बैठ जाती है। बीरू यह सब कहानियाँ कई बार सुन चुका है। उस पर इनका कुछ असर नहीं होता। बार-बार वही बातें सुन-सुनकर वह इस क़दर ऊब गया है कि उसका जी चाहता है कि कानों में उँगलियाँ ठूँस ले।

जब तक माँ बोलती रहती है, बीरू मुँह और सिर लपेटे बिस्तर में पड़ा करवटें बदलता और झल्लाता रहता है।

एकाएक माँ बोलना बन्द कर देती है। बीरू समझता है, शायद बाबा आ गये। वह मुँह से चादर हटाता है। बहनजी खड़ी है। माँ उसकी तरफ़ घूर-घूरकर देख

रही है। देवी उठकर कमरे में चली जाती है। एक-दो मिनट के लिए सब चुपचाप एक-दूसरे की ओर देखते रहते हैं। बीरू सोच रहा है कि माँ किसी भी क्षण उठकर बहनजी पर झपट पड़ेगी और कहेगी, निकल जाओ मेरे घर से!

बहनजी धीरे-धीरे माँ की ओर बढ़ती है। माँ के होठ फड़फड़ा रहे हैं। माँ के होठ या तो उस समय फड़फड़ाते हैं जब वह बहुत ग़ुस्से में हो, या उस समय जब उसे रोना आ रहा हो। इस समय ऐसा लगता है कि माँ को ग़ुस्सा और रोना एक साथ आ रहे हैं।

—भाभी, काके का सुनकर बहुत दुख हुआ।

बहनजी माँ को भाभी और बाबा को भ्राताजी कहती है। बीरू सोचता है, माँ जवाब देगी, पूतना दाई! तू मेरे घर से निकल जा! लेकिन माँ चुप रहती है। उसकी आँखें भीगने लगती हैं। बहनजी माँ के पास जा बैठती है। बीरू उठकर बैठ जाता है।

माँ बहनजी की ओर ऐसे देख रही है कि बीरू फ़ैसला नहीं कर पाता कि अब बात कौन-सा रुख़ लेगी। उसका ख़्याल था कि बहनजी को देखते ही माँ आपे से बाहर हो जाएगी और बात एकदम गालीगलौज तक पहुँच जाएगी। उसे माँ की ख़ामोशी से कुछ निराशा होने लगती है और वह फिर लेट जाता है।

—भ्राताजी कहाँ हैं?

—वह अभी नहीं आये! पारो कहती है।

—भ्राताजी से जो कहना है, मुझी से कह दो न। तुम समझती हो कि जिस तरह तुमने लड़की को फुसला लिया है, उसी तरह मीठी-मीठी बातें करके तुम उन्हें उल्लू बना लोगी? लेकिन कान खोलकर सुन लो, जब तक मेरे दम में दम है, यह शादी नहीं होगी, नहीं होगी, नहीं होगी!

—पहले आप अपना ग़ुस्सा निकाल लें, फिर...

—मुझे यह लल्लो-पत्तो अच्छा नहीं लगता! मैं तुम्हारी चिकनी-चुपड़ी नहीं सुनूँगी! मैं सब सुन चुकी हूँ।

—क्या सुन चुकी हैं?

—बस-बस, मेरे साथ ज़्यादा बातें करने की ज़रूरत नहीं। तुम अपने आपको बहुत चालाक समझती हो। चालाक तो तुम हो ही। चालाक न होतीं तो...ख़ैर, जो तुमने किया है, उसका बदला तुमसे परमात्मा लेगा! तुमने यही सोचा न कि बात एक बार सारे शहर में फैल गयी तो हम 'न' नहीं कर सकेंगे? तुम्हारे उस आवारा छोकरे से शादी करने के बजाय हम अपनी लड़की को ज़हर दे देंगे! न जात, न बिरादरी, न घर, न घाट। मैं पूछती हूँ, वह तुम्हारा लगता क्या है?

—वह मेरा वही लगता है, जो बीरू आपका! और...

—अरी, जा! किसे चराती है! मैं सब जानती हूँ! ज़रा जाकर लोगों की बातें तो सुन! कुछ शर्म हो तो...कौन मानेगा कि वह तुम्हारा लड़का है? हमारी लड़की का बेड़ा ग़र्क क्यों करती हो? ख़ुद ही कर लो न उससे शादी!

बहनजी यह सुनते ही उठ खड़ी होती है और बग़ैर कुछ कहे-सुने तेज़-तेज़ बाहर चली जाती है।

बीरू माँ की बात पूरी तरह समझ नहीं पाता, इसलिए हैरान है कि बहस इतनी जल्दी कैसे ख़त्म हो गयी।

देवी रोती हुई कमरे से बाहर आती है और चीख़कर माँ से कहती है—माँ, तू मेरी माँ नहीं, दुश्मन है!

माँ देवी की चीख़ का जवाब चीख़ से देती है—तू मेरी लड़की नहीं, सौत है, सौत!

देवी रोती हुई कोठरी में चली जाती है और दरवाज़ा अन्दर से बन्द कर लेती है। पारो कानों को हाथ लगाती हुई ड्योढ़ी से बाहर चली जाती है।

माँ बीरू के सिरहाने खड़ी होकर कहती है—अगर तू ही ज़रा बड़ा होता तो मैं तुझे लेकर इस नरक से कहीं दूर भाग जाती।

बीरू अपना मुँह चादर से ढाँपकर लेट जाता है। इस नरक से भागकर कहाँ जाना चाहती है? नरक तो माँ के ही दम से है। जहाँ माँ जाएगी, नरक माँ के साथ-साथ जाएगा। बाबा भी कई बार ग़ुस्से में घर से भाग जाने या अपना गला घोंट लेने की धमकी दिया करते हैं। देवी ने दरवाज़ा अन्दर से क्यों बन्द कर लिया? शायद अपना गला घोंट रही होगी। घोंट ले। बाबा अक्सर कहा करते हैं—ऐसे जीने से तो मौत अच्छी!

माँ की बुड़बुड़ाहट बीरू के कानों में पिघले हुए सिक्के की तरह टपक रही है। अगर वह ज़रा बड़ा होता तो अकेला ही कहीं भाग जाता। बाबा न जाने कहाँ भाग गये हैं। अब वह लौटेंगे नहीं। बीरू इस ख़्याल से ही काँप उठता है।

माँ कोठरी का दरवाज़ा खटखटा रही है। कह रही है, खोल दरवाज़ा, नहीं तो सारी गली को इकट्ठा कर लूँगी। माँ को इसमें न जाने क्या मज़ा मिलता है। उसे इसमें शर्म क्यों नहीं आती? अगर इस वक़्त किसी तरह बाबा लौट आएँ तो माँ के होश ठिकाने लग जाएँ। बाबा मार-मारकर माँ की चटनी बना डालें।

बीरू के मुँह का स्वाद बिगड़ने लगता है। उसने सुबह से कुछ नहीं खाया। उसके होठ सूख रहे हैं। लेकिन वह माँ से कुछ नहीं माँगेगा। नहीं तो माँ फिर वही रोना ले बैठेगी। बीरू अपने दाँत कस लेता है। इसी तरह लेटे-लेटे मर जाए तो नरक से तो छुटकारा मिले। और उसे रोना आ जाता है।

अगर वह ज़रा बड़ा होता तो ज़रूर कहीं भाग जाता। इस नरक में पड़े रहने

से तो मौत अच्छी।

माँ ने नरक का नाम क्या लिया है, बीरू की कल्पना को मानो पर लग गये हैं, वह आँखें बन्द करके महसूस करता है मानो कोई उसके शरीर में हवा भरता चला जा रहा हो। थोड़ी ही देर में उसे लगता है जैसे वह गुब्बारे की तरह ऊपर ही ऊपर उड़ता चला जा रहा है। माँ की आवाज़ कहीं बहुत दूर से आ रहे मिले-जुले शेर की तरह उसके कानों में पड़ती है। उसकी आँखों में पानी है और उसके होठों पर मुस्कराहट। माँ जब उसे ऊपर उड़ता हुआ देखेगी तो अपनी छाती पीट लेगी और वह उस पर थूक देगा। लड़के देखेंगे और उछल-उछलकर उसे पुकारने लगेंगे। वह उन सबकी एक नहीं सुनेगा। हँसता हुआ ऊपर ही ऊपर उड़ता जाएगा, जहाँ से न माँ नज़र आएगी, न बाबा, न देवी, न पारो, न असलम, न हफ़ीज़ा, न स्कूल, न मास्टर, न और कुछ...

उसका बुखार बहुत तेज हो गया है।

पन्द्रह

बीरू बिस्तर में लेटा चुपचाप अपने हाथों की ओर देख रहा है, जैसे गहरी लगन से कोई किताब पढ़ रहा हो। माँ बार-बार उसे ऐसा करने से मना कर चुकी है। सौ बार कहा है, हाथों की तरफ़ आँखें फाड़-फाड़कर न देखा कर, इससे दुख बढ़ता है। बीरू धीरे-से मुस्करा देता है। मुस्कराने से उसके पपड़ी जमे होठों में दर्द की एक चिनगारी चमक जाती है। और वह उन पर अपनी जीभ फेरकर दाँतों से निचले होठ को काटने लगता है। माँ ने उसे होठ काटने से भी कई बार रोका है। होठ फिर एक बार मुस्कराने के लिए फैलते हैं और दर्द से सहमकर सिकुड़ जाते हैं। उसकी नाक में खुजली हो रही है। लेकिन नाक खुजलाने से भी दुख बढ़ता है। बीरू को हँसी आ जाती है और उसके होठ फट जाते हैं। वह उठकर अलमारी से शीशा उठा लाता है। शीशा टूटा हुआ है। एक बार बाबा ने ग़ुस्से में उसे ज़ोर से फ़र्श पर दे मारा था। बीमारी की हालत में शीशा देखने से भी दुख बढ़ता है। बीरू अपने सारे दुखों को भूल शीशे में अपना अक्स देखकर हँसने लगता है।

माँ शायद मन्दिर गयी हुई है। देवी भी घर में नहीं है। जब माँ घर में होती

है तो उसके पास औरतों की भीड़-सी लगी रहती है। एक जाती है तो तीन और आ जाती हैं। सबकी सब एक साथ बोलती हैं। इतना शोर मचाती हैं कि लगता है जैसे उसके घर मेला लगा हुआ हो। पहले कभी उसके घर औरतों की इतनी भीड़ जमा नहीं हुई थी। देवी कहती है, सब माँ को बहकाने-फुसलाने के लिए आती हैं। माँ कहती है, किसी को हमदर्दी होती है, तभी तो कोई आता है, नहीं तो किसी को क्या पड़ी है कि सब काम-काज छोड़कर आए। माँ के साथ तो कोई सीधे मुँह बात कर दे बस, वह समझती है कि वह उसका हमदर्द है।

माँ हर रोज़ इन औरतों को अपने कड़ों का वज़न और उनकी क़ीमत बताते-बताते अपना मुँह बिगाड़कर रोने लगती है। बीरू को माँ के बिगड़े हुए मुँह से बहुत नफ़रत है। वह अपना मुँह यूँ बना लेता है जैसे उसे मितली आ रही हो। वह शीशे को उलटककर नीचे रख देता है। कोई औरत मुँह बनाकर और हाथ लहराकर माँ से कहती है, बहन, कड़े तो गये सो गये, अब तो भगवान से यह माँग कि तेरा घरवाला सही-सलामत घर आ जाए। इस पर माँ वह सारा क़िस्सा शुरू से आख़िर तक एक बार फिर दुहरा देती है। किस तरह बाबा ने जेहलम के स्टेशन पर उससे ट्रंक की चाबी माँगी, किस तरह माँ ने उन्हें टालने की कोशिश की, क्या-क्या बहाने बनाए, वह किस तरह डर गयी और फिर किस तरह जब बाबा ने ट्रंक में से उसके कड़े निकाल लिये तो उसका दिल धक से रह गया बाबा कड़े लेकर चले गये और माँ उनकी पीठ देखती रह गयी। थोड़े ही फासले पर उनका पुराना दोस्त रामलाल खड़ा था। माँ के देखते ही देखते गाड़ी आहिस्ते-आहिस्ते चलने लगी और माँ बाबा को आवाज़ें लगाती रह गयी। बाबा ने मुड़कर उसकी ओर देखा भी नहीं। दोनों टिकट भी बाबा के पास थे। सारा रास्ता माँ ने रोते-रोते काट दिया। उसके डिब्बे में बैठी सारी सवारियाँ उसको ढाढ़स बँधाती रहीं। लेकिन वह तो जानती थी कि बाबा अब उन कड़ों को खा उड़ाकर ही लौटेंगे। औरतें यह सब सुनकर अपने होठों पर अँगुलियाँ टिका लेती हैं और माँ अपने पल्लू से आँखें पोंछने लगती है।

बीरू शीशा उठाकर उसमें अपना अक्स फिर देखता है। बुखार के कारण उसके गालों में गड्ढे पड़ गये हैं। और उसकी आँखें उबली-उबली-सी दिखाई देती हैं। उसके बाल बहुत उलझे हुए हैं और उसका रंग बहुत पीला पड़ गया है। शीशा देखते-देखते बीरू का सिर चकराने लगता है और वह शीशे को अपनी छाती पर रखकर लेट जाता है और आँखें बन्द कर लेता है। उसकी आँखें जल रही हैं।

थोड़ी देर की ख़ामोशी के बाद फिर कोई औरत बोल उठती है—हाय, ऐसी बात तो आज पहली बार सुनी है। इस पर सभी औरतें एक साथ भिनभिनाने लगती हैं। और कुछ देर के लिए कोई किसी दूसरी की बात नहीं सुनती। फिर माँ एक

लम्बी साँस लेती है और कहती है—हाय, आज पाँच दिन हो गये हैं। उनको इतनी भी फ़िकर नहीं कि पीछे दुख है, सुख है, मेरे पास एक पैसा नहीं, लड़का बीमार है। तब सबका ध्यान बीरू की ओर मुड़ जाता है। थोड़ी देर के लिए सभी औरतें डॉक्टरों और हकीमों में तब्दील हो जाती हैं। भाँति-भाँति के नुस्ख़े माँ को बताये जाते हैं और जब औरतें चली जाती हैं तो माँ बीरू के सिरहाने आ खड़ी होती है। उसका चेहरा घोर चिन्ता से जकड़ा हुआ है। बीरू उसकी ओर नहीं देख पाता। मुँह मोड़ लेता है। माँ कहती है—अब तू कितने दिन इसी तरह पड़ा रहेगा! और तो किसी तरफ़ से चैन नहीं मुझे। बीरू का जी चाहता है, किसी तरह उसी वक़्त उठकर खड़ा हो जाए। लेकिन उठकर खड़ा होने के ख़्याल से ही उसके जिस्म में कई जगह दर्द होने लगता है। उसे अपने-आप पर ग़ुस्सा आ जाता है। अगर माँ सिर पर न खड़ी होती तो शायद वह अपने बाल नोंच लेता।

लेटे-लेटे बीरू की आँखें कमज़ोरी के कारण भारी हो जाती हैं। वह करवट बदलता है। शीशा खिसककर नीचे गिर जाता है और उसके तीन टुकड़े हो जाते हैं। टुकड़े तो पहले ही तीन थे, लेकिन अब वे फ्रेम से अलग हो गये हैं। वह टुकड़ों को उठाकर उन्हें फ्रेम में लगाने की कोशिश करने लगता है। थोड़ी ही देर बाद उसकी कमर दुखने लगती है और उसकी आँखों के सामने काले-काले धब्बे फैलने लगते हैं। और फिर एकदम न जाने क्या होता है कि वह उन टुकड़ों को ज़ोर से सामने फेंक देता है। टुकड़े दीवार से टकराकर बिखर जाते हैं।

—बीरू, यह क्या हो रहा है तुझे?

देवी की आवाज़ सुनकर वह चौंक पड़ता है। कुछ जवाब देने के बजाय लेट जाता है और चुपचाप टुकुर-टुकुर उसकी ओर देखने लगता है। उसके हाथ में एक गिलास है।

—मैं तेरे लिए दूध गरम करके लायी थी। अब अगर इसमें शीशे का कोई टुकड़ा पड़ गया हो तो? तुझे हो क्या गया है, बैठे-बैठे पागल क्यों हो जाता है?

बीरू कोई जवाब नहीं देता। देवी पारो के घर से दूध लायी होगी। अगर माँ को पता चल गया तो माँ देवी से लड़ेगी। माँ किसी के घर का दूध बीरू को नहीं पीने देती। कोई उसमें कुछ मिलाकर दे दे तो? बीरू को मालूम नहीं कि माँ को किस चीज़ का ख़तरा है।

—मैं दूध नहीं पीऊँगा।

—अरे बाबा, अभी छानकर ले आती हूँ। पी ले, नहीं तो अगर ऊपर से माँ आ गयी तो मेरी खैरियत नहीं।

—नहीं, मुझे भूख नहीं।

—सुबह का भूखा पड़ा है और भूख नहीं! मैं तो ख़ास तेरे लिए पारो से माँगकर लायी हूँ।

—नहीं, नहीं, नहीं!

—नहीं तो न सही! देवी फिर बाहर चली जाती है।

अब अगर इसी वक़्त माँ आ गयी तो वह भी उसे झिड़कने लगेगी। देवी शायद दूध वापस करके लौट आए। लेकिन देवी तो यही देखने आयी थी कि माँ अभी आयी है या नहीं। दूध का तो बहाना था। अब वह काफ़ी देर तक फिर पारो के सिर से सिर जोड़कर वहीं बैठी रहेगी। माँ आएगी और कमरे में घुसते ही उसके पाँवों में शीशे के टुकड़े चुभ जाएँगे। चुभ जाएँ! उसके बाद माँ कुछ दिन आराम से घर में तो बैठेगी। लेकिन माँ के घर बैठने से फिर हर वक़्त घर में औरतों का मेला लगा रहेगा। बीरू चकरा जाता है। माँ का घर बैठना भी उसे अच्छा नहीं लगता और माँ का घूमना तो उसे बिल्कुल अच्छा नहीं लगता।

अब तक माँ मन्दिर में थोड़े ही बैठी होगी। वहाँ से तो कब की लौट आयी होगी। रास्ते में किसी के पास ठहर गयी होगी। देवी का सारा क़िस्सा सुना रही होगी। घर में जो औरतें आती हैं, माँ उनसे और सब बातें तो ख़ूब जी खोलकर कर लेती है, लेकिन देवी की बात करने का मौक़ा कभी मिलता है और कभी नहीं मिलता। देवी घर में हो तो माँ उसकी बात सिर्फ़ दबी ज़ुबान में ही करती है। देवी ने एक दिन सबके सामने माँ को आँखें दिखानी शुरू कर दी थीं।

देवी की बात करने के लिए माँ को और कोई नहीं मिलता तो वह बीरू का ही मग़ज़ चाटने लगती है। बीरू की समझ में नहीं आता कि माँ कह क्या रही है। कहती है, मैंने सब पता लगा लिया है। निगोड़े का न कोई घर न घाट। पढ़ा-लिखा कुछ भी नहीं। छोटा-सा था तो अपने घर से भाग निकला था। उसे अपने माँ-बाप का भी कुछ पता नहीं कि वे कहाँ हैं कहाँ नहीं, हैं भी कि नहीं। बीरू ने एक दिन पूछ लिया था, यह बहनजी क्या उसकी माँ नहीं लगतीं? बस, फिर क्या था, पूरे दो घंटे तक माँ बहनजी के बारे में ऐसी-ऐसी बातें करती रही कि अगर वह सुन लेती तो माँ को जान से मारे बिना न रहती। लेकिन फिर भी बीरू की समझ में यह बात साफ़ तौर पर नहीं आयी कि बहनजी अगर उस नरेश की असली माँ नहीं तो फिर क्या है।

यही सवाल उसने देवी से भी किया था। देवी ने यह कहकर टाल दिया था, वह उसकी धर्म की माँ है। और जब उसने माँ से पूछा था कि धर्म की माँ क्या होती है तो माँ ने फिर ऐसी-ऐसी बातें कहनी शुरू कर दीं कि बीरू को शर्म आने लगी थी और उसने दिल ही दिल में फ़ैसला किया था कि वह असलम से पूछेगा कि मुसलमानों में धर्म की माँएँ होती हैं या नहीं।

असलम से मिले उसे कितने ही दिन हो गये हैं। उसे तो शायद पता भी नहीं होगा कि मुझे बुखार है। पता होता तो भी वह हमारे घर नहीं आता। वह न जाने उस दिन स्टेशन पर उससे किस बात पर नाराज़ हो गया। वापसी पर रास्ते में उससे सीधे मुँह बात तक नहीं की। लेकिन उस दिन तो वह हफ़ीज़ा के जाने की वजह से उदास होगा।

हफ़ीज़ा ने उससे कहा था, बीरू, तुम असलम के साथ लाहौर आना। असलम शायद लाहौर चला गया हो।

अगर देवी की शादी नरेश से हो जाती तो वह भी उसके साथ लाहौर चला जाता। लेकिन अब देवी की शादी और किसी से भी हो, नरेश से नहीं होगी। माँ ने साफ़ कह दिया है, मर जाऊँगी, लेकिन तेरी शादी उस लफ़ंगे से नहीं होने दूँगी। देवी ने भी कह दिया है, सारी उमर कुँवारी बैठी रहूँगी, लेकिन शादी किसी दूसरे से नहीं करूँगी। ये फ़ैसले उसी दिन हो गये थे, जिस दिन बहनजी माँ से मिलने आयी थी और माँ ने उसे जली कटी सुनाकर वापस भेज दिया था। अब बहनजी तो नरेश को लेकर लाहौर चली गयी है और ये फ़ैसले दिन में दो या तीन बार दोहरा दिये जाते हैं। माँ अपने माथे पर हाथ मारकर कह उठती है, हाय, मेरी क़िस्मत तो उसी दिन फूट गयी, जिस दिन तू मेरे घर पैदा हुई! देवी माँ के हर वाक्य को थोड़ा इधर-उधर करके बिल्कुल माँ ही के अन्दाज़ में जवाब दे देती है, जिसे सुनकर माँ दाँत पीसने लगती है।

एक दिन जब माँ घर में नहीं थी तो पारो ने आकर देवी के कान में न जाने क्या कहा था कि देवी फूट-फूटकर रोने लगी। उस दिन से देवी ने माँ से बोलना बन्द कर रखा है। माँ कुछ भी कहती रहे, देवी जवाब नहीं देती। माँ को इस पर बहुत ग़ुस्सा आता है। इतना कि उसे रोना आ जाता है।

देवी और पारो अब एक-दूसरे से बहुत कम मिलती हैं। देवी हर वक़्त घर में ही पड़ी रहती है। अगर कभी पारो आती भी है तो दोनों चुपचाप बैठी रहती हैं। उन्हें उस तरह गुमसुम बैठा देखकर बीरू का जी बहुत ख़राब होता है लेकिन वे उसकी ओर देखतीं भी नहीं। थोड़ी देर बाद जब पारो उठकर जाने लगती है तो देवी उसे बैठने के लिए नहीं कहती। बीरू पारो की ओर देखता है लेकिन पारो उसकी ओर देखकर न मुस्कराती है, न उससे बात करती है। दोनों को मानो साँप सूँघ गया हो। पहले जितना ज़्यादा बोलती थी, अब उतना ही कम।

आज ये दोनों क्या बातें कर रही होंगी? कहीं बहनजी और नरेश लाहौर से वापस तो नहीं आ गये? माँ को गये भी बहुत देर हो गयी है। माँ उसे कह गयी थी, मैं अभी आ रही हूँ। तेरे लिए चरणामृत लाऊँगी।

अगर पीछे से बाबा आ जाएँ तो मज़ा आ जाए। मैं उनसे कड़ों की सारी बात

पूछ लूँ, उन्हें नरेश वाली बात बता दूँ, उनकी गोद में बैठकर...बाबा का ख़्याल आते ही उसका गला भारी होने लगता है। वह आँखें बन्द कर लेता है और उसे लगता है जैसे बाबा सामने खड़े झूम रहे हों, माँ को गालियाँ दे रहे हों, अपना माथा पीट रहे हों, या अपने किसी दोस्त के साथ सिर झुकाये खड़े हों। बाबा का सिर हमेशा झुका क्यों रहता है? कुछ भी हो, बाबा उसे अच्छे लगते हैं, न जाने क्यों। अगर किसी तरह वह इसी घड़ी आ जाएँ तो...

ड्योढ़ी का दरवाज़ा खुलता है। बीरू एक झटके से उठकर बैठ जाता है। दरवाज़ा बन्द हो जाता है। बीरू चारपाई से नीचे उतर आता है। सामने बाबा खड़े हैं। वही ढीली-ढाली पगड़ी, वही बढ़ी-बढ़ी दाढ़ी, वही मैले-मैले कपड़े, फटे हुए जूते, झुका-सा सिर, सुर्ख आँखें जो हमेशा ज़मीन पर गड़ी रहती हैं। बीरू दौड़कर उनकी टाँगों से लिपट जाता है। बाबा उसकी पीठ पर हाथ फेरते हैं। बीरू उनकी ओर देखता है। उनकी आँखों में आँसू हैं। बीरू की निगाह एक प्रश्न बनकर उन तक पहुँचती है। बाबा आँख चुरा जाते हैं। बीरू उन्हें चारपाई की ओर ले जाता है। उसके होठ काँप रहे हैं। बाबा उसे छाती से लगा लेते हैं। बीरू को बहुत आराम मिलता है और उसकी आँखों पर मस्ती-सी छाने लगती है।

—यह शीशा कैसे टूटा?

—मैंने तोड़ दिया।

बाबा कुछ नहीं कहते। बीरू सोचता है, अभी पूछेंगे कि माँ कहाँ है। लेकिन बाबा माँ या देवी के बारे में कुछ नहीं पूछते। बीरू टकटकी लगाये उनकी ओर देख रहा है। बाबा उसकी आँख से आँख नहीं मिला पाते, जैसे उन्हें शर्म आ रही हो। बीरू पूछना चाहता है कि वह इतने दिन कहाँ रहे, माँ के साथ क्यों नहीं आये? वह पूछना चाहता है कि माँ के कड़ों का क्या हुआ, क्या माँ सच कहती है कि...वह पूछना चाहता है कि रामलाल कौन है, वह उन्हें जेहलम के स्टेशन पर कैसे मिल गया, कड़े लेकर वे दोनों कहाँ गये? वह पूछना चाहता है कि वह उसके लिए क्या लाये हैं, उनका सामान कहाँ है...वह उनसे कई बेसिर-पैर की बातें भी पूछना चाहता है। और उन्हें बताना चाहता है कि उसे कई दिनों से बुखार आ रहा है, माँ मन्दिर गयी हुई है, माँ और देवी में हर रोज़ लड़ाई होती है, नरेश...लेकिन नरेश की बात बाबा से वह कैसे करेगा, बाबा तो शायद जानते ही नहीं कि नरेश है कौन...

लेकिन कुछ पूछने या बताने के बजाय वह आधा उनकी गोद में, आधा बिस्तर पर पड़ा चुपचाप उनकी ओर देखकर खुश हो रहा है, जैसे उनसे कह रहा हो, घबराओ नहीं, मैं आपसे कुछ भी नहीं पूछूँगा।

बाबा आते ही न जाने किस सोच में डूब गये हैं। अपनी ठोड़ी हाथ में लिये ऐसे बैठ गये हैं, जैसे हमेशा से वहीं और उसी मुद्रा में बैठे हों। बीरू का जी चाहता

है कि उनके पेट में गुदगुदी कर दे।

—तेरी माँ ने आकर शोर तो बहुत मचाया होगा?

बीरू हाँ में सिर हिला देता है।

—कड़ों की बात की होगी?

बीरू फिर हाँ में सिर हिला देता है।

—क्या कहती थी?

बीरू क्या बताए, वह सोच ही रहा होता है कि बाबा पूछते हैं—दफ़्तर से तो कोई आदमी नहीं आया था?

—आया था।

—क्या कहता था?

—एक काग़ज़ दे गया था।

—कहाँ है।

काग़ज़ की बात सुनते ही बाबा का रंग पीला पड़ जाता है और वह उसे गोद से झटककर खड़े हो जाते हैं।

—कहाँ है? बताओ!

—माँ ने कहीं रखा है।

—वह कहाँ है?

—मन्दिर गयी हुई है।

—देवी कहाँ है?

—पारो के घर।

—काग़ज़ में क्या लिखा था, कुछ पता है?

—नहीं।

—कब आया था?

—कल।

—कौन देने आया था।

—चपरासी।

—उसने कुछ कहा था?

—नहीं।

बीरू हैरान है कि बाबा उस छोटे-से काग़ज़ से क्यों इतना घबरा रहे हैं।

—बाबा, उस काग़ज़ में क्या लिखा होगा?

बाबा जैसे ख़ुद अपने आप से यही सवाल पूछ रहे हों। कुछ सोचकर बोलते हैं, जैसे अपने आपसे ही बोल रहे हों—दो ही बातें हो सकती हैं। या तो नौकरी से जवाब या यहाँ से तबादला। और यह कहकर बाबा फिर सिर पकड़कर बीरू

के पास बैठ जाते हैं।

बीरू उनसे पूछना चाहता है कि वह माँ को जेहलम के स्टेशन पर अकेला छोड़कर कहाँ चले गये थे, क्यों चल गये थे, इतने दिन कहाँ रहे, माँ के कड़े कहाँ गये, वह रामलाल कौन है, उन्हें स्टेशन पर कैसे मिल गया। लेकिन जब वह उनके उदास चेहरे की ओर देखता है तो उसके प्रश्न अपने आप शान्त हो जाते हैं और उनका स्थान केवल एक प्रश्न ले लेता है—बाबा, आप क्या सोच रहे हैं?

बाबा, उसकी ओर देखकर मुस्कुराते हैं, मानो उसके प्रश्न की सराहना कर रहे हों और साथ ही अपनी मज़बूरियों का सामना भी। बीरू खिसककर उनकी गोद में जा बैठता है और उनके हाथों को अपने हाथों में लेकर उनकी ओर देखने लगता है। उनकी आँखें फिर चमक रही हैं! उनकी मुस्कुराहट धीरे-धीरे आँसुओं में बदलती जा रही है।

—बाबा आप बहनजी को जानते हैं?

बाबा हाँ में सिर हिलाकर उसकी ओर देखते हैं। वह पूछ रहे हैं कि बहनजी को क्या हुआ? बीरू को कुछ देर के लिए समझ में नहीं आता कि वह बहनजी की बात को आगे कैसे चलाए।

—एक दिन माँ और बहनजी की लड़ाई हुई थी।

—किस बात पर?

बाबा यह सुनकर हैरान क्यों हो गये हैं?

—एक दिन वह हमारे घर आयी थी। माँ ने उसे घर से निकाल दिया। वह उसी दिन नरेश को लेकर लाहौर चली गयी। इस पर देवी भी माँ से बहुत लड़ी थी। यह कहकर बीरू बाबा की ओर यूँ देखता है जैसे उनसे पूछ रहा हो कि वह उसकी बात समझे हैं कि नहीं।

—नरेश कौन? वही, जिसे उसने अपना बेटा बना रखा है? वह यहाँ आया था?

—हमारे घर नहीं आया था। पारो है न, उसके घर देवी से मिलता था। पारो कहती थी, देवी उससे शादी करेगी। जब माँ आयी तो माँ को सब पता चल गया। माँ ने देवी को बहुत गालियाँ दीं। कहने लगी, मैं यह शादी कभी भी नहीं होने दूँगा! उसी दिन माँ ने मुझे भी बहुत पीटा था। और उसी से मुझे बुखार भी हो गया था। मेरा बुखार अभी तक नहीं उतरा। देवी ने माँ से बोलचाल बन्द कर रखी है। कहती है, अब मैं माँ से कभी नहीं बोलूँगी।

बीरू बोलता चला जाता है। बाबा बड़े ध्यान से उसकी बात सुन रहे हैं। सुनते-सुनते मानो थोड़ी देर के लिए उन्हें अपनी चिन्ताएँ भूल गयी हों।

—माँ कहती है, नरेश लुच्चा-लफ़ंगा है। कहती है, वह बहनजी का लड़का

नहीं है। उस दिन उसने बहनजी से कह दिया, तुम ही इससे शादी कर लो। इसी बात पर बहनजी को इतना ग़ुस्सा आया कि उसने कोई बात तक नहीं की और चुपचाप चली गयी। उसी दिन शाम को वह नरेश को लेकर लाहौर चली गयी।

बाबा उसकी ओर ऐसे देख रहे हैं जैसे बहुत कुछ और जानना चाहते हों। लेकिन न वह पूछते हैं और न वह बताता है। इतने में देवी आ जाती है। उसके साथ पारो भी है! वे बाबा को देखकर ठिठक जाती हैं। फिर देवी आगे बढ़कर बाबा के सामने सिर झुकाकर खड़ी हो जाती है। बाबा उसके सिर पर हाथ फेरते हैं और देवी की आँखों से टप-टप आँसू गिरने लगते हैं। उसे रोता देखकर बीरू का गला भी भर आता है, लेकिन उसके आँसू गिरते नहीं। पारो सिर झुकाये खड़ी रहती है। बीरू बाबा की गोद से परे खिसक जाता है। बाबा देवी के सिर पर हाथ फेरते जा रहे हैं, जैसे सोच रहे हों कि कहें क्या।

देवी बीरू की चारपाई के पास नीचे फ़र्श पर बैठ जाती है और सिर घुटनों में डालकर सुबकने लगती है। बाबा देवी के सिर से हाथ उठाकर अपने माथे पर रख लेते हैं। न जाने वह क्या सोच रहे हैं। पारो चुपचाप वापस बाहर की ओर चल देती है। ड्योढ़ी के दरवाज़े पर कहीं माँ पारो से मिल गयी तो क्या होगा? पिछले कुछ क्षणों में बीरू बिल्कुल भूल ही गया था कि माँ भी है। अब माँ का ख़्याल आते ही उसके सिर में चक्कर से आने लगते हैं। अगर इसी वक़्त ऊपर से माँ आ गयी और उसने देवी को बाबा के पास बैठे रोते देख लिया तो क्या होगा! लेकिन बाबा तो ऐसे बैठे हैं जैसे उनकी जान निकल गयी है। उन्होंने भी अपना सिर घुटनों में डाल लिया है। बीरू को लगता है जैसे कोई आदमी उसके पास दो बँधी हुई गठरियाँ रखकर भाग गया हो।

देवी क्यों रो रही है? अच्छा, वह रोती है तो रोए, लेकिन यह बाबा इतने बड़े होकर क्यों रो रहे हैं? उसने बाबा को रोते बहुत कम देखा है, हँसते तो ख़ैर वह कभी भी नहीं। एक बार वह बहुत रोये थे। उस रोज़ तो माँ ने भी उन्हें चुप कराया था। न जाने कब की बात है। न जाने बात क्या थी। बीरू को कुछ याद नहीं। हो सकता है तब की बात हो जब वह बहुत ही छोटा था। हो सकता है माँ ने ही उसे बताया हो। कई बार न जाने किन-किन काली गुफ़ाओं से कोई भूली-बिसरी याद लपककर उसके मन पर एक कौंध-सा छोड़ जाती है और वह फिर देर तक उन काली गुफ़ाओं में भटकता रहता है।

देवी सिर उठाती है। बाबा की ओर देखती है। वह उसी तरह सिर घुटनों में डाले बैठे हैं। वह भी फिर सिर घुटनों में डाल देती है। उसके गाल आँसुओं से भीगे हुए हैं और उसकी आँखों में लाल धारियाँ झलक रही हैं। दो लम्बे-लम्बे बाल उसके गालों से चिपके हुए हैं। वह बीरू की ओर देखती तक नहीं। थोड़ी

देर बाद बाबा सिर उठाते हैं। देवी की ओर देखते हैं। देवी सिर घुटनों में डाले बैठी है। वह भी अपना सिर फिर घुटनों में डाल लेते हैं। बीरू की ओर देखते तक नहीं। उनके चेहरे के ढलके हुए मांस की तहें भी आँसुओं से गीली हैं। उनकी आँखें मानो दो लाल-लाल बेर हों। उनके माथे पर बिखरा हुआ सफ़ेद-सफ़ेद बालों का गुच्छा मानो उनकी आँखों से पानी माँग रहा हो।

अगर उन दोनों के सिर एक ही समय उठते और वे एक बार एक-दूसरे की ओर देख लेते तो शायद उनके सिर वापस घुटनों में न जा गिरते।

अब तो माँ ही आ जाए तो यह साँय-साँय करती ख़ामोशी दूर हो। गली भी इस समय यूँ सुनसान पड़ी है जैसे सब लोग कहीं किसी मेले में चले गये हों या थोड़ी देर के लिए मर गये हों। काश, मैं भी थोड़ी देर के लिए मरके देख सकता कि माँ, बाबा और देवी की क्या हालत होती है!

चारपाई से वह उठ खड़ा होता है। बाबा सिर उठाकर उसकी ओर नहीं देखते। वह थोड़ी देर खड़ा रहता है कि शायद देवी ही देख ले। लेकिन वे दोनों तो शायद रोते-रोते सो गये हैं।

रसोई तक पहुँचते-पहुँचते उसे कई चक्कर आते हैं। रसोई में एक भी साफ़ गिलास नहीं है। घड़े में पानी नहीं और चूल्हे में आग नहीं। दादी ठीक ही कहा करती थी। इस घर में कुलच्छमी का ही वासा है।

वह थककर रसोई की दहलीज़ में ही बैठ जाता है।

ड्योढ़ी का दरवाज़ा खटाक से खुलता है। बाबा और देवी के सिर एक साथ ऊपर को उठते हैं। माँ दरवाज़ा बन्द करके अन्दर आती है। पहले सीधे बीरू की ओर बढ़ती है फिर कमरे की ओर मुड़ जाती है। बाबा को देखते ही उनकी ओर ऐसे भागती है जैसे जाते ही उनके गले से लिपट जाएगी। बीरू उठकर खड़ा हो जाता है।

माँ बाबा के सिर पर खड़ी है।

—मेरे कड़े मुझे दे दो!

बाबा सिर झुका लेते हैं।

—मैं कहती हूँ निकालो मेरे कड़े।

बाबा कुछ जवाब नहीं देते। गर्दन टेढ़ी किये माँ की ओर देख भर लेते हैं। वे घुटनों को बाँहों की लपेट में लिये बैठे हैं।

माँ आगे बढ़कर उनकी जेबें टटोलने लगती है। वह अब बाबा के इतने पास है कि बाबा किसी भी क्षण उसकी गर्दन दबोच सकते हैं। बीरू की टाँगे काँपने लगती हैं। वह फिर बैठ जाता है।

बाबा की सारी जेबें टटोल चुकने के बाद भी माँ को कुछ नहीं मिलता तो

वह पागल हो जाती है।

—कहाँ हैं मेरे कड़े? कहाँ हैं? मैं छाती पीट-पीटकर अपनी जान दे दूँगी, नहीं तो मुझे मेरे कड़े वापस करो। अभी! इसी घड़ी!

माँ की मुट्ठियाँ भिंची हुई हैं और उसका एक-एक अंग काँप रहा है।

अब क्या होगा?

माँ अचानक पूरे ज़ोर से अपनी छाती पीटने लगती है। अपनी कमीज़ खींचकर चर्र से चीर देती है। ज़ोर-ज़ोर से अपने पाँव ज़मीन पर पटकती है। बाल नोंच लेती है। और बीरू की आँखों के सामने अँधेरा छाने लगता है। वह दोनों हाथों से अपना सिर थाम लेता है।

देवी खड़ी देख रही है। आगे बढ़कर माँ के हाथ क्यों नहीं पकड़ लेती? वह तो जैसे माँ से बदला ले रही हो! अगर वह माँ के नज़दीक गया तो माँ उसे झटककर परे फेंक देगी। लेकिन आख़िर कब तक वह इसी तरह छाती पीटती रहेगी? बाबा क्यों चुपचाप बैठे हैं? वही उठकर उसके हाथ मरोड़कर उसे चारपाई पर फेंक...लेकिन...बीरू को अपना सिर हवा में उड़ता हुआ महसूस होता है।

ड्योढ़ी के दरवाज़े के बाहर लोग जमा हो रहे हैं।

माँ बेतहाशा छाती पीटती चली जा रही है। कह रही है—मैं आज अपने टुकड़े-टुकड़े कर डालूँगी!...मैं आज तुम्हारे सिर चढ़कर मर जाऊँगी!...नहीं तो बताओ, मेरे कड़े कहाँ हैं? बताओ, बताओ, बताओ!..

माँ के चेहरे पर उसकी आँखें, जैसे किसी लहकते हुए बाग़ में दो फूल।

बाबा आख़िर उठते हैं। वह जवानी में रामलीला के दिनों में रावण की भूमिका अदा किया करते थे। माँ कई बार उसे बता चुकी है कि उन दिनों उनका रंग ताँबे की तरह था और उनकी आवाज़ में ऐसा कड़कीलापन था कि बड़ों-बड़ों के दिल दहल जाया करते थे।

इस वक़्त भी बाबा का रूप कुछ वैसा ही दिखाई दे रहा है। वह टकटकी लगाये माँ की ओर देख रहे हैं। और माँ बिल्कुल उनके सामने सिर को थोड़ा-सा नीचा किये दोनों हाथ ताबड़तोड़ अपने माथे पर मार रही है, जैसे पुराने वक़्तों का कोई दरबारी फ़र्शी सलाम करते-करते पागल हो गया हो।

आख़िर बाबा हाथ उठाते हैं। माँ लुढ़कती हुई ड्योढ़ी के दरवाज़े से जा टकराती है। दरवाज़े की कुंडी खुल जाती है। और कई लोग एक साथ अन्दर दाखिल होते हैं।

लोगों को देखते ही माँ चीख़ें मार-मारकर रोना शुरू कर देती है। बाबा सिर लटकाये खड़े रहते हैं। औरतें माँ के इर्द-गिर्द घेरा डालने लगती हैं। टक्कर लगने से माँ का सिर फूट गया है। वह बार-बार अपने सिर को छूती है और फिर ख़ून

से लथड़े हुए हाथों की ओर देखकर ऊँचा-ऊँचा रोना शुरू कर देती है।

देवी अब भी माँ से अलग खड़ी है।

बाबा कमरे में चले जाते हैं और दरवाज़ा अन्दर से बन्द कर लेते हैं।

दरवाज़ा बन्द होता देख माँ हाथ ऊपर उठाकर चिल्लाने लगती है—हाय, दरवाज़ा खुलवाओ! कहीं वो अपने आपको कुछ कर न लें।

कुछ औरतें कमरे के दरवाज़े की ओर लपकती हैं। कुछ आदमी भी अन्दर आ गये हैं। सब दरवाज़ा खटखटा रहे हैं। और बाबा का नाम ले-लेकर उन्हें दरवाज़ा खोलने के लिए कह रहे हैं। माँ भी उठकर उन लोगों में शामिल हो गयी है। कह रही है—हाय, दरवाज़ा खुलवाओ, कहीं वो अपने आपको कुछ कर न लें! देवी भी बाबा को आवाज़ें दे रही है। लेकिन बाबा अन्दर से न जवाब देते हैं, न दरवाज़ा खोलते हैं।

बीरू दहलीज़ से उठकर रसोई के अन्दर चला जाता है। दरवाज़ा अन्दर से बन्द कर लेता है। कुंडी लगाने की कोशिश करता है, लेकिन वह टूटी हुई है। रसोई के एक कोने में एक रस्सी पड़ी है। बाबा ने दरवाज़ा अभी तक नहीं खोला। माँ चिल्ला रही है, दरवाज़ा तोड़ दो, नहीं तो वो अपने आपको कुछ कर लेंगे! अब बहुत से लोग एक साथ बाबा का नाम ले-लेकर उन्हें दरवाज़ा खोलने के लिए कह रहे हैं। कुछ लोग बाबा को गालियाँ भी दे रहे हैं। कुछ लोग माँ से पूछ रहे हैं, हुआ क्या, कुछ पता भी तो चले? माँ अपनी ही रट लगाये जा रही है, हाय, दरवाजा तोड़ दो, नहीं तो वो अपने आपको कुछ कर लेंगे! रसोई के कोने में एक रस्सी पड़ी है। बीरू की आँखें उस पर जमी हुई हैं और कान बाहर से आ रही आवाज़ों पर। देवी चिल्ला रही है, बाबा, बाबा, बाबा! माँ का गला बैठ गया है, हाय, दरवाज़ा तोड़ दो, लोगो, नहीं तो मैं क्या करूँगी? बाबा का दोस्त शामसिंह कह रहा है, दरवाज़ा खोल दो, भाई, क्यों तमाशा दिखाते हो सारी दुनिया को? एक और आदमी कह रहा है, खोलते हो या बुलाएँ पुलिस को! देवी कह रही है, ले लिये कड़े? मिल गये कड़े? और माँगो कड़े! पारो कह रही है, देवी, तुम आवाज़ दो, बीरू को बुलाओ, वह आवाज़ देगा, तो ज़रूर खोल देंगे! बाबा अन्दर बैठे क्या कर रहे होंगे? ...हाय, दरवाज़ा खोल दो! ...हाय, दरवाज़ा तोड़ दो? ...हाय, अगर उन्होंने कुछ कर लिया, तो मैं क्या करूँगी? ...अगर इतना ही डर था, तो पहले क्यों नहीं सोचा? ...राम राम! परमपिता परमेश्वर, जगतपिता! ...हाय हाय! मुझे क्या पता था! ...खोलो दरवाज़ा, दरवाज़ा खोलो, भाई!...पुलिस को बुलवाओ...पुलिस को मत बुलवाओ...पहले ही बेचारे की नौकरी ख़तरे में है...हाय, मैं क्या करूँ?...और बीरू रसोई के कोने में पड़ी उस रस्सी को उठाकर अपने गले में डाल लेता है। यह रस्सी उनकी गाय की है। गाय मर गयी। इतनी छोटी रस्सी गाय की

कैसे हो सकती है? बछड़े की होगी। बछड़ा भी गाय के साथ ही मर गया होगा। बाबा ने दरवाज़ा अभी तक नहीं खोला। ...हाय, अब तोड़ भी दो दरवाज़ा! कहीं उन्होंने अपने आपको कुछ कर लिया, तो...तुम सब चुप कर जाओ, मुझे बात करने दो। ...तुम बातें ही करते रहना! मैं कह रहा हूँ पुलिस को बुला लो! ...पुलिस क्या करेगी? ...नहीं तो तुम करोगे? ...हाय! दरवाज़ा तोड़ दो, लोगो। क्यों तमाशा दिखा रहे हो। ...अच्छा, नहीं तो न सही। ...बीरू को बुलाओ। ...राम! बीरू कहेगा तो ज़रूर खोल देंगे! ...बीरू काँप रहा है, बाबा, दरवाज़ा खोल दो। ...बीरू कह रहा है, बाबा, दरवाज़ा खोलो! ...और बीरू अपने गले में पड़ी उस रस्सी में एक गाँठ दे लेता है। लेकिन यह आवाज़ तो माँ की है, नहीं, देवी की है, नहीं, जलालपुरनी की है, नहीं शामसिंह की है, नहीं असलम की है, नहीं, पारो की है...बीरू रस्सी को खींचता जाता है और सब आवाज़ें एक-दूसरी में घुलती हुई मद्धिम पड़ती जाती हैं।

उधर बाबा के कमरे का दरवाज़ा टूटता है, इधर रसोई में बीरू धड़ाम से नीचे गिर पड़ता है। गिरने से उसके गले में पड़ा फन्दा कुछ ढीला पड़ जाता है और बाहर से आ रहा शोर फिर धीरे-धीरे उसके कानों में भनभनाने लगता है।

□

(साभार वाग्देवी प्रकाशन, बीकानेर)

गुज़रा हुआ ज़माना

(ये उपन्यास-अंश निरन्तरता में नहीं हैं। सम्पादकीय अभिरुचि के अनुसार इनका चयन किया गया है।)

उस दिन के बाद याद नहीं कितने दिनों तक घर मे माँ का ही राज रहा था। वह हर वक़्त किसी पागल महारानी की तरह दनदनाती रहती, हम सब डरे हुए दरबारियों की तरह बग़लें झाँकते रहते। वह शिकायतों और तानों से बाबा को कौंचती रहता, बाबा सिर झुकाये सब सुनते रहते। मुझे उनके धीरज पर हैरानी होती। किसी ज़बरदस्त धमाके का खटका बराबर लगा रहता। माँ कभी-कभी मुझे घर से बाहर धकेलना शुरू कर देती—तू कुछ खेला-कूदा भी कर, हर वक़्त घर में घुसा रहता है, रोटी कैसे हज़म होगी? मैं समझ जाता कि वह शूम की बीवी के बारे में बाबा से खुलकर लड़ने-झगड़ने के लिए मौक़ा ढूँढ़ रही थी। उससे पहले उसने मेरी या देवी की मौजूदगी की कभी कोई परवाह नहीं की थी। मेरी कोशिश रहती कि माँ और बाबा कभी घर में अकेले न रहें। स्कूल से मैं दौड़ता हुआ घर लौट आता। माँ शक करती रहती कि मैं छुट्टी से पहले ही आ गया था। केशव ने भी मेरे साथ चिपकना कुछ कम कर दिया था। सुबह को भी मैं टालमटोल करता रहता और माँ शोर मचाती रहती कि मुझे स्कूल को देर हो जाएगी, लेकिन मैं तभी घर से बाहर निकलता जब बाबा। यह उम्मीद बनी रहती कि किसी रोज़ वे मेरी तरफ़ देखकर आँख झपक देंगे और मैं समझ जाऊँगा कि वह मेरी मदद और हमदर्दी की सराहना कर रहे थे। जी चाहता रहता कि किसी रोज़ उनसे कह दूँ कि मुझे सब मालूम था, बता दूँ कि मैं उनकी तरफ़ था, पूछ लूँ कि वे फिर कभी उधर गये थे या नहीं। लेकिन उनका चेहरा या तो कीचड़-सा गिचगिचा दिखाई देता या चट्टान-सा सख़्त। उनकी नज़रें किसी ऐसे नुक़्ते पर टिकी रहतीं जो मुझे नज़र तक न आता। फिर भी यह उमंग मुझे गरमाती रहती कि किसी रात जब माँ और देवी गहरी नींद में डूबी हुई हों, बाबा मेरी चारपाई पर आ लेटें और मुझे अपनी आपबीती सुना दें।

आपबीती और जगबीती के आपसी फ़र्क़ का मुझे एक अरसे से मद्धिम-सा

अन्दाज़ा था। शुरू बचपन में कभी-कभार जब घर में शान्ति होती तो बाबा रात को लम्बी-लम्बी कहानियाँ सुनाया करते थे। वे सब कहानियाँ तक़रीबन एक ही तरीक़े से शुरू होती थीं—एक था राजा। उसे अकसर रात को नींद नहीं आती थी। एक रात जब देर तक करवटें बदलने और तारे गिनने के बाद भी उसे नींद नहीं आयी तो उसने अपने बूढ़े वज़ीर को बुलवाया और कहा कि वह उसे कोई ऐसी कहानी सुनाए जिसे सुनते-सुनते उसकी आँखें बन्द हो जाएँ। वज़ीर ने हाथ जोड़कर पूछा—राजन्, जगबीती सुनाऊँ या आपबीती?

इस नुक़्ते पर हमेशा मेरी साँस रुक जाया करती थी। मैं इस उम्मीद से कस जाता था कि शायद आज राजा आपबीती की ही फ़रमाइश कर दे, लेकिन उस राजे को न जाने क्यों हर बार जगबीती ही अच्छी लगती थी। मैं सोचता कि वह बूढ़ा वज़ीर भी हर बार मेरी तरह मायूस हो जाता होगा, कि वह राजे से बहुत डरता होगा—उसी तरह जैसे मैं बाबा से डरता था—वरना उसने कभी तो राजा से कह दिया होता—हे राजन्, आज तो आपबीती ही सुनाऊँगा, चाहे मारो, चाहे छोड़ो। कभी-कभी मैं उस वज़ीर की सुनायी हुई जगबीतियों में उसकी और अपनी और बाबा की और उस राजे की आपबीतियों के अक्स देखने में इतना मस्त हो जाता कि बाबा समझते मैं सो गया था। कभी-कभी मुझे यक़ीन हो जाता कि वह बूढ़ा वज़ीर ज़रूर अपनी जगबीतियों में अपनी आपबीतियों को भी मिला देता होगा। कभी-कभी मुझे यह शक हो जाता कि शायद बाबा भी जगबीती के बहाने आपबीती ही सुना रहे थे। और कभी-कभी यह कि जगबीती और आपबीती में कोई ख़ास फ़र्क़ नहीं था, और वह बूढ़ा वज़ीर यूँही उस राजे को बेवक़ूफ़ बना रहा था। जब कभी मैं इस ख़तरनाक नतीजे के आसपास पहुँच जाता तो मेरी नींद बिल्कुल उड़ जाती, और बाबा थकी-सी आवाज़ में माँ से कहते—अब तू ही सुला इसे।

माँ मुझे सुलाने के लिए अकसर अपनी उस चहेती कहानी का सहारा लिया करती थी जिस पर मुझे नींद के बजाय हँसी ही आती थी। कहानी सुनाने का उसका अन्दाज़ तो अटपटा था ही, आवाज़ भी अजीब हुआ करती थी। कहानी के इर्दगिर्द की दुनिया में वह बार-बार किसी बच्ची की तरह गुम हो जाती और पूछती—मैं कहाँ थी, क्या कह रही थी? साथ-साथ वह एक उँगली से मेरा सिर भी टटोलती रहती थी। मुझे बहुत आराम मिलता था। महसूस होता था जैसे एक मोटा-सा कीड़ा मेरे बालों में रेंगता हुआ मेरी खुजली को मज़े में बदलता जा रहा हो। ख़तरा लगा रहता था कि माँ किसी भी लम्हे कहानी को भूलकर मेरे सिर की खुश्की को ले बैठेगी, बाबा से बादामरोग़न और घी के लिए पैसे माँगने शुरू कर देगी, बाबा कुछ देर चुप रहने के बाद झल्ला उठेंगे, और सारी कैफ़ियत फिर कड़वी हो जाएगी। लेकिन जिस रात रास्ते की सब आलायशों और रुकावटों के बावजूद माँ उस कहानी

को आख़िर तक ले जाती, उस रात वह उस कहानी का आख़िरी फ़िकरा डूबी हुई आवाज़ में तीन बार दोहराती—लच्छमी आवे कुलच्छमी जावे, लच्छमी आवे कुलच्छमी जावे, लच्छमी आवे...। तीसरी बार को बाबा हमेशा बीच में ही टोक दिया करते थे—बस बस, इतना ही काफ़ी है। अगर माँ मौज में होती तो उस टोक की परवाह किये बग़ैर तीसरी बार को पूरा करके एक लम्बी साँस लेती, मानो उसने कुलच्छमी को सदा के लिए घर से निकाल दिया हो। अगर उसे तैश आ जाता तो मेरे बालों से उँगली निकालकर बाबा से झगड़ना शुरू कर देती, और मुझे महसूस होता कि कुलच्छमी कभी कहीं और नहीं जाएगी। अगर बाबा मौज में होते तो वह झगड़ा जल्द ही मज़ाक़ में बदल जाता, और हम सब मिलकर तीन बार लच्छमी का स्वागत करते और कुलच्छमी को रुख़सत।

बाबा बताया करते थे कि माँ की बड़ी बहन का नाम तो कुछ और ही था लेकिन उसके लच्छन सदा कुलच्छमी के-से ही थे। साथ धीमी आवाज़ में यह भी कह दिया करते थे कि माँ ख़ुद भी किसी कुलच्छमी से कम नहीं थी। माँ शिकायत करती कि बाबा ने उसकी बहन को तो लच्छमी का ख़िताब दे रखा था, ख़ुद उसे कुलच्छमी का। जब बाबा मौज में होते और माँ शोर मचा रही होती तो वे नारा-सा लगा देते—लच्छमी आवे कुलच्छमी जावे।

मैं हैरान हुआ करता था कि माँ की नज़र में वह कहानी जगबीती थी या आपबीती। मैंने उसे आपबीती के ज़ुमरे में ही रखा हुआ था, लेकिन अगर मैंने अपनी हैरानी का पीछा किया होता तो आपबीती और जगबीती का आपसी फ़र्क़ शायद उसी ज़माने में कुछ और साफ़, कुछ और कम, हो गया होता।

शूम की बीवी वाले हंगामे के बाद घर में माँ के मातमी राज के उस दौर में मैं अकसर अपने उड़े-उड़े-से बचपन की यादों को यूँ खोजता खोदता रहता था जैसे वह सुहाना और सुनहरा हो और उसे बीते कुछ साल नहीं कई सदियाँ हो चुकी हों, या जैसे उसको एक जाँसोज़ जगबीती में बदल देने की ख़्वाहिश ने मुझे परेशान करना शुरू कर दिया हो। जी चाहता रहता कि किसी रोज़ बाबा के साथ अकेले बैठकर उन यादों की नुमाइश लगा दूँ, ताकि माँ के साथ अपने और उनके तमाम उलझावों का मुकम्मल-सा मुआइना हो सके, लेकिन न तो कोई मौक़ा मिलता, न माक़ूल लफ़्ज़ सूझते। और मैं अपनी तिलमिलाहटों की पोटली उठाये बाबा की ख़ामोशियों के इर्दगिर्द मँडराता रहता।

शुरू बचपन से ही मुझे महसूस होना शुरू हो गया था कि बाबा ग़ुस्से या नशे में माँ पर कितना ही बिगड़-बरस क्यों न लें, ग़ुस्सा या नशा उतर जाने पर उन्हें उसकी तमाम हरकतों पर हँसी आती थी या अफ़सोस। इसीलिए शायद शुरू बचपन से ही मैं यह चाहता चला आ रहा था कि बाबा मुझे अपना हमराज़ बना

लें, मेरे साथ मिलकर खुली ज़ुबान से माँ की मूर्खताओं पर नाराज़ हों या उनका मज़ा लें, और कभी भी उसे या अपने आपको पीटें नहीं। एक तरफ़ तो मैं यह चाहता था कि माँ उनसे दबकर रहे, दूसरी तरफ़ जब कभी मैं उन्हें माँ की किसी रट या राड़ पर बेक़ाबू हो उस पर टूट पड़ते देखता, और माँ किसी डरे हुए जंगली जानवर की तरह सहम जाती, तो मेरी हमदर्दी का रुख़ उसकी तरफ़ मुड़ जाता और हैबत का उनकी तरफ़। महसूस होता जैसे उनकी दस्तदराज़ी उनकी ग़लती का सुबूत हो और उसकी दहशत उनके ज़ुल्म का नतीजा।

शूम की बीवी वाले हंगामे के बाद जब बाबा कई दिनों तक गुमसुम बने माँ की लानत-मुलामत सुनते रहे तो मुझे यक़ीन हो गया कि वे गुज़रे हुए ज़माने की यादों को भी खोज-खोद रहे थे और कोई कड़ा-सा प्रायश्चित भी कर रहे थे, जिसके बावजूद माँ उन्हें मटियामेट करने पर तुली हुई नज़र आती थी। उसी क़िस्म का दमघोंट माहौल माँ के कड़ों वाली घटना के बाद कई दिनों तक घर में तना रहा था। इसलिए भी मेरा जी चाहता रहा था कि अपनी उम्र और लाइल्मी की हदों को तोड़कर बाबा से कह दूँ कि मुझे मालूम था कि शूम की बीवी ने उन्हें धोखा दिया था, कि मैं आइन्दा कभी उस जैसी तोताचश्म औरत के जाल में नहीं फँसूँगा, कि माँ जल्द ही वह सारा क़िस्सा भूल जाएगी, कि मुझ पर उस वारदात का कोई बुरा असर नहीं हुआ था।

बेशक मुझे साफ़-साफ़ यह मालूम नहीं था कि शूम की बीवी ने बाबा को या मुझे क्या धोखा दिया था, लेकिन सदमा सर्द हो जाने पर मैं यह सोच-सोचकर अन्दर ही अन्दर उबलता रहा था कि उसने बाबा को भद्दी घरेलू गालियाँ दे-देकर, बुड्ढा बदमाश कह-कहकर, मेरी आँख से आँख न मिलाकर, और रो-चिल्लाकर सबकी आँखों में धूल झोंकने की कोशिश ज़रूर की थी। अगर उस सारे तमाशे के दौरान वह ख़ुद ख़ामोश और हक्की बक्की बनी रही होती, या एक तरफ़ बैठकर सुबकती-सी रहती, तो मैंने ज़रूर उसे मुआफ़ कर दिया होता। कई दिनों तक यह ख़्वाहिश किसी ख़राश की तरह मुझे तंग करती रही थी कि हिम्मत बाँधकर बाबा से पूछ लूँ कि उसने उन्हें धोखा दिया था या नहीं, कि उन्होंने उसे मुआफ़ किया था या नहीं।

इधर मैं अपनी उलझनों के नीचे दबा घुट-घुल रहा था। उधर वह वारदात किसी नयी वबा की तरह खुल-फूलकर स्कूल में फैलती जा रही थी। क़स्बे की एक मनपसन्द कहावत के मुताबिक़ सच्चाई सात परदों को फाड़कर बाहर निकल आयी थी और सबके सामने नंगी होकर नाच रही थी। असलम ने उसका नाच देखने के बाद ही शायद एक दिन मुझे पकड़कर पूछ लिया—बीरू, तू ही बता कि हुआ क्या था?

मुझे मानो उसी दोटूक सवाल का इन्तज़ार हो, मैंने उसे सबकुछ बता दिया और महसूस किया जैसे किसी ने मुझे किसी मल्बे के नीचे से निकाल लिया हो।

असलम ने मेरा बयान सुनने के बाद फ़ैसला सुनाया—बीरू, उस बेवफ़ा बाँझ ने तुम तीनों को उल्लू बनाया है। एक तरफ़ तो उसने तेरे बाबा से उस शाम मिलने का पैमान पक्का किया हुआ था, दूसरी तरफ़ शूम को सब बता रखा था, क्योंकि वह उन दोनों की दोस्ती तुड़वाना चाहती थी। वरना शूम का बाप भी ऐन मौक़े पर नहीं पहुँच सकता था। ये औरतें अजीब होती हैं, बीरू। तुझे इनका कुछ पता नहीं। इन्हें यार भी चाहिए, आशिक़ भी, और ख़ाविन्द भी। और बच्चे भी।

अगर कोई और दिन होता तो मैंने असलम की बात को बढ़ाया-चढ़ाया होता, मज़े लिये होते, लेकिन उस वक़्त मैंने जिरह-सी करते हुए कहा—असलू, ऐन मौक़े पर पहुँच जाने से कुछ साबित नहीं होता। आख़िर मैं भी तो ऐन मौक़े पर पहुँच ही गया था, मुझे तो किसी ने कुछ नहीं बताया था।

असलम ऊँची-सी आवाज़ मे बोला—तेरी बात दूसरी है, बीरू, तू आशिक़ है, ख़ाविन्द नहीं। आशिक़ के पास तीसरी आँख होती है, जबकि ख़ाविन्द कमबख़्त आमतौर पर अन्धा होता है।

मैं उसकी बात पर ग़ौर कर ही रहा था कि उसने पक्के मुँह से कहा—बीरू, केशव को मत बताना कि तू ऐन मौक़े पर भी मौजूद था।

लेकिन असलम से बात करने के बाद मेरा बोझ इतना कम हो गया था कि मैंने उसी दिन केशव को भी तक़रीबन सबकुछ बता दिया और महसूस किया कि मैंने भी उसे वैसा ही नज़ारा दिखा दिया है जैसाकि कुछ दिन पहले उसने मुझे दिखाया था। वह न हैरान हुआ न खुश, मानो उसे पहले ही सबकुछ मालूम हो, या वह भी उसी मौक़े पर मौजूद रहा हो, या उसे वैसे मौक़े आम मिलते हों। और कुछ कहने के बजाय बोला—बीरू, अब तू न मेरे घर आता है, न मुझे साथ स्कूल ले जाता है, बात क्या है?

मैंने कहा—कोई बात नहीं, केशव, लेकिन...।

—तो कल सुबह सवेरे आ जाना, इकट्ठे नहाएँगे।

मैंने उसकी तरफ़ यूँ देखा जैसे कह दिया हो कि उसे अठखेलियाँ क्यों सूझ रही थीं। उसने जवाब में आँख मार दी, जैसे कह रहा हो—नहाने का तो बहाना ही है, बीरू, कल आओगे तो ऐसे-ऐसे जलवे दिखाऊँगा कि शूम की बीवी ने भी नहीं दिखाये होंगे। उसका बदला हुआ हुलिया देखकर यूँ लगा था जैसे उसके माँ बापू भी बदल गये हों, और अब उन तीनों ने मिलकर नहाना शुरू कर दिया हो।

केशव की मेहरबानी थी या सचाई थी, मैं नहीं जानता, लेकिन एक दिन मैं पीपल के नीचे बैठा बस्ता बाँध रहा था कि हरदयाल और जीता आकर मेरे सिर

पर खड़े हो गये। उनकी आँखों में शरारत भरी हुई थी। मैं समझ गया कि उन्हें पता चल गया था कि मैं सिर्फ़ मौक़े पर ही नहीं बल्कि ऐन मौक़े पर भी मौजूद था। असलम और केशव से बात करने के बाद अगर मैं हल्का न हो गया होता तो मुझसे उनका मज़ाक़ बरदाश्त न हो पाता। मुझे महसूस हुआ जैसे वे दोनों मेरा मन बहलाने के लिए ही एक नाटक-सा कर रहे हों। और तब मैंने भी उस नाटक में मज़ा-सा लेना शुरू कर दिया।

—बीरू, तू ऐन मौक़े पर कैसे पहुँचा?

—पाँव के बल या आँखों के?

—तुझे पता कैसे चला कि वहाँ क्या तमाशा होने वाला था?

—सपना आया था या इलहाम हुआ था?

—तू बाबा को बुलाने गया था?

—या शूम की बीवी को बिलोने?

—वहाँ पहुँचकर तूने क्या देखा?

—क्या सुना?

—क्या सोचा?

—क्या समझा?

—जब तूने अपने बाबा को उस बेवफ़ा के ऊपर चढ़े देखा तो तेरे दिल पर क्या गुज़री?

—तुझे अपनी आँखों पर यक़ीन आया कि नहीं?

—तेरे दिमाग़ को कितने धक्के लगे?

—तेरी हैरत गुम हुई कि नहीं?

—तेरे अज़ीज़ ने कोई अँगड़ाई ली कि नहीं?

—तेरे मुँह से बेसाख्ता कुछ निकला कि नहीं?

—तुझे उस ग़ार का दीदार मिला कि नहीं?

—कहीं तूने भी तो अपनी तीसरी टाँग को उखाड़ना तो नहीं शुरू कर दिया?

—तेरे बाबा हिल रहे थे या नहीं?

—वह हाय-हाय कर रही थी या नहीं?

—तेरे बाबा तुझे देखकर चिल्लाये या नहीं?

—तू उन्हें देखकर रोया या हँसा?

—शूम की हालत कैसी थी?

—वह गरज रहा था या गिड़गिड़ा रहा था?

—तेरी माँ ने क्या किया?

—क्या कहा?

—वह पहले किस पर बरसी?
—जब वह वहाँ पहुँची तो हो क्या रहा था?
—शूम की बीवी कहाँ थी?
—शूम क्या कर रहा था?
—जब तुम लोग बाहर आये तो मंज़ूरे के बाप ने क्या पूछा?
—मंज़ूरे की माँ भी वहाँ थी या नहीं?
—मंज़ूरे का मुँह कैसा था?
—शेख़ साहिब की दाढ़ी कैसे हिल रही थी?
—बीरू, ईची-बीची नहीं बताएगा तो हम इसी तरह बोलते-बकते रहेंगे।
—अगर ईची-बीची नहीं बता सकता था तो उसकी सी-सी की सुर ही सुना दे।
—अगर वह सी-सी कर रही थी तो ज़रूर उसे मज़ा आ रहा होगा।
—अगर यह मामला अदालत में गया तो तुझसे यही सवाल पूछे जाएँगे।
—और उससे भी।
—और शूम से भी!
—यह मत भूल, बीरू, कि सचाई छुप नहीं सकती बनावट के असूलों से!
—कि खुशबू आ नहीं सकती कभी काग़ज़ के फूलों से।
—ज़माना नाम है मेरा तो मैं सबको मिटा दूँगा।
—मुझको है तेरी जुस्तजू मुझको तिरी तलाश है।
—मुबारिक, मुबारिक, मुबारिक, मुबारिक!
—जाने जहाँ कहाँ है तू मुझको तिरी तलाश है।
—सफ़ाई को रखो हमेशा अज़ीज़!
—ऐ ख़याले पाक मेरे ख़ाली ख़ूली क्यों है तू?
—एक गुल पे हो फ़िदा बुलबुल तू हरजाई न बन!
—गुफ़्तार का ग़ाज़ी वह भी बना!
—सारे जहाँ से अच्छा हिन्दुस्ताँ हमारा!
—तिरे सामने आसमाँ और भी हैं।
—तू हाय गुल पुकारे मैं चिल्लाऊँ हाय दिल।
—उधार मुहब्बत की कैंची है!
—आज का काम कल पर मत छोड़ो।
—यह दुनिया आनी-जानी है।
—क्या बूदोबाश पूछो हो पूरब के साकिनो!
—लायी हयात आये क़ज़ा ले चली चले।

—बहती फिरेंगी हश्र में फ़रदें हिसाब की!

—हम तो डूबे हैं सनम तुझको भी ले डूबेंगे!

—बाज़ आ, बाज़ आ, बाज़ आ!

—बीरू के बच्चे बाज़ आ!

उन्हीं दिनों स्कूल में सालाना मुआइने की तैयारियाँ हो रही थीं, इसलिए पढ़ाई-लिखाई बन्द थी। सारा स्कूल सफ़ाई और सजावट में जुटा हुआ था। सफ़ाई के नाम पर हर रोज़ धूल उड़ायी जा रही थी, डेस्कों को इधर-उधर घसीटा जा रहा था, पंखों को पोंछा-झाड़ा जा रहा था, क्यारियों को पानी और प्यार दिया जा रहा था, और दीवारों को सफ़ेदी और दुलार। सजावट के नाम पर स्कूल के गेट और हर कमरे की हर दीवार पर सबक़आमोज़ कहावतें, सनसनीखेज़ नसीहतें और दर्दनाक शेर लिखे या टाँगे जा रहे थे, जिनकी वजह से असलम के लफ़्ज़ों में हमारा स्कूल किसी हज्जाम की दुकान में बदल गया था और हरदयाल और जीता दो दीवानों में। वे हर वक़्त उन कहावतों और शेरों को ही दोहराते रहते थे। अगर कोई हँसता तो वे उस पर नाराज़ होने का बहाना ऐसे पक्के अन्दाज़ से करते कि हँसने वाला रोने पर उतर आता और वे फिर अपना पाठ शुरू कर देते। उस दिन वे वाही-तबाही बोल ही रहे थे कि केशव भी वहीं आ खड़ा हुआ, और कुछ देर कसमसा रहने के बाद फट उठा—बीरू, इन दोनों को कह दे कि अगर इनकी बकबक बन्द न हुई तो मैं या इनकी जान ले लूँगा या अपनी।

केशव की धमकियों पर अकसर हम सबको सिर्फ़ हँसी या हैरानी ही हुआ करती थी, लेकिन उस रोज़ उसकी आवाज़ में कोई ऐसी कड़क थी या चेहरे में कोई ऐसी ज़र्दी कि हम सहम गये, जैसे उसने अचानक कपड़े फाड़ डाले हों या सिर फोड़ लिया हो। हरदयाल और जीता बेजान-से हो गये। मैंने उसकी तरफ़ यूँ देखा जैसे वह कोई वहशी या अजनबी हो। उसके मुँह के कोनों में झाग के नन्हे नन्हे बुलबुले से जमा हो रहे थे और उसकी आँखें यूँ जगमगा रही थीं जैसे किसी अन्धे की हों। इन्हीं आलामतों पर ग़ौर करने के बाद असलम ने बाद में हमें बताया था कि अगर हम केशव की कड़क सुनकर सहम न गये होते तो वह उसी वक़्त पागल हो गया होता। उसने ही यह सलाह भी दी थी कि हम केशव की माँ को समझाएं कि वह उसे हकीम ज़हरबख़्श के पास ले जाए, क्योंकि पागलपन और मिरगी और मुश्तबाज़ी वग़ैरा का इलाज या तो पीरों-फ़क़ीरों के पास होता है या ख़ानदानी हकीमों के पास। आख़िर में उसने हमें यह तसल्ली भी दी थी कि मिरगी के मरीज़ ख़तरनाक नहीं होते, ख़ौफ़नाक भले ही हों, और उनकी नज़र बहुत तेज़ और गहरी [redacted] उनकी आँखें यूँ जगमगाती हैं जैसे किसी अन्धे की।

[redacted] यही हुआ कि हरदयाल और जीता तो जल्द

ही ग़ायब हो गये, और मैं केशव के पास यूँ खड़ा रह गया जैसे उसकी देखभाल का काम मुझे मिल गया हो। मुझे ख़तरा था कि वह मुझ पर ख़फ़ा होना शुरू कर देगा, लकिन वह किसी सूखे पौधे-सा खड़ा रहा। कुछ देर बाद जब मैं बस्ता उठाकर गेट की तरफ़ मुड़ा तो वह भी चुपचाप मेरे साथ हो लिया जैसे मेरा ही साया या सगा भाई हो। उसकी आँखें अब बुझती हुई दिखाई दीं और वे झाग के बुलबुले बैठते हुए। मैं इस ख़तरे में कस गया कि वह झपटकर मेरी गरदन दबोच लेगा और पूछेगा—तू क्यों उन मसख़रों की बातों में मज़ा ले रहा था? इस ख़तरे में रास्ता तेज़ी से कट गया। गली के मोड़ पर उसकी माँ यूँ मुस्कुराती खड़ी नज़र आयी जैसे हर रोज़ हमारा स्वागत करने के लिए वहीं आ खड़ी होती हो। उसे देखते ही मैं दौड़ता हुआ अपने घर की तरफ़ बढ़ गया, जहाँ किसी ख़ाली मैदानेजंग का-सा सन्नाटा छाया हुआ था।

दूसरे ही दिन स्कूल में अफ़वाह उड़ निकली कि बेतहाशा मुश्तबाज़ी की वजह से बेचारे केशव पर बेतहाशा मिरगी के दौरे पड़ने लगे थे। उसके बाद मुझे यह डर लगा रहता कि वह किसी दिन मुझे पकड़कर डाँट देगा—देख लिया! और मुँह लगा उन मसख़रों को! और मज़े ले उनकी बातों में!

लेकिन अब केशव किसी और ही आलम में रहने लगा था। लड़के उसे 'मिरगी' या 'मुश्ता' या 'माँ का यार' कहकर छेड़ते तो वह उनकी तरफ़ यूँ देखता जैसे कोई दादा किन्हीं दूध-पीते बच्चों की तरफ़। हरदयाल और जीता वह अफ़वाह फैलाने के बाद दूसरी शरारतों में महव हो गये थे, असलम उनकी रहनुमाई में, और मैं इस तशवीश में कि रावण किस दिन सारी क्लास के सामने केशव को रगड़ना शुरू कर देगा और केशव के मुँह से फिर झाग छूट उठेगी। लेकिन मेरी हैरानी की हद न रही जब एक दिन रावण ने हेडमास्टर की बेटी और केशव के सिवाय हम सबको कुर्सियों पर खड़ा हो जाने का हुक्म दिया और ख़ुद हकलाता-सा शुरू कर दिया—तुम सब नालायक़ हो। और कमीने भी। केशव को 'मिरगी' कहकर छेड़ते हो, मुझे 'रावण' कहकर। मैं सब जानता हूँ। मैं न अन्धा हूँ न बहरा! तुम्हें पता भी है कि मिरगी क्या होती है? तुम्हें शर्म आनी चाहिए! मालूम होना चाहिए कि उस बेचारे को मिरगी की शिकायत नहीं। उसे एक ही बीमारी है। बुरी आदत की। वह तुम सबको भी है। मैं सब जानता हूँ। फ़र्क़ सिर्फ़ यही है कि केशव सच बोलता है और तुम सब झूठ। और यह कि उसकी बुरी आदत अब हद से ज़्यादा बढ़ गयी है। लेकिन अगर तुम लोग बाज़ नहीं आए तो तुम्हारा अंजाम भी बुरा होगा, तुम्हारा दिमाग़ भी कमज़ोर हो जाएगा। सो कान खोलकर सुन लो। अगर आइन्दा किसी ने केशव को 'मिरगी' और मुझे 'रावण' कहकर छेड़ा तो मैं उसकी खाल उधेड़ दूँगा, उसे कच्चा चबा जाऊँगा...।

उसका चेहरा ज़र्द हो गया था, आँखें जगमगा उठी थीं, और मुँह के कोने बुलबुलों से लबरेज़ हो गये थे। मैं इस इन्तज़ार में एड़ियाँ उठा ही रहा था कि वह ग़श खाकर गिर पड़ेगा और हम सब छलाँग लगाकर उस पर टूट पड़ेंगे कि उसकी कड़क फिर सुनाई दी—आज सारा घंटा तुम सब इसी तरह सीधे खड़े रहोगे! अगर कोई ज़रा-सा भी हिला-डुला तो मैं उसका ख़ून पी जाऊँगा!

दूसरे दिन स्कूल में न पढ़ाई-लिखाई हुई थी न सफ़ाई-सजावट, क्योंकि हर कमरे की हर दीवार पर और हर डेस्क की पीठ पर और हर पंखे की फट्टी पर कोयले या काली स्याही से लिखा हुआ था—रावण मुर्दाबाद!—और हेडमास्टर ने हुक्म दिया था कि जब तक दीवारें और डेस्क और पंखे साफ़ नहीं होंगे और कोई सफ़ाई या सजावट नहीं होगी।

उस सफ़ाई के दौरान केशव मुझसे शूम और उसकी बीवी और बाबा के बारे में ऊबड़-खाबड़ सवाल पूछता रहा था, और मैं उसे कभी चुप रहकर और कभी चिल्लाकर टालने की कोशिश करता रहा था। और हैरान होता रहा था कि उस दिन जबकि मैं उस हंगामे को इर्दगिर्द की गहमागहमी की वजह से बार-बार भूल जाता था, वह कमबख़्त क्यों मुझे उसकी याद दिलाने की हर मुमकिन कोशिश कर रहा था। आख़िरकार जब मैं उसकी पूछताछ से बिल्कुल जाँबलन हो गया तो उसने आहिस्ता-सी आवाज़ में बताया—बीरू, तुझे शायद पता नहीं कि शूम और उसकी बीवी यह क़स्बा छोड़ गये हैं। उसका तबादला हो गया है। अब उनके मकान में कोई मुसलमान रहता है। अगर यक़ीन न हो तो ख़ुद जाकर देख ले।

इस ख़बर को सुनकर मुझे जो सदमा हुआ उसमें खुशी की मिलावट भी ज़रूर ही होगी, क्योंकि उन दिनों मुझे डर लगा रहता था कि किसी रोज़ किसी कमज़ोर लम्हे में मैं शूम की बीवी के पास पहुँच जाऊँगा और उससे निहायत रूखी आवाज़ में पूछ लूँगा—तूने मुझे और मेरे बाबा को धोखा क्यों दिया?

दातुनशाह की दुकान इस वक़्त बन्द है। दोपहर वह अपनी बैठक में गुज़ारता है। हुक्का पी और कोई जासूसी नावल पढ़ रहा होगा। दातूनों के अलावा वह किताबें भी बाँटता है। जो किताबें ख़ुद पढ़ लेता है, बैठक के बाहर रख देता है। जिसे ज़रूरत हो उठा ले जाए। वहाँ से गुज़रते वक़्त मैं हमेशा रुककर उन नावलों को उलट-पलट लेता हूँ। उनके सनसनाते नाम मुझे मज़ा देते हैं—ख़ून का बदला ख़ून! बेरहम हसीना! अँधेरे में चीख़! तिलिस्मी तहख़ाना! बदनाम डाकू! दरवाज़े पर लटकती हुई बारीक़ चिक में से अन्दर बैठा दातुनशाह साफ़ दिखाई नहीं देता,

लेकिन पंखे की आवाज़ और हुक्के की बुलबुलाहट साफ़ सुनाई दे जाती है। दातुनशाह का तम्बाकू अपनी खुशबू के लिए मशहूर है। कहा जाता है कि उसमें गुलाब के फूल पिसे रहते हैं। सुबह-शाम दातुनशाह दुकान में बैठता है और दातुनें बाँटता है। उसकी दुकान में एक साफ़-सुथरी दरी, दो गाओदुम तकियों, कई तरह की दातुनों, दातुन काँटने-छाँटने के औज़ारों और एक चमकदार लोटे के सिवाय और कोई सामान नहीं। जब दातुन माँगने वालों की भीड़ ज़्यादा हो तो उसका चेहरा गोभी के फूल की तरह खिल उठता है, और उसके हाथ यूँ खुल जाते हैं जैसे कोई बूढ़ा बादशाह अपनी दौलत लुटा रहा हो। सूदख़ोरी का धन्धा उसने बरसों पहले छोड़ दिया था। तभी उसने अपनी तिजोरी भी उठवा दी होगी। दातुनें बाँटते वक़्त वह छोटे-बड़े, अमीर-ग़रीब, हिन्दू मुसलमान में कोई तमीज़ नहीं करता। जिसको जैसी और जितनी चाहिए उठाकर दे देता है। उसके हाथों में ऐसी बरकत है कि उसकी दातुनें कभी ख़त्म नहीं होतीं। मुँहअँधेरे उठकर सैर को निकल जाता है, और जब लौटता है तो दातुनों से लदा-फदा। यानीकि अकसर अपनी तक़रीरों में उसे एक ख़ूबसूरत नमूने या खुशबूदार मिसाल के तौर पर पेश करता है—सब साहूकारों को दातुनशाह से सबक़ सीखना चाहिए, यानीकि रिटायर हो जाना चाहिए, और कोई परोपकारी शौक़ पाल लेना चाहिए, यानीकि अपने और अपने बाप-दादा के पापों का प्रायश्चित्त भी करना चाहिए और लोकसेवा का सुख भी लेना चाहिए, यानीकि मेलेशाह को चाहिए कि वह अपनी गली की सफ़ाई किया करे और खाँसीशाह को चाहिए कि वह बनफ़्शे और मुलट्ठी की चाय बनाकर सब बीमारों में बाँटा करे।

यानीकि कहता है कि दातुनशाह के दिल में किसी दिन अचानक ऐसी लहर उठेगी कि वह सारा पैसा ग़रीबों में बाँटकर ख़ुद हर की पैढ़ी पर जा बैठेगा। किसी को इस पेशीनगोई पर यक़ीन नहीं आता, हँसी सबको आती है। सिर्फ़ असलम को इन सब बातों पर बहुत ग़ुस्सा आता है। उसे दातुनशाह और दूसरे साहूकारों में कोई बुनियादी फ़र्क़ नज़र नहीं आता। उसे बाल की खाल उतारने की आदत है। कहता है—अगर नौ सौ चूहे खाकर बिल्ली हज्ज पर चली जाए तो तुम उसे मुसलमान मान लोगे? दातुनशाह पाखंडी दाता है। दातुनों में दाम नहीं लगते, और न ही दातुनें बाँट देने से सब गुनाह मुआफ़ हो जाते हैं। दातुनशाह की असलियत जानना चाहते हो तो फल्लो जुलाहिन से पूछो, वह बताएगी कि वह कितना बेईमान है।

दातुनशाह का गुण गाते वक़्त यानीकि भी फल्लो का ज़िक्र तो ज़रूर करता है, लेकिन किसी और ही तरीक़े से—अगर दातुनशाह न होता तो सबके दाँत पके हुए बेरों की तरह झड़ गये होते, सबके मुँह उसी तरह वीरान यानीकि ख़ाली हो गये होते जिस तरह कि मनियारी वाले ग्यानी का जो है तीस का लेकिन नज़र तिरानवे का आता है, या जिस तरह मेरा या मेरी प्यारी बहन फल्लो का, यानीकि

सबको एक-एक दाँत से दस-दस दाँतों का काम लेना पड़ता, यानीकि अगर दातुनशाह दस-पन्द्रह साल पहले दातुन दान शुरू कर देता तो इस वक़्त मेरे मुँह में कम-अज़-कम इक्कीस दाँत होते, यानीकि ये सीटियाँ आपको सुनाई न देतीं, और फल्लो बेचारी दर-ब-दर की ठोकरें खाने के बजाय कहीं बेगम बनी बैठी होती, यानीकि इस क़स्बे के जाहिलों को उसे फल्लो जुलाहिन कहकर बुलाने की हिम्मत न होती, और न ही दातुनशाह से उसकी दोस्ती ख़त्म होती, यानीकि दाँतों की वजह से ही वह बेचारी बेवक़्त बूढ़ी हो गयी है, इसीलिए मैं एलान करता रहता हूँ कि दातुनशाह का एहसान किसी को नहीं भूलना चाहिए, यानीकि सबको याद रखना चाहिए।

फल्लो इस वक़्त शायद बेरियों वाली सड़क के किनारे लेटी गुज़रे ज़माने को याद कर रही होगी। जब से चौधरी चिराग़ हुसैन ने उसे छोड़ा है, वह बहुत बेहाल रहने लगी है। किसी दिन उस सड़क की सैर भी करूँगा। दोपहर के वक़्त। अगर वह वहाँ लेटी दिखाई दे गयी तो उसके पास जा बैठूँगा। कहूँगा, मुझे अपनी कहानी सुनाओ। उसकी एक कहानी नहीं, कई हैं। कहूँगा, सब मुझे सुना डालो, एक-एक करके। उसे भी मालूम हो गया होगा कि मैं लाहौर जा रहा हूँ। आजकल मवेशी भी नहीं चराती। हर एक से शिकायत करती फिरती है, अब किसी काम में दिल नहीं लगता। असलम के मुताबिक़ क़ुसूर दिल का नहीं, उस बीमारी का है जो बुढ़ापे में भी उसे झख मारने पर मजबूर करती रहती है। केशव की माँ वाली बीमारी। कुमारी का भी यही हाल होगा। बुढ़ापे में। शूम की बीवी का भी। अब वह न जाने किस शहर में रहती है। शक्ल तक याद नहीं आती। बुढ़ापे में आया करेगी। बुढ़ापे में सारा गुज़रा ज़माना याद आया करेगा। लोगों को पकड़-पकड़कर अपने क़िस्से सुनाया करूँगा। किसी दिन फल्लो से कहूँगा, मासीजी, मुझे क़िस्सेगोई के गुर सिखाओ। असलम कहता है कि उसे एक स्कूल खोल लेना चाहिए। इश्क़पेचे के दावपेच सिखाने चाहिए। फिर देखो कैसे दिल लगता है उसका। किसी दिन कहूँगा, मासीजी, मैं लाहौर जा रहा हूँ, मुझे दो-चार दाव सिखा दीजिए। पकड़कर पुचकारना शुरू कर देगी। या पीटना। असलम कहता है—आजकल उसका कोई भरोसा नहीं; कभी तो बड़ी से बड़ी बात को हँसी में उड़ा देती है, कभी छोटी से छोटी बात पर ईंटें उठा लेती है; इसीलिए तो यानीकि ने उसे बहन बना लिया है; इसीलिए तो आजकल वह चौधरी चिराग़ हुसैन के पीछे पड़ा है; कहता है उसका असली नाम चौधरी चुग़द हुसैन है; इसीलिए तो आजकल फल्लो उसी के गुण गाती है; कहती है, यार तो कई मिले, भाई एक ही मिला; यह बात दूसरी है कि किसी ज़माने में यानीकि भी उसका यार ही हुआ करता था।

किसी-किसी मौज में यानीकि ऐलान कर देता है कि वे दिन दूर नहीं जब

फल्लो चौधरी चुग़द हुसैन को भूलकर फिर चहकना-चमकना शुरू कर देगी और वह ख़ुद फिर उस पर फ़िदा हो जाएगा, बतौर भाई नहीं, बतौर यार। असलम कहता है—इस हरामी की ज़ुबान में पता नहीं क्या तासीर है कि इसके मुँह से जो उल्टी-सीधी निकलती है पूरी होकर रहती है। और उधर उस फल्लो का कोई दीन ईमान नहीं। उसे इस उम्र में भी मर्द चाहिए। कोई भी मर्द। इसलिए तैयार रहो, किसी दिन लाहौर से लौटोगे तो सुनोगे कि यानीकि मुसलमान हो गया है या फल्लो हिन्दू, और दोनों मियाँ-बीवी मिलकर सबकी ऐसी तैसी-फेर रहे हैं।

मैं उन दोनों को तक़रीरें करते और माहिया गाते और बाज़ू में बाज़ू डाले बाज़ार की सैर करते देखता हूँ तो मुझे हँसी आ जाती है। अगर टुंडा लाट हस्बेमामूल अपनी घड़ी की मुरम्मत में न डूबा होता तो समझता कि मैं उसी पर हँस रहा हूँ। मुझे उस पर हँसी नहीं आती, उससे डर लगता है। अभी भी। माँ कहा करती है बचपन के डर बुढ़ापे तक साथ रहते हैं। टुंडा लाट कई बार मुझे सपनों में भी दिखाई दे चुका है। उसी घड़ी पर झुका हुआ, जिसे वह बरसों से ठीक कर रहा है। कभी-कभी वह घड़ी फटे हुए जूते में बदल जाती है और टुंडा लाट एक कुबड़े मोची में। सपनों में भी उसके इर्दगिर्द बासी और बेसूरत सब्ज़ियों के टोकरे रखे रहते हैं। सपनों में भी सोचता रहता हूँ कि उन सब्ज़ियों के नाम क्या हैं। किसी-किसी सपने में मैं बहुत छोटा हो जाता हूँ और वह इतना मोटा कि मुझे अपनी आँखों पर यक़ीन नहीं आता। वैसे भी वह काफ़ी मोटा है। इसीलिए हर वक़्त बैठा रहता है। बैसाखियाँ पास बेकार लेटी रहती हैं। किसी-किसी सपने में वह उन बैसाखियों से सब्ज़ी ख़रीदने वाली औरतों को मार रहा होता है। कभी-कभी उन औरतों में माँ भी नज़र आ जाती है। लोग कहते हैं जब से उसकी टाँगें कटी हैं, उसे औरतों से नफ़रत हो गयी है। असलम कहता है कि किसी ज़माने में वह भी फल्लो से फँसा हुआ था। मुझे यक़ीन नहीं आता। असलम नाराज़ होता है—तुझे किसी बात पर यक़ीन आता भी है! असलम कहता है कि टाँगों के साथ उसका लट्टू भी कट गया था, इसीलिए उसकी आवाज़ बदल गयी है। उसकी आवाज़ बहुत महीन और मुलायम है। जैसे उसके अन्दर कोई औरत बैठी हुई हो। एक बार एक सपने में मैंने रावण को उसी की-सी आवाज़ में बोलते सुना था। अब जब उसे देखता हूँ रावण याद आ जाता है।

टुंडे लाट की टाँगें न जाने कब कटी थीं। शायद मेरी पैदाइश से भी पहले। किसी को ठीक-ठीक कुछ मालूम नहीं। कभी-कभी मैं अपनी पैदाइश से पहले के क़स्बे को देखने की कोशिश करता हूँ। बूढ़ों को जवान और जवानों को बच्चा बनाकर। और टुंडे लाट को टाँगें देकर। अजीब सा अँधेरा उतर आता है, अजीब-सा डर महसूस होता है। एक दिन बाबा ने दूर से इशारा करके कहा था—तू उस

मकान में पैदा हुआ था। जब कभी उस मकान के पास से गुज़रा हूँ, कँपकँसी-सी शुरू हो जाती रही है। वह टेढ़ा-सा मकान मुसलमानों की एक तंग लेकिन साफ़-सुथरी-सी गली में है। माँ कहती है कि मैं दो-तीन ही महीनों का था जब उसने बाबा से लड़-झगड़कर वह मकान छुड़वा दिया था, क्योंकि दायें-बायें सब मुसले ही मुसले थे। लेकिन, वह कहती है, उन्हीं दो-तीन महीनों का असर है कि मुझे मुसले अच्छे लगते हैं। उसे यक़ीन है कि किसी मुसली ने ज़रूर मुझे चोरी-चोरी अपना दूध पिला दिया होगा। उस गली में जाने का कोई मौक़ा या बहाना नहीं मिलता। फिर भी इधर दो-तीन बार असलम को साथ लेकर उस मकान तक हो आया हूँ। कँपकँपी के बावजूद। जैसे उस औरत की तलाश हो जिसने शायद चोरी-चोरी मुझे अपना दूध पिलाया था। हर बार जी चाहा था कि उस दरवाज़े पर लटकते हुए टाट को हटाकर अन्दर घुस जाऊँ और जो वहाँ नज़र आए उससे कहूँ, मैं इसी मकान में पैदा हुआ था। हर बार वहाँ जाने पर महसूस हुआ है जैसे अपनी पैदाइश से पहले के क़स्बे की एक झलक देख ली हो।

कभी पूरा यक़ीन नहीं आता कि मेरी पैदाइश से पहले यह क़स्बा यहीं था, कि मेरी मौत के बाद यह वहीं रहेगा। यक़ीन आए न आए, मैं जानता हूँ कि यह क़स्बा ही नहीं सारी दुनिया मुझसे पहले यहीं थी, मेरे बाद यहीं रहेगी। एक दिन इस उधेड़बुन की बात असलम से की थी। वह बोला था—अगर अभी से तेरी यह हालत है तो लाहौर जाकर तेरा हाल बुरा होगा। आँखें बन्द करके तू यहीं के ख़्वाब लेता रहेगा। मर मैं रहा हूँ, डर तू रहा है। अरे बुद्धू, यह दुनिया ही नहीं, यह सारी कायनात तेरे और मेरे बाद इसी तरह रहेगी। क़यामत तक। लेकिन तू ठहरा किराड़। उस मुसली के दूध के बावजूद। तुझे क़यामत में यक़ीन कहाँ होगा! तुझे तो किसी भी बात पर यक़ीन नहीं आता। न आए, लेकिन यह तो तू भी मानेगा कि यह आलम सारा फ़ानी है। तू माने न माने, मैं तो जान गया हूँ। जब कभी थूक में ख़ून देख लेता हूँ अपनी मौत गुजरात में बैठी इन्तज़ार करती नज़र आ जाती है। उस ख़ानदानी हकीम के दवाख़ाने में। फिर भी मेरे दिमाग़ में यह सवाल नहीं उठता कि मेरे बाद यह क़स्बा या दुनिया या कायनात यहीं रहेगी या नहीं। मैं जानता हूँ कि सब इसी तरह रहेगा। क़यामत तक। और शायद उसके बाद भी। सच तो यह है, बीरू, क़यामत में मुझे भी यक़ीन नहीं। हालाँकि मैं हिन्दू नहीं। हो सकता है बचपन में मुझे किसी हिन्दुआनी ने अपना दूध पिला दिया हो। चोरी-चोरी। किसी को बताना नहीं। कोई बेवक़ूफ़ वरना मुझे मार डालेगा। कोई कट्टर मुसलमान। आजकल उनकी कोई कमी नहीं। लेकिन तू लाहौर जा रहा है, तुझे क्या? कभी यह भी सोचा है कि तेरे लाहौर चले जाने के बाद यह क़स्बा यहीं रहेगा कि कहीं और उड़ जाएगा? कभी यह भी सोचा है कि अगर पाकिस्तान बन गया तो इस क़स्बे का क्या होगा!

असलम अब कभी-कभी ऐसी आवाज़ में बोलता है जैसे उसका दिल सचमुच इस दुनिया से उचाट हो गया हो। जैसे वह किसी दूसरे किनारे पर जा खड़ा हो। कह रहा हो, अपनी बला से बूम रहे या हुमा रहे। अगर वह वाक़ई गुजरात जाकर और बीमार हो गया, या मर गया, तो यहाँ मेरा एक भी दोस्त नहीं रहेगा। केशव से कटता जा रहा हूँ। जब से उसे राजे का वहम हुआ है। और जब से वह फ़ेल हुआ है। हरदयाल और जीता सच्चे सिक्ख बनते जा रहे हैं। कहते हैं, मुसलमानों का कोई भरोसा नहीं। असलम को वह असली मुसलमान नहीं समझते। कहते हैं, अगर पाकिस्तान बन गया तो सब मुसलमान उनके जानी दुश्मन हो जाएँगे। असलम समेत। इसीलिए, कहते हैं, वे अमृतसर जा रहे हैं। अगर पाकिस्तान बन गया तो वहीं रह जाएँगे। और उनके घरवाले भी सामान उठाकर वहीं जा बसेंगे। उनकी सलाह है कि मैं भी लाहौर का ख़्याल छोड़ दूँ और अमृतसर में उनके साथ ख़ालसा कॉलेज में ही दाख़िला ले लूँ। लाहौर, कहते हैं, मुसलमानों का शहर है, अमृतसर ख़ालसों का। असलम कहता है कि पाकिस्तान तो बनेगा तो बनेगा, इन दोनों का दिल-दिमाग़ अभी से बिगड़ गया है। जो बातें पहले मज़ाक़ में कहा करते थे, वही अब पक्के मुँह से कहने लगे हैं, यानीकि संजीदे हो गये हैं। पहले ख़ुद सिक्खों और सिक्खी का मज़ाक़ उड़ाया करते थे, अब हर मज़ाक़ पर मरने-मारने पर उतर आते हैं। अब उनके सामने मनियारी वाले ग्यारनी की जुओं का ज़िक्र भी मना है और यह नारा लगाना भी कि राज करेगा ख़ालसा और सत सिरी अकाल कहते वक़्त मुस्कुराना भी। अगर उन दोनों का यही चलन रहा तो उनसे दोस्ती नहीं रहेगी। छुट्टियों में घर आया करूँगा तो उखड़ा-उजड़ा-सा इसी तरह अकेला घूमता फिरूँगा। किसी आवारा कुत्ते की तरह। पुरानी यादों को सूँघता हुआ। कभी यहाँ कभी वहाँ। और यह टुंडा लाट इसी तरह अपनी घड़ी पर झुका नज़र आएगा। अगर यह भी अमृतसर न भाग गया तो। या इसे भी किसी हिन्दू या मुसलमान ने मार न डाला तो। मार-काट के ख़्याल से ही मेरे तो रोंगटे रेंगने शुरू हो जाते हैं। हरदयाल आजकल अकसर मुझे सुना-सुनाकर कहता रहता है—हिन्दू कमज़ोर और बुज़दिल क़ौम है। जीता हर बार जोड़ देता है--सिक्ख ही हिन्दुओं की रक्षा कर सकते हैं। अब उनकी जुमलेबाज़ियों पर हँसते हुए भी डर लगता है।

इस टुंडे लाट के बारे में किसी को ठीक-ठीक मालूम नहीं कि यह हिन्दू है या मुसलमान। किसी ज़माने में माँ को न जाने क्यों इस सवाल में बहुत दिलचस्पी हुआ करती थी। उसकी राय उसकी मौज के मुताबिक़ बदलती रहती थी। जब वह जली हुई होती तो वह उसे न सिर्फ़ मुसला नज़र आता था बल्कि मुसली भी। जब कभी-कभार वह खिली हुई होती तो वह उसे न सिर्फ़ हिन्दू नज़र आता था बल्कि ब्राह्मण भी। अब उसके अन्दाज़े बन्द हो गये हैं। या शायद मैंने ही उन्हें सुनना बन्द

कर दिया है। एक बार असलम ने कह दिया था कि टुंडा लाट न हिन्दू है न मुसलमान, वह तो उखड़ा हुआ ईसाई है, इसीलिए इतना चुपचुप और उदास रहता है। केशव इस बात पर बहुत परेशान हुआ था। मुझसे पूछता रहा था—उखड़े हुए ईसाई क्या सचमुच इसी तरह चुपचुप और उदास रहते हैं? क्यों? वे होते कौन हैं? आते कहाँ से हैं? क्या वह मोटी डाक्टरनी भी उखड़ी हुई ईसाइन है? वह तो हर वक़्त ही-ही-ही करती रहती है। आख़िर तंग आकर जब मैंने उसे बता दिया था कि असलम मज़ाक़ कर रहा था तो उसकी परेशानी ग़ुस्से में बदल गयी थी। कड़ककर बोला था—बीरू, उसके मज़ाक़ मेरी समझ में क्यों नहीं आते! जब मैंने उसे ठंडा करने के लिए कहा था कि उसके मज़ाक़ मेरी समझ में भी नहीं आते तो उसने मेरी तरफ़ यूँ देखा था जैसे कह रहा हो, मज़ाक़ मत करो, मैं सब समझता हूँ। और मैंने चिल्लाना चाहा था, केशव, मेरे सब मज़ाक़ तेरी समझ मे क्यों आ जाते हैं?

वह आजकल अकसर टुंडे लाट की दुकान पर बैठा नज़र आता है। चुपचाप। उसकी बग़ल में। जैसे उसका बेटा या शार्गिद या लौंडा हो। या पहरेदार। या उसी का एक और रूप। अगर कोई गाय या गधा या औरत या कौआ सब्ज़ियों के टोकरों में मुँह या हाथ या चोंच मारने लगे तो केशव उसे रोक देता है। अकसर सिर्फ़ आँख या हाथ के इशारे से। जैसे कह रहा हो, देखते नहीं कि उस्ताद काम कर रहा है? मुझे देखा-अनदेखा कर जाता है। जैसे कह रहा हो, अब हमारे रास्ते अलग हो गये हैं। अगर मुँह चढ़कर पूछ लूँ कि वह क्या कर रहा है तो कड़ाक जवाब मिलता है, जो मेरी मरज़ी! घड़ी पर झुके हुए टुंडे लाट की तरफ़ झुका रहता है। जैसे उसकी मदद कर रहा हो। या दिलजोई। या ख़ुशामद। या घड़ी की आवाज़ सुनने की कोशिश। या अपनी कोई शिकायत सुनाने की। या शायद सिर्फ़ यह पूछने की कि वह उखड़ा हुआ ईसाई है या नहीं? सीधा टुंडे लाट से अगर कोई उसका असली नाम पूछ ले तो वह सीधा-सा जवाब देने के बजाय जल-भुन जाता है—तुम यही जानना चाहते हो न कि मैं हिन्दू हूँ या मुसलमान? ताकि अगर मारकाट शुरू हो जाए तो तुम्हें आसानी रहे। साफ़-साफ़ क्यों नहीं पूछ लेते? कहो तो दिखा दूँ तहमद उठाकर? मैं न हिन्दू हूँ न मुसलमान, मैं सिर्फ़ इनसान हूँ, कर लो मेरा जो करना है! पाकिस्तान का शोर क्या मचा है, तुम सब शैतान होते जा रहे हो! ख़बरदार, जो फिर कभी किसी ने मुझसे मेरा असली नाम पूछा तो!

आमतौर पर वह यूँ बैठा रहता है जैसे गूँगा हो। इसीलिए उसे उबलता देखकर तमाशाई ख़ुश हो जाते हैं। कुछ लोगों को शक है कि टुंडा लाट सी.आई.डी. का आदमी है, बरसों से भेस बदलकर क़स्बे में बैठा हुआ है, बोलता कम है सुनता ज़्यादा है, दिन-रात दुकान में ही काटता है, घड़ीसाज़ी सब्ज़ीफ़रोशी तो बहाने हैं,

अगर सचमुच का घड़ीसाज़ होता तो सब्ज़ियाँ न बेचता, और अगर सचमुच का सब्ज़ीफ़रोश होता तो हर वक़्त एक ही घड़ी में न घुसा रहता। कुछ लोग तो कहते हैं कि वह घड़ी घड़ी नहीं, वायरलेस की मशीन है, जिसके ज़रिये से वह सारी रिपोर्ट सरकार को देता है। हरदयाल और जीता कुछ दिन पहले तक कहा करते थे कि उसकी टाँगें दरअसल कटी हुई नहीं, कि सी.आई.डी. वाले मेकअप में माहिर होते हैं, कि वे बैसाखियाँ दरअसल बन्दूकें हैं, कि टुंडा लाट दरअसल टोड़ी बच्चा है। उनसे पूछा जाता—अगर उसकी टाँगे कटी हुई नहीं तो कहाँ हैं? नज़र क्यों नहीं आतीं? तो वे तुनककर जवाब देते—अगर इतनी आसानी से नज़र आ जाएँ तो सी.आई.डी. वाले उसे नौकरी से निकाल न दें? हरदयाल कहता—उसके टुंड देखने में असली नज़र आते हैं, दरअसल नक़ली हैं। जीता जोड़ता—वह जब चाहे अपनी टाँगों को अन्दर खींचकर उन्हें टुंडों में बदल सकता है, और जब चाहे बाहर धकेल कर टाँगों में। अगर एतराज किया जाता कि किसी ने उसकी टाँगों को कभी देखा क्यों नहीं तो हरदयाल जवाब देता कि देखने वालों ने कई बार देखा है, और जीता जोड़ देता कि अगर वह हर ऐरे-ग़ैरे को अपने करतब दिखाने लगे तो सी.आई.डी. वाले उसे नौकरी से निकाल न दें? अगर उनसे पूछा जाता कि वह सी.आई.डी वालों के लिए करता क्या था तो वे दोनों मिलकर बोल उठते—जासूसी। इस लफ़्ज का जादू असलम के सिवाय सबको लाजवाब कर देता था। ऐसे ही किसी मौक़े पर असलम ने ऐलान कर दिया था कि उसको अपनी तफ़्तीश के मुताबिक़ टुंडा लाट न हिन्दू था, न मुसलमान, न सी.आई.डी. का आदमी, वह तो बस उखड़ा हुआ ईसाई था।

हरदयाल और जीते के इन मज़ाक़ों का ही असर है कि कभी उसकी कटी हुई टाँगें सपनों में चलती-फिरती नज़र आ जाती हैं और कभी उसके टुंड उनमें टँगे हुए। अब हरदयाल और जीता मज़ाक़ में नहीं वैसे यक़ीन करने लगे हैं कि टुंडा लाट सी.आई.डी. का तो है ही, उसकी असली ड्यूटी यह है कि वह क़स्बे के मुसलमानों की मदद करे। उन्हें हिन्दुओं और सिक्खों के सब भेद बताता रहे ताकि जब मारकाट शुरू हो तो फ़तह मुसलमानों की हो। उनके अलावा और लोगों को भी यही शक होगा, क्योंकि इधर सरदार हिम्मतसिंह अपनी हर तक़रीर में इस अफ़वाह की तरदीद करने लगा है। कई बार कह चुका है कि टुंडे लाट का सी.आई.डी. वालों से कोई सरोकार नहीं, हो ही नहीं सकता। होता तो उसे पता न चल गया होता, क्योंकि उसने सी.आई.डी. वालों के पीछे अपने जासूस छोड़ रखे हैं, और वैसे भी उसे टुंडे लाट पर भरोसा है, क्योंकि किसी ज़माने में वे दोनों हमप्याला और हमनिवाला हुआ करते थे, और उसका कोई पुराना साथी पाकिस्तान के हक़ में हो ही नहीं सकता। हरदयाल और जीता पर इन तक़रीरों का असर उल्टा

हुआ। वे कहने लगे हैं कि उन्हें हिम्मतसिंह के हर पुराने साथी की ईमानदारी पर शक है, कि शायद हिम्मतसिंह ख़ुद भी सी.आई.डी. का ही आदमी है, नहीं तो अँग्रेज़ों ने उसे मरवा दिया होता, क्योंकि वह हर तक़रीर में उन्हें हज़ार गालियाँ देता है।

मुझे उनके इस शक पर यक़ीन नहीं आता। हिम्मतसिंह के हर लफ़्ज़ से सचाई टपकती है। उसी तरह जैसे उसके माथे से पसीना। और उसके पटों से तेल। और उसकी आँखों से सुर्ख़ी। सी.आई.डी. का एक न एक आदमी हर वक़्त उसका पीछा करता है। साये की तरह। सिर झुकाये। जैसे सबसे मुआफ़ी माँग रहा हो। बीसियों बार वह जेल जा चुका है। सैकड़ों लाठियाँ खा चुका है। नारा लगाता है तो उसके गले की सब नाड़ियाँ नज़र आ जाती हैं। शेरेगुजरात। चलता है तो ज़मीन काँपती है। चिल्लाता है तो आसमान। कहता है उसकी ज़िन्दगी बापू ने बदल दी। नहीं तो कहीं बैठा शराब पी रहा होता। अब भी। कहता है अब उसे एक ही नशा है। देश की आज़ादी का। और एक ही ऐब। पान का। जहाँ से गुज़र जाता है, वहाँ अपनी पीक के निशान छोड़ जाता है। किसी ज़माने में दस नम्बरिया था। आज़ादी के बाद सूबे का गवर्नर बन जाएगा। नेहरू और आज़ाद तक उसे ज़ाती तौर पर जानते हैं। चार जमाअत पढ़ा नहीं लेकिन तक़रीरों में ऐसे-ऐसे हवाले देता है कि हैरत गुम हो जाए। इसीलिए तो डॉक्टर साहनी भी उससे डरता है। कहता है, इस क़स्बे में दो ही आदमी हैं जिन्हें शायद जीनियस कहा जा सके—यानीकि और हिम्मतसिंह। आजकल उन दोनों में ख़ूब बनती है। कभी जब वे एक साथ सारे बाज़ार का दौरा कर रहे होते हैं, तो किसी की हिम्मत नहीं होती कि यानीकि को छेड़े। वह भी यूँ पक्का मुँह बना लेता है जैसे सचमुच का काँग्रेसी नेता हो। हिम्मतसिंह का बड़ा भाई। कभी-कभी दोनों टुंडे लाट की दुकान पर बैठकर घंटों न जाने क्या-क्या साज़िशें करते रहते हैं। टुंडा लाट अपनी आँख से वह खुर्दबीन-सी उतार देता है, घड़ी को एक तरफ़ रख देता है, और दोनों हाथों से अपने ठूँठ दबाकर यूँ बैठ जाता है जैसे उन दोनों का बाप हो। उनकी सरगोशियाँ किसी को सुनाई नहीं देतीं। पास जाने की किसी की हिम्मत नहीं होती। दूर खड़े हो सब अड़ोसी-पड़ोसी अन्दाज़े लगाते रहते हैं कि वे तीनों क्या खिचड़ी पका रहे हैं। हरदयाल और जीता कहते हैं कि तीनों पागल हैं। और ख़तरनाक। हिन्दुओं और सिक्खों को मरवा कर रहेंगे। उन्हीं की वजह से क़स्बे के मुसलमान शेर बने फिरते हैं। वे आख़िर तक अहिंसा की रागिनी अलापते रहेंगे, हिन्दू मुसलिम इत्तहाद की दुहाई देते रहेंगे, और मुसलमान अन्दर ही अन्दर पाकिस्तान और क़त्लेआम की तैयारियाँ करते रहेंगे।

टुंडा लाट इस वक़्त न सी.आई.डी. का नज़र आ रहा है न टुंडा लाट। आसपास से बेख़बर अपनी अनमोल घड़ी पर यूँ झुका हुआ है जैसे उसे दोनों जहान

की ख़बरें दे रहा हो। या अपने अन्दर झाँक रहा हो। असलम कहता है कि दोपहर के वक़्त जब और लोग ऊँघ रहे होते हैं वह उस घड़ी से इल्तिजा करनी शुरू कर देता है, अब चल भी पड़, कमबख़्त। हर रोज़ की इबादत के बावजूद वह चाहता यही होगा कि वह घड़ी न चले। क्योंकि उसी की बदौलत वह घड़ीसाज़ कहलाता है। और उसी के सहारे महात्मा बुद्ध बना बैठा रहता है। जब अपनी इबादत में ग़र्क़ हो तो उसे कुछ दिखाई-सुनाई नहीं देता। ख़ासतौर पर दोपहर को। जब उसे किसी ग्राहक का ख़तरा नहीं होता। तब उसके दोनों ठूँठ यूँ बारी-बारी उठते-बैठते रहते हैं जैसे उसे सलाम कर रहे हों। जैसे कि इस वक़्त। जब औरतें उसकी सस्ती और बेरंगोबू सब्ज़ियों को टटोल रही होती हैं तो वे ठूँठ और होशियार हो जाते हैं। जैसे कह रहे हों, हमें भी टटोलो। जीता कहता है, औरतें उसकी दुकान पर सब्ज़ी ख़रीदने नहीं उन शिवलिंगनुमा ठूँठों की ऊठक-बैठक देखने ही जाती हैं। इसीलिए खी-खी करती रहती हैं। जिसपर उसे गुस्सा आ जाता है। जिससे वे ठूँठ और बेक़रार हो उठते हैं। और वे औरतें और बेहया। हरदयाल जोड़ता है कि किसी-किसी औरत को देखकर उसका असली ठूँठ भी उठ खड़ा होता होगा। जिस पर उसे ख़ुद हैरानी होती होगी। क्योंकि अफ़वाह के मुताबिक़ उसे औरतों से नफ़रत है। और उसका असली ठूँठ अगर है तो उसे किंग जैसे किसी लौंडे पर ही उठना चाहिए। शायद ठूँठों की वजह से ही उसकी घड़ी ठीक नहीं हो रही। ज्योंही वह एक पुर्ज़ा फिट कर लेता होगा, दूसरा अपनी जगह से खिसक जाता होगा। किसी-किसी शाम फल्लो जुलाहिन उसके पास बैठी नज़र आ जाती है। तब उनके पास कोई नहीं फटकता। दूर से वे यूँ नज़र आते हैं जैसे भाई-बहन हों। वह उसके ठूँठों को छू-छूकर उसे अपने दुखड़े सुनाती है। वह उसकी तरफ़ यूँ झुका नज़र आता है जैसे उन दुखड़ों पर आँसू बहा रहा हो। उन ठूँठों के कारण वह ख़ुद इतना कड़ा नज़र आता है कि न उसके दुखड़ों का अन्दाज़ा लगाया जा सकता है, न उसकी उम्र का। हालाँकि मुझे अन्दाज़े लगाने की बीमारी है। एक अफ़वाह के मुताबिक़ उसकी टाँगें पहली जंगेअज़ीम में ही कट गयी थीं। दूसरी के मुताबिक़ उससे भी पहले गाड़ी के नीचे आकर। इस क़स्बे में नहीं। क्योंकि तब यहाँ गाड़ी नहीं आयी थी। तीसरी के मुताबिक़ वह पैदाइशी टुंडा है। इसीलिए उसके माँ-बाप ने उसे कहीं किसी रूड़ी पर फेंक दिया था। फिर पता नहीं वह कैसे बचा, किस बला का दूध पीकर बड़ा हुआ, और कैसे और कब इस क़स्बे में आकर जम गया। एक अफ़वाह यह भी है कि बचपन में ही अपने नालायक़ माँ-बाप को मज़ा चखाने के लिए उसने ख़ुद एक कुन्द आरी से अपनी टाँगों को काट दिया था। मुझे इनमें से किसी अफ़वाह पर पूरा यक़ीन नहीं आता। न ही इनमें से कोई इतनी दिलचस्प नज़र आती है जितनी कि जीते की यह बात कि दरअसल उसकी टाँगे कटी हुई नहीं, जादू की हैं, और

उसके अन्दर ही कहीं छुपी बैठी रहती हैं। हाथी के खाने के दाँतों की तरह। दिलचस्प और दहशतनाक बात। जैसे कोई भूतीली कहानी। या डरावना सपना। लाहौर जा रहा हूँ। यानीकि पैदा हो रहा हूँ। यहाँ के डर अब यहीं छोड़ जाने चाहिए। आगे बढ़कर टुंडे लाट को बता दूँ। मैं तुमसे डरता हूँ। डरता चला आ रहा हूँ। बचपन से। तुम्हारी टाँगें सपनों में दौड़ती-फिरती नज़र आती रहती हैं। खुलकर बात कर दो तो डर उड़ जाता है। भूत के सामने नंगे हो जाओ तो वह भस्म हो जाता है। या कम-अज़-कम ग़ायब।

आजकल खुलकर कोई बात हो ही नहीं पाती। किसी से भी। किसी भी डर के बारे में। खुतखुती-सी लगी रहती है। जी न जाने क्या चाहता है। बेमतलब भटकता रहता हूँ। लाहौर जाकर तो और भी आवारा हो जाऊँगा। पता नहीं रहूँगा कहाँ। होस्टल का ख़र्च कहाँ से आएगा। माँ अकसर कहती रहती है, आज कड़े होते तो काम आते! बाबा कभी-कभी गाँव वाली ज़मीन-मकान बेच डालने की बात करते हैं। उस पर चाचा रघुपत का क़ब्ज़ा है। माँ को जब और कुछ नहीं सूझता तो वह उसे गालियाँ देने बैठ जाती है। बाबा कहते हैं जब तक पाकिस्तान का फ़ैसला नहीं होता, कोई उस ज़मीन-मकान को ख़रीदेगा नहीं। उस गाँव की पत्थरजड़ी गलियाँ कभी-कभी सपनों में दिखाई दे जाती हैं। दादी और काका की सूरतें उन सपनों से उलझी रहती हैं। बाबा कहते हैं, उस सारे इलाक़े में मुसलमानों का बहुत ज़ोर है। उस गाँव का ज़िक्र अख़बारों में नहीं आता। दंगों का ख़तरा वहाँ दिन-ब-दिन बढ़ता जा रहा है। बाबा कहते हैं, पाकिस्तान बनने से पहले ही वहाँ पाकिस्तान बना हुआ है। उन्हें चाचा रघुपत की चिन्ता भी लगी रहती है और जायदाद की भी। माँ को सिर्फ़ जायदाद की। वह कहती है, उस अफ़ीमची को कुछ नहीं होगा। वह अकसर बाबा को याद दिलाती रहती है, मैं न कहती थी कि बँटवारा कर लो! आजकल घर में अकसर यही झगड़ा चलता रहता है। फ़ीस भी शायद मुआफ़ हो जाएगी। लेकिन होस्टल का ख़र्च कैसे चलेगा? इसीलिए मैं चाहता हूँ कि देवी की शादी नरेश से हो जाए। कुछ दिन पहले वह और उसकी नक़ली माँ कह गये थे, बीरू हमारे पास ही रहेगा। वे राजमहल रोड पर रहते हैं। मेरे कॉलेज के नज़दीक। कुछ दिन बाद वे दोनों फिर आ रहे हैं। देवी और पारो खुसर-पुसर करती रहती हैं, माँ फूँ-फूँ। बाबा ने भी दबी ज़ुबान से कहना शुरू कर दिया है कि लड़का बुरा नहीं। माँ कहती है—लड़का बुरा हो न हो, माँ तो बुरी है! कहती है—वह उसकी माँ-वाँ है ही नहीं। कहती है—लड़का भी निखट्टू है, इतना बड़ा हो गया है और कोई काम-वाम नहीं करता। देवी कहती है—उनके पास काफ़ी पैसा है। माँ कहती है—लेकिन वह पैसा आया कहाँ से? कहती है—अगर उस काली-कलूटी ने फिर शादी की बात उठायी तो वह उसकी टाँगें तोड़

देगी। बाबा उसे समझाते हैं—होश की बात कर, भलीलोक, बेटी घर बैठी बूढ़ी होती जा रही है, उधर पाकिस्तान का शोर है, तू आख़िर चाहती क्या है?

कई सालों से यह सिलसिला चलता आ रहा है। इसकी कोई सिलवट मेरे लिए नयी नहीं। पाकिस्तान के शोर और लड़ाई की ख़बरों की तरह हम सब इस बहस के भी आदी हो गये हैं। मैं हैरान हूँ कि नरेश ने कहीं और शादी क्यों नहीं कर ली। वह अपनी नक़ली माँ के इशारों पर नाचता है। मैं हैरान हूँ कि उसकी नक़ली माँ क्यों इतने सालों से देवी के ही पीछे पड़ी हुई है। माँ कहती है कि देवी जैसी भोली और बेवक़ूफ़ लड़की उसे और कहाँ मिलेगी। देवी इस बीच बूढ़ी हो गयी है, मैं जवान। उसकी आँखों के नीचे छाइयाँ बिछ गयी हैं। मेरी मूँछें फूट रही हैं। देवी ने कह दिया है कि अगर माँ न मानी तो वह नरेश के साथ लाहौर भाग जाएगी। या गाड़ी के नीचे सिर देकर मर जाएगी। बाबा भी इस धमकी पर बहुत बिगड़े थे—देवी पर भी और माँ पर भी। अलग-अलग भी और एक साथ भी। मुझे देवी की दिलेरी पर हैरानी हुई थी। माँ पागल हो उठी थी। फिर ठंडी होने पर रोने बैठ गयी थी। अब कुछ शान्त है। सब ख़ामोशी से उनके आने का इन्तज़ार कर रहे हैं। माँ का कुछ पता नहीं कि उन्हें देखकर क्या कह दे, क्या कर दे। कभी-कभी अकेले में मुझसे पूछ लेती है कि क्या वह मुश्टंडा मुझे सचमुच पसन्द है। वह तो मुझे नापसन्द नहीं लेकिन उसकी नक़ली माँ के नख़रे और झूठी मिठास मुझे अब पसन्द नहीं। न ही उन दोनों का तौर-तरीक़ा। लेकिन मैं अपनी राय खुलकर नहीं देता। शायद देवी की धमकी से डरता हूँ। और शायद उसकी शादी की ज़िम्मेदारी अपनी ज़ुबान और ज़मीर पर ले लेने से भी। माँ सारी उम्र कहती रहेगी, मैं न कहती थी! या, अगर तूने ज़ोर न लगाया होता तो मैं कभी न मानती। लेकिन इस डर के बावजूद मैं अन्दर ही अन्दर दुआ माँगता रहता हूँ कि यह शादी हो जाए। जल्द अज़ जल्द। दुआ न जाने किससे माँगता हूँ? क्योंकि विश्वास मुझे नहीं। नास्तिक हूँ। देवी तो ख़ैर चाहती ही है। और नहीं तो माँ की फटकार से ही उसे रिहाई मिल जाएगी। शादी के बाद नरेश कोई और काम कर लेगा। गाने-बजाने के अलावा। उसकी आवाज़ में मुझे असली सोज़ सुनाई देता है। उसकी माँ की आवाज़ में नक़ली। दोनों मिलकर गाते हैं तो अटपटा-सा समाँ बँध जाता है। माँ उसे मिरासिन कहती है। पिछली बार पारो के घर उनके भजन सुने थे। माँ को पता चल जाता तो ख़ूब लड़ाई होती। अगर इस बार भी माँ ने लड़झगड़ कर उन्हें भगा दिया तो यह शादी नहीं होगी। नरेश की माँ कहती है उसके बेटे को रिश्तों की कमी नहीं। माँ कहती है अगर कमी नहीं तो कर क्यों नहीं लेती? इतने सालों से क्यों पीछे पड़ी हुई है हमारे? इसीलिए ना कि वह देवी का बेड़ा ग़र्क़ करना चाहती है, और किसी का नहीं? पता नहीं कहाँ की दुश्मनी निकाल रही है! अगर यह शादी न

हुई तो होस्टल का ख़र्च कहाँ से आएगा? लाहौर जाने का ख़्याल ही छोड़ देना पड़ेगा। यहीं कहीं कोई नौकरी कर लूँगा। लेकिन मुझे नौकरी देगा कौन? महसूल की चुंगी पर भी कोई नहीं बैठने देगा। केशव का असिस्टेंट बन जाऊँगा। लेकिन मैं अभी से नौकरी के चक्कर में नहीं फँसना चाहता। बरसों से कॉलेज की आस लगाये बैठा हूँ। बरसों से माँ कहती चली आ रही है कि लोगों के बरतन माँजने पड़े तो भी वह मुझे लाहौर ज़रूर भेजेगी। मेरे नाना ने मरने से पहले उसे यही नसीहत दी थी। काश कि वह उसे बरतन माँजने का तरीक़ा भी सिखा गये होते! जब कभी माँ उनकी नसीहत दोहराती है तो बाबा मेरी तरफ़ देखकर मुस्कुरा देते हैं। जैसे कह रहे हों, तेरी माँ से बरतन मँजवाएगा कौन? और मैं जवाबन मुस्कुरा देता हूँ। जैसे कह दिया हो, कोई नहीं। हर बरतन में राख बैठी रहनी है। हर दाल सब्ज़ी में किरक। हर कपड़े में साबुन। हर कोने में कूड़ा। हर बात में शिकायत। हर शिकायत में ताना। माँ से तो पैसे लेकर भी काम करवाने पर शायद ही कोई राज़ी हो। फिर भी उसकी पेशकश पर मेरा गला भर आता है। शायद बाबा का भी। वह अकसर डॉक्टर साहनी की माँ की मिसाल दे-देकर अपने आपको और मुझे मज़बूत करती रहती है—उस बेचारी की हिम्मत से ही उसका बेटा विलायत पास हो गया, इतना बड़ा डॉक्टर बन गया! फिर शायद उसे याद आ जाता है कि वह बेचारी अपने बेटे का सुख देखे बग़ैर ही मर गयी थी। और वह उसकी मौत पर भी नहीं पहुँच सका था। और उसने वहाँ विलायत में मेम को घर बिठा लिया है। और उसकी अपनी बीवी मास्टर बिहारी लाल से फँसी हुई है। और उसकी बेटी अपने आपको बेटा समझती है। और उसने कभी मान के नहीं दिया कि माँ को वहम के अलावा कोई बीमारी है। और उसने कभी उसे टूटी लगाकर नहीं देखा। और इन सोचों के असर से माँ के माथे पर झुँझलाहट की एक झाड़ी-सी खिल आती है। जैसे डॉक्टर साहनी की माँ की मिसाल देकर उसने कोई ग़लती कर दी हो। या नाना की नसीहत के बारे में उसके दिमाग़ में कई बुनियादी सवाल उठ खड़े हुए हों। या जैसे उसी घड़ी उसे इलहाम हो गया हो कि पढ़े हुए बेटे से गुढ़ा हुआ बेटा बेहतर होता है। हर लिहाज़ से।

टुंडे लाट की दुकान पीछे छूट गयी है। शायद किसी सपने में ही टुंडे का सामना हो सके। या शायद लाहौर से लौटकर। माँ के ख़्याल ने मुझे बेख़बर कर दिया होगा। और मेरे क़दमों को तेज़। मुग़लों की गली भी ख़त्म होने वाली है। और लैला का कूचा शुरू। शूम की बीवी को भी मैं लैला कहा करता था। मन ही मन में। और उसकी गली को लैला की गली। मज़ाक़ में। अब उस मकान में कोई मुसलमान रहता है। दरवाज़े पर एक चिक टँगी रहती है। मंज़ूरे का बाप अब भी अपने मकान के सामने टहलता रहता होगा। बूढ़ा पहरेदार। लैला का कूचा। वहाँ

की आबोहवा ही अलग है। वहाँ पहुँचते ही महसूस होगा कि किसी दूसरे आलम में दाख़िल हो गया हूँ। जहाँ न धुआँ है न अँधेरा। धूप भी वहाँ नर्म नज़र आती है। इस वक़्त भी शायद कोई उजली अधेड़ कंजरी किसी दहलीज़ पर बैठी नज़र आ जाए। पान चबाती। सब दरवाज़ों पर ख़सख़स की टट्टियाँ टँगी रहती हैं। पास से गुज़रते वक़्त ठंडी हवा में घुली हुई मुसलमानी खुशबुएँ। असलम कहता है, इनमें आधी किसी ज़माने में हिन्दू हुआ करती थीं। मुमताज़ शान्ति आधी हिन्दू है। सिर्फ़ नाम से ही नहीं, ख़ून से भी। हिन्दू-मुसलिम इत्तहाद की गाती-बजाती मिसाल। कहती है इस क़स्बे में दंगा नहीं होने देगी। पाकिस्तान बने न बने। कहते हैं, लाहौर में अपने चौबारे में उसने लिखकर लगा रखा है—मज़हब नहीं सिखाता आपस में बैर रखना! सुनहरी हुरूफ़ में। हमारे स्कूल की तरह। उसके हुज़ूर में पहुँचकर हिन्दू मुसलमान सब एकमेक। लाखों दिलों की मलिका। हज़ारों बिस्तरों की बेग़म। बरसों से लाहौर बैठा राज कर रही है। रात की रानी। अब तो फ़िल्मों में भी काम करने लगी। शायद पेशा छोड़ दिया हो। बिल्कुल नहीं छोड़ा होगा। कभी-कभी। जब कभी क़स्बे में आती है, रौनक़ आ जाती है। तब इस गली में से गुज़रो तो सिर झूम उठता है। तरह-तरह की तानें। हर मकान में मजलिस। साथ बहुत-सी सहेलियाँ ले आती हैं। नौजवान नाज़नीनें। तब यह गली शीशे की तरह चमक उठती है। मुमताज़ शान्ति सलीक़े की पोशाक पहनकर सारे बाज़ार का चक्कर काटती है। हर एक से दुआ-सलाम। जगह-जगह ठहरकर बातचीत। ठहरी हुई। किसी की हिम्मत नहीं कि छेड़छाड़ करे। सब बाअदब होकर देखते-सुनते रहते हैं। पीछे-पीछे कुछ फ़ासले पर दो पहलवान। जिन्हें देखकर ही दम खुश्क हो जाए। बाडीगार्ड। कभी-कभी साथ कोई सहेली। या बुआ। इस गली की सब बूढ़ी कंजरियाँ उसकी बुआएँ। हर एक का महाना लगा हुआ है। मज़े से बैठी खाती हैं। मुहर्रम के दिनों में बूढ़ी कंजरियाँ भी काली पोशाक पहनकर ताज़िये के पीछे-पीछे छाती पीटती नज़र आ जाती हैं। जिस साल मुमताज़ शान्ति क़स्बे में हो, मुहर्रम मेले में बदल जाता है। उसके इर्दगिर्द लाहौर से उसके साथ आयी हुई कंजरियों की बहार को देख सबके दिल टूट-टूट जाते हैं। असलम कहता है क़स्बे के सुन्नियों को तब बहुत ग़ुस्सा आता है। असलम ख़ुद सुन्नी है न शीआ। कहता है, मैं तो मुमताज़ शान्ति का शागिर्द हूँ। मज़हब के मुआमले में। या कहो कि उसका छोटा मामा। कहता है, अगर गुजरात जाकर मर न गया तो डिग्री लेकर वापस यहीं आ जाऊँगा। और इस नीली मस्जिद का इमाम बन जाऊँगा। ऐसी-ऐसी पुरसोज़ बाँगें दिया करूँगा कि मुर्ग़ भी मात खा जाएँ। और हिन्दू भी मुसलमानों के साथ एक ही सफ़ में खड़े होकर नमाज़ पढ़ने लगें। न कोई बन्दा रहे, न कोई बन्दानिवाज़। मैं असलम से नमाज़ सीखना चाहता हूँ। लेकिन उसे ख़ुद अभी पूरी नहीं आती।

कहता है, हफ़ीज़ा को आती है। लाहौर जाकर हफ़ीज़ा से मिलूँगा। मज़ंग में रहती है। मुसलमानों का मशहूर मुहल्ला! शायद। जाकर कहूँगा, हफ़ीज़ा आपा, नमाज़ सीखने आया हूँ। उसका ख़ाविन्द मारने पर उतर आएगा। कहूँगा, मैं आधा मुसलमान हूँ। दिन में कई बार कलमा पढ़ लेता हूँ। क़ुरान की कुछ आयतें भी याद हैं। असलम के मुताबिक़ अगर सुन्नतें करवा लूँ तो पूरा मुसलमान हो जाऊँगा। मैं दरअसल न हिन्दू हूँ न मुसलमान। मैं भी मुमताज़ शान्ति का ही शागिर्द। लाहौर जाकर उसके चौबारे में जाऊँगा। विश्ने पहलवान से उसका पता ले लूँगा। या यहीं बैठी किसी नाज़ुक नानी से। नानी नहीं, दादी। किसी के पास जाकर कह देना चाहिए, दादी, मुझे गोद ले लो। दो साल पहले माँ की तलाश में था, अब दादी की तलाश में। माँ को पता चल जाए तो दादी को गालियाँ देने बैठ जाए। मरने के बाद भी पीछा नहीं छोड़ रही मेरे बेटे का। माँ यहाँ भी मेरा पीछा नहीं छोड़ रही। या शायद मैं माँ का। मेरा क्या होगा!

इस गर्मी में भी इस गली में न हवाड़ है न घुटन न वीरानी। दिन में तीन बार माश्की छिड़काव करते हैं। शायद इत्र का। या आबेहयात का। मुमताज़ शान्ति ने हुक्म दे रखा होगा। दरियादिल है। जानती है कि उसकी ग़ैरहाज़िरी में भी लोग इस कूचे का तवाफ़ करते रहते हैं। उसके जाँनिसार। अनजान। कड़कती धूप में। जब उसकी बुआएँ आराम कर रही होती हैं। गुज़रे ज़माने को सीने से लगाये। या शायद अपने गये बीते क़द्रदानों को। लेकिन वे तो रात को ही आते होंगे। चोरी-चोरी। चौधरी चिराग़ हुसैन। और शायद मेलेशाह। मुमताज़ शान्ति भी बूढ़ी होकर यहीं आ जाएगी। किसी दहलीज़ पर बैठी हुक्का पिया करेगी। और गुज़रे ज़माने की याद में कड़वे घूँट। उसकी असली उम्र का किसी को कुछ पता नहीं। असलम कहता है, कंजरी की उम्र उसके जिस्म से जुड़ी रहती है, और उसका जिस्म उसकी कमाई से। इस क़स्बे में किसी को किसी की सही उम्र मालूम नहीं। सब एक-दूसरे को टोकते रहते हैं। मैंने पहली बार मुमताज़ शान्ति को न जाने किस उम्र में देखा था। उसने मुझे अभी तक नहीं देखा। उसकी कई तसवीरें टँगी हुई हैं। मेरी मन-मस्जिद में। मस्जिदें मन्दिरों के मुक़ाबले में ज़्यादा साफ़ और सादी और पुरसुकून। क्यों? नीली मस्जिद के पास खड़े दो पेड़। सायेदार। सदाबहार। नाम नहीं आते। आहिस्ता-आहिस्ता झूम रहे हैं। मस्जिद के मीनारें साथ-साथ हिलते हुए महसूस होते हैं। और उनके ऊपर का नीला आसमान भी। जैसे दोनों पर हौल पड़ रहा हो। यहीं क्यों न लेट जाऊँ। शाम तक लेटा रहूँ। कोई पूछे, क्या कर रहे हो तो कह दूँ, शान्ति का इन्तज़ार। कौन हो? शान्ति का शैदाई। पूछने वाले को यक़ीन हो जाएगा कि सी.आई.डी. का हूँ। शैदाई का बहाना कर रहा हूँ। हिन्दुओं का जासूस। पाकिस्तान का दुश्मन। मैं कह दूँगा, मैं आधा मुसलमान हूँ। यक़ीन नहीं

आता तो दिखा दूँ? आते-जाते कुत्ते से बातचीत। खुलकर। क्यों भाई, लैला की गली के कुत्ते हो? तो आओ, तुम्हें सीने से लगा लूँ। लेकिन पहले यह बताओ कि तुम पाकिस्तान के हक़ में हो या ख़िलाफ़? मैं बाद में बताऊँगा। हिन्दू हो या मुसलमान? सिक्ख हो या सहजधारी? शीआ हो या सुन्नी? आर्यसमाजी हो या सनातनधर्मी? कुत्ते समझ जाएँगे कि मैं शैदाई हूँ। सी.आई.डी. का हो ही नहीं सकता। जब कुत्तों से उकता जाऊँगा तो जूते उतारकर मस्जिद के अन्दर वुज़ू करने बैठ जाऊँगा। इमाम ऊँघ रहा होगा। गुज़रे ज़माने की यादों में डूबा हुआ। कहूँगा, मियाँ, मुझे नमाज़ सिखा दो। शौक़िया सीखना चाहता हूँ। मुझे अरबी मे इश्क़ है। यह इमाम असलम के मुताबिक़ इस क़स्बे का नहीं। क़सूर का है। पहले हिन्दू था। मुमताज़ शान्ति के इश्क़ ने उसे मुसलमान बना दिया। एक बार लाहौर गया था। सैर करता करता हीरामंडी जा पहुँचा। और फिर मुमताज़ शान्ति के चौबारे पर। उसे देखते ही उस पर फ़िदा हो गया। उसने लाख मना किया लेकिन वह माना नहीं। उसने कहा, मैं पेशेवर औरत हूँ, तुम मेरा पीछा छोड़ दो और ख़ुदा से लौ लगा लो। उसने तो उसका मन बहलाने के लिए कह दिया होगा, लेकिन उस बेवक़ूफ़ पर ऐसा असर हुआ कि वह उसी दिन मुसलमान हो गया। और अब वही इस मस्जिद का इमाम है। असलम की यह कहानी सच्ची हो न हो, मुझे पसन्द है। असलम कहता है, यह बाँग नहीं देता, फ़रयाद करता है। मैं कहूँगा, मियाँ, मुझे भी फ़रयाद करना सिखा दो। वह समझेगा कि मैं उसका मज़ाक़ उड़ा रहा हूँ। ज्योंही वह बाँग शुरू करता है, सारी गली ऊपर की तरफ़ उड़ती हुई महसूस होती है। आज भी शायद ऐसा हो। लेकिन मैं शायद वक़्त से पहले आ गया हूँ। या बाद। मस्जिद की दीवार से पीठ लगाकर खड़ा हो जाता हूँ। पाँव मे काँटा निकालने के बहाने। उँगली पाँव के तले को टटोल रहो है, आँखें मुमताज़ शान्ति के मकान को। जहाँ उसकी सगी बुआ रहती है। जो देखने में हिन्दू भी नज़र आती है और मुसलमान भी। मुमताज़ शान्ति की तरह। उसका नाम और ख़ून भी शायद मिलाजुला हो। दरवाज़े पर ख़सख़स की टट्टी। मैं एक लम्बी साँस से उसकी खुशबू को अन्दर तक खींच लेता हूँ। आँखें बन्द हो जाती हैं। एक ख़ूबसूरत बुढ़िया गद्दे से ओट लगाये बैठी है। हुक्का गुड़गुड़ा रही है। आओ अज़ीज़, आओ। मुमताज़ से मिलने आये हो? वह तैयार हो रही है। तुम्हारे लिए। मेरे पास बैठो। इधर। मैं उस कान से बहरी हूँ। कहो तो नाम क्या है माशाल्ला! यह नाम तो निहायत बचकाना है। इसे बदल डालो। मुमताज के बाहर आने से पहले! उसी का-सा कोई चुन लो। मिलाजुला-सा। दो मज़हबों को मिलाने वाला। मैं मदद करूँ। मंगत हुसैन। पसन्द नहीं आया? तो रसूल चन्द। यह भी नहीं जँचा? तो लो रहमत नारायण! मुस्कुरा रहे हो तो यही ठीक है। आओ अब एक कश लगाओ। मुँह इधर करो। अरे अज़ीज़, आँखें

खोलकर। लेकिन तुम्हारा सिर क्यों तप रहा है? इतनी धूप में सिर के बल आये हो? और आ भी कैसे सकते थे। मैं भी सठिया गयी हूँ। और एक ज़माना था कि मुमताज़ को मात किया करती थी। नज़ाकत में भी और ज़हानत में भी। आवाज़ में भी और सोज़ में भी। बिस्तर में भी और बाहर भी। हैरान क्यों हो रहे हो? मैं लखनऊ में पैदा हुई। वहीं पली। इस क़स्बे में तो तक़दीर ही ले आयी। ख़ैर। कुछ और पियोगे? लेकिन अभी तो तुम्हारे मुँह से दूध की महक आती है। हर तीसरे रोज़ यहाँ आ जाया करो। माँ की नज़र बचाकर। मैं सब सिखा दूँगी। लाहौर जा रहे हो। वहाँ मुमताज़ से मेलजोल रखना। कॉलेज से सीधे उसके चौबारे में। बहुत जल्द जवान हो जाओगे। बस एक बात मानो। दाल-वाल बन्द कर दो और गोश्त-वोश्त शुरू। फिर देखो बदन की बहार। अरी, मुमताज़, अब आ भी जाओ। रहमत नारायण बेक़रार हो रहा है। आयी, बुआ अम्माँ, अभी आयी! और फिर वह छन-छन करती बाहर आ जाती है। मुझे अपनी बुआ के क़दमों में बैठा देखकर मुस्कुरा ही रही होती है कि मैं उठकर फ़र्शी सलाम बजा लाता हूँ। वह झुककर मेरा हाथ पकड़ लेती है। फिर मुझे बालों से खींचकर सीने से लगा लेती है। कहीं मैं उसका गुज़रा हुआ ज़माना तो नहीं? बेसुध होकर उसे दबोच ही रहा होता हूँ कि बुआ की उबली हुई आवाज़ आती है। अज़ीज़, तुम तो बिल्कुल नौसिखिये निकले। तुम्हें तो गलूगीर होने का सलीक़ा ही नहीं आता। बेटा; बिटिया का दम तो मत निकालो। अदब और अन्दाज़े से काम लो। पहली मुलाक़ात है। मैं मुरझाकर अलग हो जाता हूँ तो वे दोनों हँसना शुरू कर देती हैं। मैं रोने को हो आता हूँ। बुआ पुचकारती है। मुमताज़ इस मासूम का वहाँ ख़ास ख़्याल रखना। इसे अपना लाहौर दिखाना। होनहार नज़र आता है। और आधा मुसलमान। किसी ग़रीब हिन्दू घराने में पल पिघलकर पिलपिला हो गया है। इसे पुख़्ता करना होगा। पिलापिलू कर। और प्यार से भी। अच्छा अब तुम दोनों मुझे इजाज़त दो। तुम इसका तन-मन बहलाओ, मैं बाहर बैठकर पहरा दूँगी। और गुज़रे ज़माने को लोरियाँ। ख़ुदा हाफ़िज़! मेरी आँखें खुल जाती हैं। और जिस्म झनझना उठता है। इमाम ने बाँग शुरू कर दी है। सारी गली उसकी आवाज़ के साथ-साथ उड़ती हुई महसूस होती है। सामने एक दहलीज़ पर सचमुच की बुढ़िया बैठी पान पपोल रही है। और सीधी मेरी तरफ़ देख रही है। या कम-अज़-कम महसूस मुझे यही होता है। मेरी ऐनक ठीक नहीं। लाहौर जाकर बदलवाऊँगा। अब चल देना चाहिए। पीछे से आवाज़ आएगी, रहमत नारायण, रुको! नहीं, बुआ अम्माँ, अब और नहीं रुक सकता। सारे क़स्बे की सैर करूँगा। फिर मिलूँगा। किसी नीले सपने में। मुमताज़ को मेरा सलाम। अर्शी। शाम को शायद फिर आ जाऊँ। गोश्त की ख़ुशबू सूँघने। अब तो सीधा विश्वे पहलवान

के अड्डे पर जाकर ही दम लूँगा। वहाँ इस वक़्त शाम प्यारी की शिकायतें हो रही होंगी। और मुमताज़ शान्ति की तारीफ़ें। सो ख़ुदा हाफ़िज़, बुआ अम्माँ!

जीते के घर के सामने घुटा-सा खड़ा असलम का इन्तज़ार कर रहा हूँ। न जाने कब से। थकावट से अन्दाज़ा लगाऊँ तो शायद कल शाम से। अन्दर जाकर जीते के पास बैठ जाना चाहिए था। लेकिन असलम ने घर के सामने ही मिलने को कहा था। कहा नहीं था, यूँ ही फ़ैसला-सा हो गया था कि बाहर ही मिलेंगे। वैसे जीता अन्दर होता तो उसने ख़ुद ही मुझे बुला लिया होना। वह हरदयाल के घर जा बैठा होगा। लेकिन वह भी तो यहीं कहीं है। हैरानी होती है कि मुझे ठीक-ठीक मालूम क्यों नहीं कि हरदयाल का घर कौन-सा है। अँधेरे में सब घर एक-से दिखाई देते हैं। कभी-कभी प्यारे दोस्तों के नाम तक भूल जाते हैं। असलम मारा गया होगा। नहीं मर गया होगा। ख़बर तो मिल ही जाती किसी तरह। चलने से पहले उसे खाँसी या हँसी ने दबोच लिया होगा। और वह हकीम ज़हूरबख़्श की बेकार दवा लेकर लेट गया होगा। या किसी मुल्ला ने ही उसका रास्ता रोक लिया होगा। क्यों अज़ीज़ इतनी रात गये सरदारों की गली में क्या करने जा रहे हो? जानते नहीं कि क़स्बे की हालत क्या है? या शायद उसकी माँ ने ही मना कर दिया हो। वह तो मेरी माँ ने मुझे भी किया ही होगा। हैरानी होती है कि माँ के ख़्याल पर भी कोई ख़फ़गी पैदा नहीं हुई। यह बार-बार हैरान क्यों हो रहा हूँ! असलम और मैं आज मिलकर बालो की बलाएँ लेंगे। पहली और आख़िरी बार। फिर मौक़ा नहीं मिलेगा। ख़ूनख़राबा शुरू होने ही वाला है। लेकिन यह गली तो इतनी वीरान नज़र आती है गोया फ़साद हो चुके हों। कहीं हो ही तो नहीं चुके? और मैं किसी ग़लत दिन यहाँ आ खड़ा हुआ हूँ। अगर हो चुके होते तो मैं मारा गया होता। जिरह बहुत करता हूँ। असलम के मुताबिक़ मुझे जर्राह होना चाहिए था। या वकील। अगर फ़साद हो चुके हैं तो मैंने बक्के की उस कोठरी में कुछ वक़्त तो ज़रूर गुज़ारा ही होगा। याद नहीं आता। हो सकता है वहीं पड़ा यह सपना देख रहा हूँ। अगर यह सपना होता तो इस ख़्याल से नींद टूट जाती। ज़रूरी नहीं। सपनों में ज़रूरी कुछ भी नहीं होता। हँसी आ रही है कि सपने में भी जिरह कर रहा हूँ। जो हो, मैं असलम का इन्तज़ार कर रहा हूँ। अगर यह सपना है तो भी कोई फ़र्क़ नहीं पड़ता। जब तक यह टूटता नहीं, किसी हक़ीक़त से कम नहीं। ज़्यादा ज़रूर है। वरना सोच में इतनी सफ़ाई न होती। बालो से मुलाक़ात हो या न हो, इरादा हमारा यही था कि अगर इसके रू-ब-रू हो गये तो उसे बता देंगे कि हम दोनों उस पर आशिक़ हैं। अगर

जीते ने पकड़ लिया तो कहेगा, क़स्बे में क़त्लेआम हो रहा है और तुम्हें तमाशे सूझ रहे हैं! कहीं क़त्लेआम हो ही न चुका हो। कहीं सिर्फ़ मैं ही तो नहीं बाक़ी बचा रह गया? मकान मुर्दा नज़र आते हैं, आसमान बेहोश। जीते के घर के दरवाज़े पर हरी चिक लटक रही है। शायद यह घर मंज़ूरे का है। लेकिन वह तो गली ही दूसरी है। मंज़ूरे का बाप पहरा भी नहीं दे रहा। वैसे वक़्त का कुछ पता नहीं चल रहा। यह चिक भी पहले नज़र नहीं आयी थी। अगर वक़्त रात का है तो यह उजाला-सा कहाँ से रिस-बरस रहा है? अगर वक़्त दिन का है तो इतना संगीन सन्नाटा क्यों? कोई साया तक तो मँडरा नहीं रहा। अजीब-सी अजनबियत उतर आयी है। हरी चिक के पीछे खड़ी बालो भी हैरान हो रही होगी कि मैं बीरू हूँ या बीरू का भूत। अगर असलम न आया तो अकेला ही उसके सामने बेपरदा हो जाऊँगा। कहूँगा, वह तो दग़ा दे गया, अब उसका प्यार भी मुझसे ही ले लो। उसे हमारे ख़ब्त की ख़बर तक नहीं होगी। उसे अभी मालूम ही नहीं होगा कि इश्क़ किस बला का नाम है। इतनी नादान नहीं होगी। आख़िर जीते की बहन है। और हरदयाल की मंगेतर। हँसी आ जाती है। साथ ही यह ख़्याल कि हँसना नहीं चाहिए। वरना सब लोग जाग उठेंगे। लेकिन लगता यही है कि यहाँ कोई नहीं। सब लोग हिन्दुस्तान भाग गये होंगे। अपने भूतों को यहीं छोड़कर। मैं भाग गया तो मेरा भूत भी यहीं भटकता रहेगा। कभी नीली गली में, कभी पीपल वाले चौक के आसपास। कभी बेरियों वाली सड़क पर, कभी अराइयों वाले कुएँ पर। कभी फल्लो के पीछे-पीछे, कभी नूराँ की तलाश में। यह मालूम क्यों नहीं हो जाता कि हक़ीक़त में खड़ा आगे के सपने देख रहा हूँ या सपने में भूत को? यह मालूम न ही हो तो बेहतर! आसमान यक़ायक़ लाल हो गया है। अगर आँधी आ गयी तो असलम उड़ जाएगा। उड़ता हुआ किसी सूखे बाज़-सा नज़र आएगा। बालो मुझसे पूछेगी, तुझे आसमान में क्या दिखाई दे रहा है? उड़ता हुआ भी वह नज़्में गुनगुनाता रहेगा। कहता है, मैं ख़ुद तो बीमार हूँ लेकिन मेरी नज़्में सेहतमन्द हैं। मेरी मौत के बाद मेरी नज़्में और ज़िन्दा हो उठेंगी। बालो को उर्दू नहीं आती। अगर क़स्बा छूट गया तो मुझे भी भूल जाएगी। धीरे-धीरे। अगर क़स्बा छूट चुका है तो शायद भूल ही चुकी हो। कुछ-कुछ। मुझे ठीक-ठीक मालूम क्यों नहीं कि मैं हक़ीक़त में यहाँ हूँ या वहाँ होने का सपना ही देख रहा हूँ। अगर जेहन पर ज़ोर डालूँगा तो यह समाँ या सपना टूट जाएगा। मुझे ठीक-ठीक कुछ भी मालूम न हो तो बेहतर। वह हरी चिक अब हवा में बदल गयी है, वह दरवाज़ा दीवार में। गली में साँप रेंगते दिखाई दे रहे हैं। या शायद साँपों-सी रस्सियाँ। मैं टाँगें ऊपर खींचकर हवा में लटक-सा जाता हूँ। महसूस होता है जैसे कोई बालों से पकड़कर मुझे ऊपर की तरफ़ खींच रहा हो। मेरे बाल लम्बे होते जा रहे हैं, मैं ख़ुद छोटा। शायद कोई मुजाहिद यह साबित

कर दिखाना चाहता है कि मैं दरअसल सिक्खू हूँ। अब असलम ऐन उस जगह पर खड़ा है जहाँ कुछ देर पहले मैं था। किसी काले तीतर-सा दिखाई देता है। मैं उसे इशारे कर रहा हूँ कि या तो वह भी टाँगें समेटकर ऊपर उड़ आए या किसी दीवार को धकेलकर किसी के घर घुस जाए वरना वे साँप उसे डस लेंगे। वह मुझे इशारे कर रहा है कि मैं नीचे की तरफ़ न देखूँ। उसके हाथ परों की तरह फड़फड़ा रहे हैं।

अराइयों के कुएँ पर नूराँ नहा रही है। उसका जिस्म पानी के नीचे आग की तरह मचल रहा है। शायद नूराँ न हो, चम्बेली हो, लेकिन अब हरा एक तरफ़ खड़ा पहरा न दे रहा होता। उसे मालूम नहीं कि मैं यहाँ छुपा बैठा नूराँ का नूर देख रहा हूँ। और चम्बेली की उस चमक को याद कर रहा हूँ जिसे मैंने शायद किसी सपने में ही देखा था। अगर हरा और नूराँ मुझे देख भी लें तो पहचान नहीं सकेंगे। आसानी से। लेकिन डर शायद जाएँ। मैं इस वक़्त एक नीले कबूतर के भेस में हूँ। इस पेड़ पर। मेरा चेहरा नहीं बदला। इसीलिए उसे अपने परों में छुपाने की कोशिश कर रहा हूँ। इस डर के बावजूद कि ऐनक नूराँ की पीठ पर जा गिरेगी। और मेरी पोल खुल जाएगी। तब उनसे कहूँगा, मैं जान बचाने के लिए मुसलमान बन गया था, अब मेरी शादी किसी मुसलमान लड़की से करवा दो। नूराँ की ही किसी बहन या भतीजी से। लेकिन हरे ने तो जूड़ा बाँध रखा है। शायद यह हिन्दुस्तान ही हो। और हरा किसी ग़द्दार की मदद से नूराँ को क़स्बे में से निकाल लाया हो। और अब उसे नहला रहा हो। सिक्ख बना लेने से पहले। आसपास नज़र डालने से कुछ पता नहीं चलता कि कहाँ हूँ। अगर यह हिन्दुस्तान है तो अराइयों का कुआँ यहाँ कैसे? और मैं अभी तक इस भेस में क्यों? मेरा दिमाग़ और ख़राब हो गया होगा, नज़र और कमज़ोर। तरह-तरह की चोटों से। माँ और बाबा और देवी शायद मारे गये हों। लेकिन मुझे याद क्यों नहीं आ रहा कि कहाँ और कैसे? किसके हाथों से? उनका ख़्याल छोड़ नूराँ को ही निहारूँ, क्योंकि यह नज़ारा फिर नसीब नहीं होगा। सपनों में भी ऐसी ख़ूबसूरती कम ही नज़र आती है। मेरी नज़र का असर है या कोई और जादू, नूराँ बालो में बदलती जा रही है। हरे के चेहरे पर कोई हैरानी नहीं। मेरी नज़र का ही धोखा होगा। बालो को तो कोई मुजाहिद उठा ले गया होगा। या उसने छत से छलाँग लगा दी होगी। उड़कर असलम के घर पहुँच जाना चाहिए। शायद वह भी न बता सके कि मुझे हो क्या गया है। शायद उसके होश भी ठिकाने न हों। शायद वह ज़िन्दा भी न हो। ज़िन्दा तो शायद मैं भी नहीं। या न होने के बराबर। अपनी हालत पर रोना आ रहा है। कबूतर बन जाने के बाद भी आँखें आँसुओं से आज़ाद नहीं हुईं। न दिल अरमानों से। हरे से सब सवाल पूछ लेने चाहिए। क़स्बा किस रंग में है? फ़साद ख़त्म हो चुके हैं कि अभी शुरू ही नहीं हुए? नूराँ इतना नहा

क्यों रही है? यानीकि किस मौज में है? मुझे कबूतर किसने बना दिया? यह ख़्वाब है या हक़ीक़त? हरे ने भी रोना शुरू कर दिया है। नूराँ शायद पानी में बदल गयी है, पानी शायद ख़ून में। जहाँ खड़ी वह नहा और नाच-सी रही थी, वहाँ एक बड़ा-सा पत्थर गिरा पड़ा है। मैं कुछ कहने के लिए होठ हिलाता हूँ। आवाज़ निकलती है, न जाने मैं कहाँ हूँ! हरा हैरानी से इधर-उधर देखता है। उसके बाल साँपों में बदल गये हैं। उनमें से एक सीधा मेरी तरफ़ देख रहा है, जैसे कह रहा हो, मैं तुझे जानता हूँ। मैं हकलाना शुरू कर देता हूँ। ऐनक नीचे गिर जाती है। अब लहराती हुई स्याह हरियाली के सिवाय कुछ नज़र नहीं आता।

बशीरा दरज़ी अपनी दुकान में बैठा मशीन चला रहा है। बेतहाशा। बग़ैर किसी शोर के। बाज़ार बन्द है। मैले अँधेरे में लिपटा हुआ। यह इस अँधेरे में न जाने क्या सी रहा है, क्या सोच रहा है? सोच मैं रहा हूँ, यह सिर्फ़ सी रहा है। मर जाने के बाद इसमें दम आ गया है। हर बीमारी का इलाज मौत। हर दर्द की दवा। असली और आख़िरी। ये जुमले भी मौलवी नज़ीर अहमद के। हमारे स्कूल में तो अब उल्लू बोल रहे होंगे। शायद सारे क़स्बे में। मुझे सुनाई नहीं दे रहे। हर मकान पर किसी भूत का क़ब्ज़ा होगा। और किसी मुसलमान का। हर रात दोनों में दंगा हुआ करेगा। बशीरे से पूछना चाहिए कि भूत वह है या मैं या हम दोनों। यह मुझे पहचान नहीं सकेगा। मैंने कभी इससे बात नहीं की। इसकी हालत इतनी हैबतनाक हुआ करती थी कि देखते ही यह डर उठ खड़ा होता था कि कहीं मैं भी इसकी तरह बीमार न पड़ जाऊँ। अब खुश नज़र आता है। पहचान लेगा तो पूछेगा, तुम अपने भाइयों के साथ अपने हिन्दुस्तान क्यों नहीं भाग गये? इसके रुख़ से पता नहीं चलता कि इसे मेरी ख़बर भी है या नहीं, कि यह इसी दुनिया में है या किसी और में, कि यह कफ़न सी रहा है या कोई और पोशाक। मेरे रुख़ से शायद इसे भी कुछ पता नहीं चलेगा। रुख़ के अलावा रोशनी भी अजीब सी है। अँधेरे में हल्की-सी सुर्ख़ी यूँ घुली हुई है जैसे कोई लौ किसी परदे के पीछे छुपी लड़खड़ा रही हो। किसी से बात किये एक ज़माना गुज़र गया महसूस होता है। यह बशीरा हो या उसका भूत, अब इससे बात किये बग़ैर नहीं रहूँगा।

—उस्ताद, क्या सी रहे हो?

—कफ़न।

—किसका?

—पूछो, किस-किस का?

—किस-किस का?

—नाम मुझे याद नहीं। सैकड़ों हज़ारों का।

—तो क्या इतने मुसलमान भी मारे गये यहाँ?

—मैं हिन्दुओं और सिक्खों के लिए भी सी रहा हूँ।

—लेकिन उन्हें तो जलाया जाता है।

—जिरह मत करो।

—तुम्हें कहा किसने?

—अपने आप सी रहा हूँ। अपने लिए भी।

—तो तुम अभी ज़िन्दा हो?

—नहीं।

—तो यह तमाशा कहाँ हो रहा है।

—जहन्नुम में।

—तुम्हारी मौत कब हुई?

—फ़सादों के दौरान।

—मारा किसने था?

—मारा तो बीमारी ने ही था, लेकिन शोर यही मचाया गया था कि किसी काफ़िर ने ही मेरा गला घोंट दिया था।

—शोर किसने मचाया था?

—मेरे मुसलमान भाइयों ने।

—फ़सादों की शुरुआत इसी अफ़वाह से हुई थी?

—नहीं। अफ़वाहें और भी बहुत थीं। लेकिन अफ़वाह अगर एक न उड़ी होती तो भी फ़साद होकर ही रहते।

—क्यों?

—क्योंकि मुसलमान बदला लेने पर तुले हुए थे, हिन्दू और सिक्ख मुक़ाबला करने पर।

—पहल किसने की थी?

—यहाँ तो मुसलमानों ने ही की होगी।

—और अमन कमेटी वाले?

—उन्हें तो सब पागल समझते थे।

—तुम भी?

—मैं भी।

—वे सब मेरे दोस्त थे।

—उन सबको तो चुन-चुनकर मार दिया गया था। तुम न जाने कैसे बच गये।

—तो मैं बच गया हूँ?

—तुम नहीं जानते?

—मैं कुछ नहीं जानता।

—खुशक़िस्मत हो।

—तुम सब कुछ जानते हो?

—सबकुछ तो वह भी नहीं जानता होगा।

—वह कौन?

—वही जिसे तुम नहीं मानते।

—जहन्नुम में पहुँचकर क्या सब इंनसान इस तरह तेज़ हो जाते हैं?

—हाँ।

—मैं क्यों नहीं हुआ?

—तुम तो अभी मरे भी नहीं पूरी तरह।

—कब मरूँगा?

—किसी फ़रिश्ते से पूछकर बताऊँगा।

—जहन्नुम में फ़रिश्ते भी रहते हैं?

—आते-जाते रहते हैं।

—तो अब फ़रिश्तों से दोस्ती है तुम्हारी?

—और किससे होगी अब!

—किसी हिन्दू फ़रिश्ते को भी जानते हो?

—फ़रिश्तों का कोई मज़हब नहीं होता।

—काश कि इनसानों का भी न होता! अच्छा, एक अच्छा-सा कफ़न मेरे लिए भी सी देना।

—पहले पूरी तरह मर तो लो।

—मालूम कैसे होगा?

—यह मालूम करने की ख़्वाहिश ही नहीं रहेगी।

—तुम तो महात्मा हो गये!

—महात्मा नहीं, सूफ़ी।

—मरने के बाद भी महात्मा और सूफ़ी का फ़र्क़ मिटता नहीं?

—मैं मज़ाक़ कर रहा था।

—तुम सचमुच अपना कफ़न भी सी रहे हो?

—मैं मज़ाक़ कर रहा था।

—मरने के बाद क्या सब इनसान मज़ाक़ में मज़ा लेने लगते हैं?

—मरने के बाद सबकुछ मज़ाक़ ही नज़र आता है।

—तुम्हें याद है मरने से पहले तुम हर वक़्त क्या कराहते रहते थे?

—मैं मरना नहीं चाहता! मैं मरना नहीं चाहता!

—और अब तुम्हें उस याद पर हँसी आती है?

—मरने के बाद हर याद पर हँसी ही आती है।

—जहन्नुम में भी?

—वहाँ नहीं। जहन्नुम तो नाम ही उस जगह का है जहाँ हँसी न आए।

—तो तुम जहन्नुम में नहीं।

—ज़ाहिर है कि इस वक़्त नहीं हूँ, क्योंकि हँस रहा हूँ।

—तो हर वक़्त क्यों नहीं हँसते?

—काश कि हर वक़्त हँस सकता!

—एक बात बताओगे?

—कोशिश करूँगा।

—मरने के बाद भी कोशिश ख़त्म नहीं होती?

—जहन्नुम में नहीं होती।

—तुम जहन्नुम में क्यों हो?

—क्या पता! वैसे तुम हिन्दुओं के मुताबिक़ मेरे करम ही ऐसे रहे होंगे।

—मैं पूरा हिन्दू नहीं।

—मैं शायद पूरा मुसलमान नहीं था।

—इसीलिए शायद हम एक-दूसरे से डर नहीं रहे।

—शायद।

—कोई मानेगा नहीं कि तुमसे सचमुच ये बातें हुई थीं।

—सचमुच हुईं भी तो नहीं।

—तुम्हें यह क़स्बा याद नहीं आता वहाँ?

—क्यों नहीं आता? आता है, इसीलिए तो यहाँ बैठा ये कफ़न सी रहा हूँ।

—जब मुझे याद आया करेगा तो मैं न जाने क्या किया करूँगा।

—तुम भी कफ़न ही सिया करोगे। मेरी तरह। मुहावरे के। मुहावरों के।

उसकी आवाज़ बदलती हुई सुनाई देती है। महसूस होता है जैसे बशीरे के भेस में असलम ही बोल रहा हो। फिर यह एहसास यक़ीन में बदल जाता है। मैं उससे कहना चाहता हूँ कि वह भेस बदलकर बात करे, मज़ाक़ काफ़ी हो लिया। अभी तक हुई बातों पर हैरानी होती है। देखना चाहता हूँ कि अब उससे कैसी बातें होंगी। लेकिन देखते ही देखते वह एक हँसते हुए कंकाल में बदल जाता है। जहाँ एक लम्हा पहले उसकी मशीन पड़ी थी वहाँ अब एक घायल बच्चा पड़ा तड़प रहा है।

केशव समाधि-सी लगाये बैठा है। उसी कोठरी में जिसमें एक बार मैंने उसके साथ मिलकर झाँका था। और उसकी हँसमुख माँ को किसी काले से मर्द के नीचे

उछलते-लहराते देखा था। वह नज़ारा आँखों के सामने तसवीर की तरह नाच उठता है। केशव ने वही फटा-पुराना जाँघिया-सा पहन रखा है जिसे वह अपनी वर्दी कहा करता था। उसकी आँखें बन्द हैं और चेहरा पिचका हुआ। मुझे बापू याद आ जाते हैं, पसलियाँ यूँ उभरी हुई हैं जैसे कह रही हों, हमें गिनो वरना हम बाहर आ गिरेंगी। मैं उन्हें गिनना शुरू कर देता हूँ। गिनती में बार-बार ग़लती कर जाता हूँ। डरता हूँ कि वह चिल्ला उठेगा, अब तुझसे गिना भी नहीं जाता! नल के नीचे उसकी माँ कुबड़ी बनी नाच-सी रही है। नल अपने आप चल रहा है। वह अपने बदन की बलाएँ ले रही है। हालाँकि उस पर अब वह बहार नहीं जिस पर शर्म भी आती थी, हुशियारी भी। वह अचानक एक बदसूरत बुढ़िया में बदल जाती है। पेट जाँघों के बीच झूल रहा है, छातियाँ पेट के ऊपर। केशव की पसलियों की गिनती भूल इस हिसाब में खो जाता हूँ कि यहाँ कितने दिनों बाद आया हूँ। कुछ याद नहीं आता। मेरी उलझन को देखकर ही मानो एक मुस्कुराहट केशव के चेहरे से चिपक जाती है। किसी चमगादड़ की तरह। उसे छीन उतारने के लिए हाथ बढ़ाता हूँ तो वह एक बिच्छू में बदल जाती है। हाथ खींच लेता हूँ तो बिच्छू फिर चमगादड़ में बदल जाता है। केशव की माँ अब सीधी खड़ी अपना बदन निचोड़ रही है। अब माँ-सी नज़र आ रही है। अगर इस ख़्याल को फ़ौरन दबा नहीं दिया तो वह सचमुच माँ में बदल जाएगी। अगर ज़्यादा दबा दिया तो किसी और ही बला में। बाहर गली में अब घुड़दौड़-सी हो रही है। शायद हमला शुरू हो गया हो। किस हमले के बारे में सोच रहा हूँ? यह शोर मेरे अन्दर से ही उठा होगा।

—बेटा, यह न बोलता है न बोलने देता है। इसे क्या हो गया है?

आवाज़ केशव की माँ की है। सूरत भी। लेकिन मुझे यही लगता है जैसे मेरी माँ मुझसे मेरी ही शिकायत कर रही हो।

—भूख हड़ताल में बोलना ठीक नहीं होता।

—तुझे क्या पता?

—बापू भी बहुत कम बोलते हैं।

—तूने क्यों नहीं की भूख हड़ताल? और किसी ने क्यों नहीं की? इस पगले को आगे कर दिया और आप सब पीछे हट गये! शर्म आनी चाहिए।

मुझे इतनी शर्म आ जाती है कि मैं रोना शुरू कर देता हूँ, रोते-रोते हैरान हो रहा हूँ कि इसकी इस सीधी-सी शिकायत ने मुझे इतना दुख क्यों दिया। शायद मैं रोकर सच्चा होने की कोशिश कर रहा हूँ। ताकि केशव भी माँ के साथ मिलकर मुझे कोसना न शुरू कर दे।

—तू अब रोकर सच्चा नहीं हो सकता।

मेरे आँसू यकायक सूख जाते हैं। मन होता है कि कह दूँ, रो कौन रहा है!

केशव ने हमारी बातें सुनी तो ज़रूर होंगी, लेकिन बुद्ध की तरह बेगाना-सा बना बैठा है। उसकी माँ एक झुर्रियाली झाड़ी-सी खड़ी है। उसे अब कपड़े पहन लेने चाहिए। नज़र उठाता हूँ तो वह कपड़े पहने खड़ी दिखाई देती है। खिली हुई-सी। जैसे उसकी झुर्रियाँ झड़ गयी हों।

—बेटा, इसे कहो कि कुछ तो खा ले। ऐसा व्रत तो बापू भी नहीं रखते होंगे। यह मर गया तो मैं क्या करूँगी?

—मैं इसके लिए बकरी का दूध लाया हूँ।

केशव ने सुना नहीं होगा, वरना बरस पड़ता, झूठ क्यों बोल रहे हो! उसकी माँ को भी यक़ीन नहीं आया होगा। मेरे हाथ ख़ाली हैं। वह हँस रही है। मैं अपनी झेंप मिटाने के लिए ही दरवाज़े पर नज़रें जमा देता हूँ। दरवाज़ा खटाक से खुल जाता है। चम्बेली मचलती हुई अन्दर आती है। खजूरों से लदी-फटी। बकरी के दूध से भरी-पूरी। मैं दंग रह जाता हूँ। अगर इस पर यह रौनक़ है तो क़स्बे में भी अभी अमन ही होगा।

दरवाज़ा बन्द करने के लिए क़दम उठा ही रहा होता हूँ कि बादशाह का घोड़ा दहलीज़ पार करता दिखाई देता है। एक सफ़ेद बकरे या शायद कुत्ते के भेस में। उसकी पीठ पर एक पैग़ाम चिपका हुआ है। बादशाह ने केशव या उसकी माँ को बुलवा भेजा होगा। या शायद वह ख़बर कि क़स्बे के अमन को अब कोई ख़तरा नहीं। चम्बेली शायद सीधी उस सरकारी साँड के बाग़ से आयी है। लेकिन वह तो कई दिनों से लापता है। किसी और बाग़ में जा बैठा होगा। घोड़ा बेक़रार नज़र आता है। मैं उसकी पीठ से पैग़ाम उतारने के लिए हाथ बढ़ा ही रहा होता हूँ कि चम्बेली चहचहाना शुरू कर देती है, जैसे मैंने ही उसे ऐसा करने का इशारा कर दिया हो। उसके थरथराते जिस्म से खजूरें अब बेरों की तरह झड़ रही हैं। मैं एक लम्हे के लिए बेरियों वाली सड़क पर पहुँच जाता हूँ। सब बेरियाँ बेरौनक़ खड़ी हैं। चम्बेली अब ख़ूब खुलकर नाच रही है। कहीं मुमताज़ शान्ति के चौबारे पर ही तो नहीं हम सब! अगर यह कुछ देर और इसी तरह नाचती रही तो सब खजूरें झड़ जाएँगी और यह नीचे से नंगी निकल आएगी। मेरा जिस्म एक पुरानी याद से आबाद हो जाता है। यह मस्ती बेमौक़ा है। इसकी भी और मेरी भी। बाहर न जाने क्या हो रहा है। इसका चाकर इसकी तलाश में मारा-मारा फिर रहा होगा। मैं कब तक इन इनीगिनी यादों से चिपका रहूँगा। ध्यान बदलने के लिए इधर-उधर बिखरी खजूरों की तरफ़ देखता हूँ तो वे मकोड़ों में बदल जाती हैं। मेरा मुँह बिगड़ जाता है। चम्बेली नाचना चहचहाना बन्द कर देती है। फिर मुझे गोद में ले लोरी देने लगती है। महसूस होता है जैसे हम दोनों की कोई पुरानी मनोकामना पूरी हो गयी हो। मैं उसकी गरदन से यूँ लिपटा हुआ हूँ जैसे उसका गला दबोचकर ही रहूँगा।

अब केशव की माँ ने केशव को गोद में उठा लिया है। वह आँखें बन्द किये मुस्कुरा रहा है, जैसे उसे सबकुछ दिखाई दे रहा हो। मैं शूम की बीवी की याद के पीछे भागता-भागता कड़ा होता जा रहा हूँ। वह भी शायद कहीं बैठी बाबा को याद कर रही हो। साथ मुझे भी। शायद मारी या मुसलमान बना ली गयी हो। इस वक़्त याद क्यों आ गयी! चम्बेली को पता चल गया होगा कि उस पर चढ़ा-चढ़ा भी मैं किसी और के पास पहुँच गया हूँ। वह मुझे फेंक देती है, उसी की नक़ल में केशव की माँ केशव को। अब वे दोनों यूँ खड़ी हैं जैसे किसी अखाड़े में हों। मैं हैरान हो रहा हूँ कि हमें कोई चोट क्यों नहीं आयी, कि मुझे कहीं कोई दर्द क्यों नहीं हो रहा, कि केशव की आँखें अभी तक बन्द क्यों हैं। तभी घोड़ा भौंकना शुरू कर देता है। केशव को हँसी आ जाती है। घोड़ा इशारा कर रहा है कि हम उछलकर उसकी पीठ पर जा बैठें। दरवाज़ा बन्द होने की आवाज़ सुनाई देती है। अब कोठरी में मेरे और कैशव के सिवाय कोई नहीं। उसकी आँखें अब खुली हुई हैं और चेहरा खिला हुआ। मैं उसकी नज़र से नज़र नहीं मिलाता। मैं जानना चाहता हूँ कि यह सब ख़्वाब में हो रहा है या हक़ीक़त में, मेरे ही ख़्वाब में हो रहा है या किसी और के में, पहली बार हो रहा है या पहले भी हो चुका है। लेकिन इसके बारे में केशव से कुछ कहूँ या पूछूँगा नहीं।

—केशव, तू हँस किस बात पर रहा है?

उसकी हँसी हवा हो जाती है।

—हँस नहीं रहा, बीरू, भूख की वजह से ही मुँह कुछ टेढ़ा हो गया होगा। मैं तो दरअसल सोग ही मना रहा हूँ।

—कोई सोग मना रहा है, कोई कफ़न सी रहा है, और मैं कुछ भी नहीं कर पा रहा।

—कफ़न कौन सी रहा है?

—पता नहीं अब सी रहा है कि नहीं।

—तू ने उसे देखा कहाँ?

—अब याद नहीं।

—था कौन?

—अब याद नहीं।

—तेरी याद को क्या हो गया?

—पता नहीं।

—असलम को साथ क्यों नहीं लाये?

—वह अब चल-फिर नहीं सकता।

—मैंने तो सुना था कि वह चल बसा।

—तो मैं उसे साथ कैसे ले आता।

—मैंने तो सुना था कि तू भी मर चुका है।

—किससे सुना था?

—अब याद नहीं। तू आया कैसे?

—अब याद नहीं।

मैं फ़ैसला नहीं कर पा रहा कि वह मेरी नक़ल उतार रहा है या मैं उसकी। वह भी शायद यही सोच रहा हो। मैं फ़ैसला नहीं कर पा रहा कि यह मुलाक़ात मारकाट से पहले हो रही है या उसके बाद। वह भी शायद यही सोच रहा हो। मैं अपनी लाइल्मी उस पर ज़ाहिर नहीं होने देना चाहता। वह भी शायद इसीलिए चुप है।

—तू भूख हड़ताल कब तोड़ेगा?

—जब मुझे यक़ीन हो जाएगा कि क़स्बे के अमन को कोई ख़तरा नहीं।

—वह कैसे होगा?

—अन्दर से आवाज़ आएगी।

—और अगर तू उससे पहले ही मर गया तो?

—यह भी तो हो सकता है कि तू मेरे भूत से ही बात कर रहा हो। यानीकि मैं मर चुका हूँ।

—कैसे पता चले कि हक़ीक़त क्या है?

—मुझे क्या मालूम! मैं तो एक मामूली-सा पागल हूँ।

—अगर तू ज़िन्दा होता तो कभी यह न कहता।

—अगर तू ज़िन्दा होता तो तू भी कभी यह न कहता।

मैं लाजवाब-सा हो जाता हूँ। अब किसी और को आ जाना चाहिए! दरवाज़ा बन्द है। दरवाज़ा खटाक से खुल जाता है। दहलीज़ पर बादशाह खड़ा है। उसकी दाढ़ी दमक रही है, घोड़ा दुम हिला रहा है। घोड़े पर फल्लो बैठी बीड़ी पी रही है। उसके ऊपर टुंडा लाट हवा में लटका हुआ-सा दिखाई देता है। यानीकि भी ज़रूर यहीं कहीं होगा।

—यानीकि तो जेल में बन्द है।

बादशाह ने मेरे मन का एक सवाल बूझ लिया है। शायद बाक़ी सब भी बूझ ले। मुझे होशियार हो जाना चाहिए। सिर्फ़ उन्हीं बातों को मन में उठने देना चाहिए जिन्हें बादशाह से बुझवाना चाहता हूँ। सबसे बड़ा सवाल यही है कि यह सब हो रहा है या हो चुका है। अब मैं बादशाह को देख रहा हूँ। सवालिया नज़रों से। जिन्हें वह नज़रअन्दाज़ कर रहा है। उसने मेरा सवाल बूझ तो लिया है लेकिन जवाब नहीं देना चाहता। क्योंकि उसे यह यक़ीन नहीं कि मैं उसका जवाब समझ सकूँगा। या

शायद पहले यह जान लेना चाहता है कि मेरे मन को और कौन से सवाल सता रहे हैं। मैं उसके सामने अपने सारे मन को नंगा नहीं होने दूँगा। उसका वही कोना उसे दिखाऊँगा जिसमें यह सवाल डटा खड़ा है कि यह हो रहा है या हो चुका है। यानीकि यह ख़्वाब है या हक़ीक़त। शायद सबके सामने बताना न चाहता हो। ये लोग यहाँ आये क्यों हैं?

—हम केशव से यह कहने आये हैं कि वह अपनी ज़िद छोड़ दे।

—क्यों?

—क्योंकि जो होना था हो चुका।

—मैं ज़िद नहीं कर रहा, सत्याग्रह कर रहा हूँ।

केशव की आवाज़ की ऊँचाई और कड़क पर बादशाह भी हैरान नज़र आता है। ये लोग हिम्मतसिंह को भी साथ ले आते तो अच्छा रहता। वह केशव की बात शायद ज़्यादा आसानी से समझ सकता। शायद उसे समझा भी सकता। बादशाह कहीं ख़फ़ा न हो जाए।

—तुम घबराओ नहीं, अज़ीज़: मुझे तुम्हारे इस जाँबाज़ दोस्त पर ग़ुस्सा आ ही नहीं सकता।

मैं झेंप जाता हूँ, केशव एक क़हक़हा छोड़ देता है। उसकी पसलियाँ न टूट जाएँ! घोड़ा भी हिनहिना रहा है जैसे केशव की नक़ल उतार रहा हो। फल्लो उसकी पीठ पर झूठमूट के थप्पड़ मार रही है। टुंडा लाट अब भी गुब्बारे की तरह हवा में लटका हुआ है। मैं सबका ध्यान उसकी तरफ़ ले जाकर पूछना चाहता हूँ कि वह क्या कर रहा है।

—वह भी केशव की तरह सत्याग्रह कर रहा है।

—क्यों?

—क्योंकि वह भी नहीं जानता कि उसका सत्यग्रह बेकार है।

—क्यों?

—क्योंकि जो होना था हो चुका। अगर नहीं हुआ तो होकर रहेगा।

—क्यों?

—क्योंकि लोग या तो बेवक़ूफ़ हैं या पागल।

—क्यों?

—क्योंकि न अपना बुरा-भला जानते हैं न दूसरों का।

—क्यों?

—क्योंकि उन्हें अपनी नाक की नोक से सिवाय कुछ नज़र ही नहीं आता।

—क्यों?

—क्योंकि उनकी आँखें इधर-उधर उठतीं ही नहीं।

—क्यों ?

—क्योंकि वे जाहिल हैं।

—क्यों ?

—क्योंकि वे इनसान हैं।

उसके आख़िरी जवाब का असर है या यूँही, मैं अचानक उचाट हो जाता हूँ। उसका चेहरा अब भी सुबह के सूरज की तरह दमक रहा है। बाक़ियों को हमारा सवाल-जवाब बेतुका लगा होगा। मेरी उलझन उससे दूर नहीं हुई। अगर यानीकि जेल में बन्द है तो ये सब बाहर क्यों हैं ?

—क्योंकि वह अभी ज़िन्दा है और हम सब मर चुके हैं।

—और केशव ?

—इससे तुम ख़ुद पूछ लो।

—पूछ चुका हूँ।

—तो ?

—इसे मालूम नहीं ?

—और तुम्हें ?

—मुझे भी नहीं।

—तो तुम दोनों अभी ज़िन्दा हो।

मुझे यक़ीन नहीं आया। केशव ने उछलना शुरू कर दिया है। कुछ पता नहीं चलता कि वह खुश है या ख़फ़ा। कोठरी में सुर्ख उजाला बिखरता जा रहा है। जिसमें धीरे-धीरे मेरे सिवाय सब गुम हुए जा रहे हैं, जैसे मुझे यहीं छटपटाता छोड़ ख़ुद इस दुनिया की ख़ाक से दूर किसी दूसरी दुनिया के नूर में डूबते जा रहे हों।

□

नसरीन

(उपन्यास अंश)

मेरे इन्तज़ार का असली अज़ाब तब शुरू हुआ था जब उस शाम को रात ने निगल लिया था और तुम्हारे आने की उम्मीद उड़ गयी थी। इस ख़्याल से कि दूसरे रोज़ मुझसे मिले बग़ैर तुम किसी बादल की तरह हमेशा के लिए मेरी नज़र और ज़िन्दगी से दूर वहाँ के लिए रवाना हो जाओगे, मेरा जिस्म ख़ाली हो जाता रहा था। जब आँखें बन्द करके तुम्हें हवाई जहाज़ में बैठा हुआ देखती तो कुछ दिखाई नहीं देता था और जब तुम्हारी वहाँ की ज़िन्दगी की कोई तसवीर उठाने की कोशिश करती तो एहसास होता कि मुझे तुम्हारी वहाँ की ज़िन्दगी के बारे में कुछ भी मालूम नहीं क्योंकि जब कभी मैंने कुछ पूछा तुमने एक ही जवाब दिया—वह दरवाज़ा बन्द ही रहने दो! तुमसे पहले किसी मर्द ने मुझे इतने बन्द दरवाज़े नहीं दिखाए। इसीलिए मैं तुम्हारी रोज़ाना ज़िन्दगी के बारे में इतना कम जानती हूँ कि एक आम तवायफ़ भी अपने ख़ास- ख़ास ग्राहकों के बारे में उनसे ज़्यादा जानती होगी। मेरे पास तुम्हारी कोई तसवीर या और कोई ठोस निशानी तक नहीं गोया तुम किसी ऐसे अजीब सैलाब की तरह मुझ पर से गुज़र गये हो जो अपने पीछे कोई कीचड़-कचरा तक न छोड़ गया हो। नहीं यह मिसाल ठीक नहीं। मेरे पास तुम्हारी दी हुई कई लज़्ज़तें और कई लर्ज़शें हैं जिनकी याद से मैं काफ़ी देर तक आबाद रह सकूँगा। मैं जानती हूँ कि तुम्हें रूमानियन नापसन्द है लेकिन जिन लज़्ज़तों का मैं ज़िक्र कर रही हूँ उनकी अहमियत और असलियत से तुम्हें इनकार नहीं और यादों की ख़ुदाई को तुम भी मानते हो वरना यहाँ से कटकर तुम अब तक वहाँ ख़त्म हो गये होते। काश कि तुमने यहाँ से दूरी के दर्द के बारे में मुझे और खुलकर बताया होता। लेकिन जो मुझे मालूम है उससे इतना अन्दाज़ा तो मैं लगा सकती हूँ कि वहाँ तुम्हारी तनहाइयाँ तुमसे तुम्हारी यादों की वजह से ही बरदाश्त हो पाती हैं। ख़ैर तो उस शाम बल्कि रात के इन्तज़ार के दूसरे दौर का फ़ोकस उम्मीद पर कम और याद पर

ज़्यादा रहा था। मेरी नज़र रफ़्ता-रफ़्ता एक ही रात पर जा टिकी थी—रेवा के घर से लौटने के बाद पहली बार जब मैंने तुम्हें मेरे तुम्हारी पतलून में से उछलते हुए और अपने कपड़ों को अपने सीने और कूल्हों पर से फिसलते हुए देखा था और फिर तुम्हें मेरे हैरान जिस्म के हर गोशे की तलाशी लेते हुए महसूस किया था और अपने होठों और हाथों को तुम्हारे बदन की अजनबी दुनिया में दौड़ते-मचलते देखा था और अपने हाथों और होठों और रानों में तुम्हारे उस पुरज़ोर पागल की मचायी हुई क़यामत को महसूस किया था और फिर अली अकबर के राग कौशी भैरवी के साथ-साथ तुम्हें अपने अन्दर नाचते हुए महसूस किया था और तुम्हारे नाख़ूनों और दाँतों को अपने जिस्म में जगह-जगह मुहर लगाते हुए देखा था और तुम्हारे पसीने की महक मुझे एक बार फिर मस्त कर गयी थी और साँसों के साँपों की आवाज़ से मेरे घुटने पिघलने लगे थे और मेरा सीना सख्त होता गया था और मेरी आँखों के सामने तुम्हारा वह जहाँदीदा सरदार आ खड़ा हुआ था और मेरे होठ उसके लिए हुमक उठे थे और मेरी रानों का वह खिला पुर होने के लिए पुकार उठा था और मेरे नाखूनों में से धुआँ और उस ख़ुफिया आँख में से शुआएँ फूट निकली थीं और मेरा अंग-अंग मिर्गी के किसी मरीज़ की तरह मुड़ने-तुड़ने लगा था और मुझे महसूस हुआ था कि अगर मैंने किसी तरह उस आग को बुझाया नहीं तो वह रात ख़ैर से नहीं गुज़र पाएगी और फिर मैं टैक्सी में बैठ माजिद के दरवाज़े पर जा उतरी थी लेकिन वह कमबख़्त भी उस रात घर पर नहीं था।

—अगर उस रोज़ इत्तफ़ाक़न मुझसे न मिल गये होते तो क्या करते?

—मालूम नहीं।

—कभी सोचा नहीं?

—वहाँ जाकर सोचूँगा।

—किसी और औरत की तलाश करते?

—कह नहीं सकता।

—आये क्यों थे?

—पहले कई बार पूछ चुकी हो।

—इसीलिए तो फिर पूछ रही हूँ।

—नहीं जानता।

—मैं नहीं मानती। जब ख़ामोश बैठे हुए होते तो क्या सोचते हो?

—कुछ नहीं।

—बकवास!

—ठीक कहती हो।

—तुम्हें अपने से बाहर की दुनिया में इतनी कम दिलचस्पी क्यों है?

—नहीं जानता।
—यानी मेरा सवाल सही है?
—होगा।
—पीछा छुड़ा रहे हो?
—ठीक कहती हो।
—क्यों?
—क्योंकि बातें बेकार हैं।
—क्या बेकार नहीं?
—सब बेकार हैं।
—बकवास!
—ठीक कहती हो।
—तुम्हें अँधेरे और ख़ामोशी से घबराहट नहीं होती?
—होती है। लेकिन अब उतनी नहीं जितनी कि पहले जवानी में।
—यानी अब पहुँच गये हो?
—पहुँचा नहीं सिर्फ़ सख़्त हो गया हूँ। सख़्त यानी सुन्न।
—क्यों?
—क्योंकि बच्चे बने रहने के लिए शायद यह ज़रूरी था।
—कुहरे में लिपटा हुआ यह जवाब नाकाफ़ी है।
—ठीक कहती हो।
—यानी और कुछ नहीं बताओगे?
—नहीं।
—वहाँ भी इसी तरह रहते हो?
—इसी तरह?
—बन्द? अकेले? सुन्न?
—हाँ।
—कभी चीख़ उठने की नौबत नहीं आती?
—अब नहीं आती।
—जब आती थी तो क्या करते थे?
—चीख़ा करता था।
—कैसे? किसके साथ?
—तफ़सील नहीं देना चाहता।
—क्यों नहीं?
—बस नहीं।

—मुझे इस क़ाबिल नहीं समझते?

—बको मत।

—तुम सिर्फ़ सख़्त और सुन्न नहीं बल्कि ज़िद्दी भी बहुत हो गये हो। या शायद शुरू से ही ऐसे थे। या शायद यह एक पोज़ ही हो? दिलचस्प और पुरइसरार दिखाई देने के लिए? मुझ बेचारी पर रौब जमाने के लिए? बोलो!

—बको मत।

—तो क्या करूँ?

—बस साथ सटकर सो जाओ।

—तुम्हें नींद से डर नहीं लगता?

—क्या मतलब?

—तुम्हें सपनों से डर नहीं लगता?

—मुझे अब सपनों से ही डर लगता है।

—तो सोते क्यों हो?

—कहाँ सोता हूँ।

—मैं सोना नहीं चाहती।

—तो जागो।

—मैं बातें करना चाहती हूँ।

—क्यों?

—क्योंकि वक़्त बहुत कम रह गया है।

—और तुम उसे बेकार बातों में बरबाद करना चाहती हो?

—मैं चाहती हूँ कि तुमसे अलग होने से पहले तुम्हें कुछ और जान लूँ।

—उससे क्या होगा

—तुम्हारे जाने के बाद तुम्हारे बारे में सोच सकूँगी।

—उससे क्या होगा?

—तुम्हारा सिर!

—इसलिए तो कहता हूँ कि बातें बेकार हैं।

—और तुम भी!

—ठीक कहती हो।

—तुम्हें यहाँ से लौटने का कोई ग़म नहीं?

—ग़म बेकार है।

—क्या बेकार नहीं?

—सबकुछ बेकार है।

—तो तुम यह फ़ैसला कैसे करते हो कि यह करोगे वह नहीं करोगे? यहाँ

जाओगे वहाँ नहीं जाओगे? वहाँ रहोगे यहाँ नहीं रहोगे? इससे मिलोगे उससे नहीं मिलोगे? यह कहोगे वह नहीं कहोगे?

—बस इतनी ही मिसालें काफ़ी हैं। मेरा जवाब है कि जो कुछ मैं करता हूँ ज़रूरी नहीं कि किसी साफ़ फ़ैसले के बाद ही करता हूँ। और साथ ही यह भी कि अगर मेरी हरकतें किन्हीं फ़ैसलों या चुनावों का ही नतीज़ा हैं तो भी मैं कहूँगा कि वे सब बेकार हैं।

—और तुम्हारे लिए सब बराबर हैं। एक-सी बेकार हैं?

—मेरे लिए न हों तो भी क्या फ़र्क़ पड़ता है, दरअसल तो हैं ही।

—तुम कैसे जानते हो?

—नहीं जानता लेकिन मानता हूँ, सब बेकार हैं।

—मैं नहीं मानती। यह बताओ दूसरों के बारे में सोचते हो कि नहीं?

—सोचता हूँ।

—उनसे मिलने की ख़्वाहिश होती है कि नहीं?

—होती है।

—उनसे मिलते हो कि नहीं?

—कभी-कभी।

—क्यों?

—क्योंकि अकेला रह पाना मुश्किल हो जाता है।

—क्यों?

—क्योंकि मैं मामूली हूँ।

—यानी तुम पीछा छुड़ा रहे हो?

—हाँ।

—लेकिन अगर सचमुच तुम्हें अकेला छोड़ दिया जाए और तुम्हारी सब बुनियादी और जिस्मानी ज़रूरतों को पूरा कर दिया जाए और ऐसा इन्तज़ाम कर दिया जाए कि किसी से कुछ कहने-सुनने का सवाल या मौक़ा या ज़रूरत ही न पैदा हो बल्कि किसी को देखने तक की नौबत न आए तो तुम क्या खुश हो जाओगे?

—खुशी की बात नहीं।

—अच्छा तो यह बताओ कि उस हालत में तुम क्या करोगे?

—कह नहीं सकता। वहाँ जाकर इसके बारे में सोचूँगा। हो सका तो तुम्हारे इस सवाल के जवाब में एक पूरी किताब लिखूँगा।

—जो कि बेकार होगी।

—वह तो होगी।

—मैं हैरान हूँ कि तुम उतनी उम्र तक ज़िन्दा कैसे रह सके हो?

—मैं भी।

—जब तुम अकेले होते हो तो भी इसी तरह सोचते हो?

—नहीं। यानी बिल्कुल इसी तरह नहीं।

—और तुम्हें कोई रंज या शिकायत या हसरत या ग़म नहीं?

—बको मत!

—यानी है?

—मुझे वे सब रंज हैं, वे सब शिकायतें हैं, वे सब हसरते हैं, जो एक मामूली इनसान को होती हैं।

—तो तुझमें और मुझमें फ़र्क़ क्या है?

—कोई फ़र्क़ नहीं।

—मैं नहीं मानती।

—तो बताओ।

—आख़िर तुमने मुझसे मुझे पूछा तो!

—ग़लती हो गयी।

—फ़र्क़ यह है कि मैं हर बात रिश्ते ख़्वाहिश तलाश उमंग अफ़सोस को बेकार नहीं मानती और न ही मैं अपने या दूसरों के मामूलीपन को एक मर्ज़ मानती हूँ। मेरी दिलचस्पियों के कई दरजे हैं और मेरी उकताहटों के भी। इसी तरह मेरी ख़्वाहिशों और खुशियों और नाकामियों और तसल्लियों और तकल्लुफ़ों के भी दरजे हैं। यानी मैं सही मानों में मामूली हूँ। और मुझे इसका ग़म नहीं। समझे!

—समझ गया।

—और अब सोच रहे हो ऐसी मामूली औरत ने मुझे कैसे फाँस लिया!

—और यह भी कि इस मामूली औरत का मुँह कैसे बन्द किया जाए!

—और यह भी कि यह मामूली औरत मेरी ऊँचाई तक कभी नहीं पहुँचेगी!

—और यह भी कि इस मामूली औरत की मिट्टी में इतनी महक क्यों है?

—और यह भी कि इस मामूली औरत ने यहाँ मुझे और कुछ नहीं करने दिया।

—और यह भी कि इस औरत के मामूलीपन में इतनी कशिश क्यों है?

—और यह भी कि यह मामूली औरत अकेली क्यों रहती है?

—और यह भी कि इस मामूली औरत की उम्र क्या है?

—और यह भी कि यह मामूली औरत अपने मामूलीपन में इतनी मस्त क्यों है?

—और यह भी कि इस मामूली औरत ने मुझ मामूली मर्द में क्या देखा?

—और यह भी कि यह मामूली औरत मेरे बाद किस मर्द के पास जाएगी?

—और यह भी कि इस मामूली औरत को जवानी में क्यों नहीं जाना?

—और यह भी कि यह मामूली औरत इतनी मामूली क्यों है?

—और यह भी कि यह मामूली औरत इतनी उल्लू क्यों है?

—और यह भी कि इस मामूली औरत को यह उल्लू इतना क्यों पसन्द है?

—और यह भी कि इस मामूली औरत को देखते ही यह उल्लू इतना सीधा क्यों हो जाता है?

—और यह भी कि यहाँ से चले जाने के बाद इस उल्लू का क्या होगा?

—और यह भी कि वहाँ पहुँचकर मेरा क्या होगा?

—और यह भी कि इस मामूली औरत ने मुझसे कई ऐसी हरकतें करवा लीं जो बेकार और मामूली हैं।

—और यह भी कि इस मामूली औरत के बाद कोई और मामूली औरत मुझे कैसे पसन्द आएगी?

—और यह भी कि इस मामूली औरत के बाद मुझे कोई और मामूली औरत कब मिलेगी?

—और यह भी कि अगर यह यहाँ न मिली होती तो मैं क्या करता?

—यानी तुम मेरे बारे में सोचते हो?

—तान क्यों तोड़ दी?

—क्योंकि मामूली होती जा रही थी।

—ठीक कहती हो।

—और तुम फिर बेज़ार हो गये दिखाई देते हो।

—ठीक कहती हो।

—और शायद अपने किये-कहे पर पशेमान हो रहे हो।

—ठीक कहती हो।

—और शायद सोच रहे हो वह दिन दूर नहीं जब मैं इस मामूली औरत से दूर जा बैठूँगा।

—और शायद यह भी कि इस मामूली औरत को मुझे नंगा करने में क्यों इतना मज़ा आता है?

—और शायद यह भी कि इस मामूली औरत को मेरी असलियत मालूम नहीं।

—और शायद यह भी कि इस मामूली औरत को मेरी असलियत मालूम है।

—और शायद यह भी कि यह मामूली औरत सतह से नीचे उतरने से कतराती है।

—और शायद यह भी कि इस मामूली औरत को सतह से सन्तोष नहीं।

—और शायद यह भी कि इस मामूली औरत के लिए अपना कोई बन्द दरवाज़ा नहीं खोला।

—और शायद यह भी कि इस मामूली औरत को कुछ मालूम नहीं कि मैंने इसके लिए क्या-क्या खोला है।

—और शायद यह भी कि यह मामूली औरत इस झूठ से बहल जाएगी।

—और शायद यह भी कि इस मामूली औरत को किसी भी झूठ से बहलाना मुश्किल है।

—और शायद यह भी कि यह मामूली औरत असली सच की ताब नहीं ला सकेगी।

—और शायद यह भी कि यह मामूली औरत अब मुझे उकसा रही है।

—और शायद यह भी कि इस मामूली औरत ने मुझे उकता दिया है।

—और शायद यह भी कि इस मामूली औरत को मालूम नहीं कि इसने मुझे क्या-क्या दिया है?

—और शायद यह भी कि यह मामूली औरत इस क़ाबिल नहीं कि इसके लिए इस क़याम को कुछ और बढ़ाया जा सके।

—और शायद यह भी कि इस मामूली औरत को अपनी मामूली मज़बूरियाँ नहीं बताऊँगा।

—और शायद यह भी कि यह मामूली औरत मुझे इस मामूली मुआश्क़े में उलझाने की पूरी लेकिन नाकाम कोशिश कर चुकी है।

—और शायद यह भी कि यह मामूली औरत अब बकवास कर रही है।

—और शायद यह भी कि यह सारा मामूली सिलसिला ही बकवास है।

—और शायद यह भी कि इस युगलबन्दी को अब यहीं ख़त्म कर देना चाहिए।

—क्योंकि फिर मामूली होती जा रही है।

—ठीक कहती हो।

—लेकिन पहले एक आख़िरी बयान देना चाहती हूँ।

—रहने दो।

—क्यों?

—तिलिस्म टूट जाएगा।

—रहने दिया।

माजिद को घर में न पाकर मैं वहीं से उसी वहशत के आलम में सीधी तुम्हारे होटल जा पहुँची थी और वहाँ लॉबी में खड़े कुछ कारिन्दों और मेहमानों ने मुझे यूँ घूरा

था जैसे मेरी पेशानी पर लिखा हुआ हो कि मैं अपने मर्द की तलाश में हूँ। और फिर वहाँ से बुझी-मुरझायी हुई मैं अपने घर को चल दी थी और यह ख़्याल बार-बार मुझे खौला जाता रहा था कि तुम्हारे जिस्म के इंच-इंच और बाल-बाल से खेल चुकने के बाद आख़िर क्यों यह आख़िरी रात मुझे तुमसे अलग रहकर इस तरह जलते-तड़पते गुज़ारनी पड़ रही है। और जी चाहता था कि लौटकर तुम्हारे कमरे के बाहर बरामदे में धरना देकर बैठ जाऊँ और रात भर तुम्हारे इन्तज़ार में बीत जाए और जब तुम गये-बीते-से लौटो तो मैं तुम्हें दीवार से पीठ लगाये बैठी झूलती हुई दिखाई दूँ और तुम अपनी अलहदगी और ऊँचाई भूलकर वहीं मेरे पास बैठकर किसी मामूली मर्द की तरह मुझे मनाओ मुझसे मुआफ़ियाँ माँगो और अपनी ग़लती का एतराफ़ करो और मैं किसी मुँहसूजी मामूली औरत की तरह बार-बार बुदबुदाऊँ मुझे मत बुलाओ। और फिर अपनी इस ख़्वाहिश पर ख़िफ़्फ़त महसूस होने लगी थी क्योंकि मैं मामूली तो हूँ लेकिन उस रात से पहले कभी किसी के लिए मैं इस क़दर बेहाल और बेवक़ूफ़ नहीं हुई थी। अपनी उठती जवानी में भी नहीं। और इस एहसास ने मुझे कुछ कड़ा कर दिया था और मेरे कदम कुछ सँभल गये थे और घर पहुँचते ही मैंने कपड़े बदल लिये थे और सिगरेट सुलगाकर बिस्तर पर जा पड़ी थी। और सिगरेट के पहले चन्द कशों के बाद ही मेरे जिस्म ने फिर तुम्हारे लिए झुरझुराना शुरू कर दिया था और दूसरे दिन तुम्हारी वहाँ से रवानगी किसी मौत की तरह सामने आ तनी थी।

□

दर्द ला दवा

(ये उपन्यास-अंश निरन्तरता में नहीं हैं। सम्पादकीय अभिरुचि के अनुसार इनका चयन किया गया है।)

मान लूँ कि मेरे अलावा और यहाँ हैं लेकिन यह नहीं मानूँगा कि वे सब मेरी ही तरह कुबड़े हैं। मान लूँ कि वे सब मेरी ही तरह कुबड़े हैं लेकिन यह नहीं मानूँगा कि उन्हें भी वही सब दर्द हैं जो मुझे हैं। मान लूँ कि उन्हें भी वही सब दर्द हैं जो मुझे हैं लेकिन यह ज़रूरी नहीं कि वे भी मेरी ही तरह अनवरत कराहते हैं। मान लूँ कि...लेकिन यह नहीं मानूँगा कि वे सब इसी सड़क के किनारे खड़े हैं। मान लूँ कि...लेकिन यह नहीं मानूँगा कि वे सब भी मेरी तरह लगातार सीधे सामने देखते रहते हैं। मान लूँ कि...लेकिन यह नहीं मानूँगा कि उन्हें भी सामने सबकुछ नहीं नज़र आता है। मान लूँ...कि लेकिन यह नहीं मानूँगा कि वे सब भी मेरी ही तरह यही सोचते रहते हैं कि उनके अलावा इस इलाक़े में और कोई है या नहीं। मान लूँ कि...लेकिन यह कैसे मानूँ कि जो कुछ मान ले रहा हूँ वह ठीक है या ग़लत या ज़रूरी है। मान लूँ कि ठीक या ग़लत या ज़रूरी कुछ भी नहीं है लेकिन यह कैसे मानूँ कि कुछ-भी-नहीं ज़रूरी या ग़लत या ठीक है। मान लूँ कि कुछ भी मान लेने से मन मरता नहीं लेकिन यह कैसे मानूँ कि मन है। मान लूँ कि मन और मांस दोनों हैं लेकिन यह कैसे मानूँ कि मैं हूँ। मान लूँ कि मैं हूँ लेकिन यह कैसे मालूम हो कि मैं क्यों हूँ? अब मैं हद से आगे की ओर उमड़ रहा हूँ। हद की हुकूमत का अन्त अभी नहीं हुआ। कभी नहीं होगा। मेरे लिए। अगर मैं हूँ अगर हद है। मान लूँ कि मैं हूँ और इस इलाक़े में अकेला हूँ तो यह सड़क क्यों है? अगर यह सड़क है तो ज़रूर कोई तो शायद कभी न कभी इस पर से गुज़रे होंगे। शायद अब भी गुजरते हों गुज़र रहे हों। अगर यह सड़क है तो शायद इसके किनारे-किनारे क़द्दावर और घने पेड़ हों तो शायद उनमें से किसी एक का साया मेरे सिर पर हो। अगर मेरे सिर पर किसी पेड़ का साया होता तो कभी न कभी मेरी कराहों

में परिन्दों की चहचाहट आ टपकती। हो सकता है परिन्दे न हों। हो सकता है मेरा पेड़ गंजा हो। परिन्दे होते तो कभी न कभी उनमें से कुछ एक मेरे कोहान पर आ बैठते। हो सकता है बैठते हों और मुझे महसूस न होता हो क्योंकि मेरा कोहान महसूस होता है मानो लोहे या लकड़ी का बना हुआ हो। हो सकता है परिन्दे हों और मेरी ही लय में कराहते हों जिससे यह पता न चलता हो कि वे चहचहा रहे हैं या मैं चीख़ रहा हूँ। मैं चीख़ता नहीं। अगर और हैं तो परिन्दे भी होंगे। अनिवार्य नहीं। हो सकता है परिन्दे हों और पंखहीन हों। और शब्दहीन भी। अपनी-अपनी टहनियों पर शून्य सरीखे समाये हुए। खुली आँखों से एक-दूसरे को और मुझे दुलारते और दुत्कारते हुए। मेरी लय के साथ-साथ हिलते हुए। मेरे दर्द से दुखी। परिन्दे होते तो मेरी पीठ वग़ैरह पर उनकी बीटों की मोटी परत जम चुकी होती। शायद जम चुकी हो। लेकिन ये परिन्दे अचानक मेरे पीछे क्यों आ पड़े, कहाँ से आ पड़े! परिन्दों से कोई ख़ास प्यार या बैर कभी नहीं रहा। यानी जब तक उस आम आँसुओं की दुनिया में था वहाँ मेरा वास्ता ऊँचे आकाश को चीरती हुई अदृश्य चीलों और मवेशियों की लाशों को उधेड़ते हुए भारी गिद्धों और बेख़बर बच्चों के हाथों से बासी रोटी छीनते हुए कौओं और सुबह के सूनेपन को चुनती हुई चिड़ियों से ही रहा। दूर का। एक बार किसी पिंजरे में एक तोता नज़र आया था। वही कभी-कभी अब भी याद में इतना हरा हो आता है कि उसकी असलियत पर शक होने लगता है। बुलबुलों और अबाबीलों और राजहंसों का सिर्फ़ नाम ही कभी-कभी सुनाई देता था। और मोर या मोरनी की मारू पुकार कभी-कभी सारा अन्दर वीरान कर जाती थी। एक बार एक मोर के पंखों की झंकार सुनी थी और जिस्म सजग हो गया था। यह मैं अचानक क्यों परिन्दों के पीछे हो लिया हूँ? परिन्दे होते तो भी मेरे असली सवालों के सिर नीचे न होते। परिन्दों और सवालों को गोली मार मुझे अपने दर्द में ही मस्त रहना चाहिए। अकसर रहता हूँ। उसी को उकेरता हूँ। उसी के बारे में सोचता हूँ। कोशिश करता हूँ कि सोचूँ नहीं सिर्फ़ सहूँ और कराहूँ। आँखें बन्द करके। दर्द की शिद्दत से दबकर नहीं बल्कि उसे आख़िर तक महसूस करने के लिए। आँखें खुली रहती हैं और सामने का वह सबकुछ कहीं शिद्दत के अहसास को काटता रहता है। कई बार आँखों के आगे सियाही के परिन्दे उड़ने लगते हैं मानो सामने का सबकुछ नहीं साकार हो रहा हो लेकिन कुछ देर तक अपने सुस्त करतब दिखाकर वे परिन्दे फिर मेरी आँखों में ही समा जाते हैं। मानो वापस अपने आशियानों में आ छिपे हों।

अगर कभी कान सिर कमर नाक रान या किसी और अंग या सूराख़ में अचानक ख़ारिश चौंक उठे तो शायद कुछ देर के लिए कराहना छोड़कर उस ख़ारिश का मज़ा लेने लगूँ या उसे मिटाने की कोशिश का कष्ट। उस ख़ारिश को दर्द का

दरज़ा नहीं दे सकूँगा। दर्द असली वही जो अन्तहीन और आध्यात्मिक होने की धमकी दे। दरअसल भले ही न हो। अन्तहीन कोई अनुभव नहीं होता। आध्यात्मिक सब होते हैं। याद आता है कि पहले भी कई बार इन्हीं लक़ीरों को पीट चुका हूँ। जिस ख़ारिश की ख़्वाहिश है वह शायद हो ही रही हो। जो महसूस न हो जो दिखाई न दे उसका होना न होना एक बराबर। ख़ारिश हो रही होती तो हाथ उठाना ज़रूरी हो जाता। हो सकता है हाथ ही न हों। टाँगों के साथ क्या सटा हुआ है? हाथों का एहसास। टाँगों की जगह पर टाँगों का एहसास भी तो हो सकता है? इसी तरह दर्द की जगह पर दर्द का एहसास। इसी तरह कराहने की जगह पर कराहने का एहसास। इसी तरह दूसरों की जगह पर दूसरों का एहसास। इसी तरह सब-कुछ-नहीं की जगह पर सब-कुछ-नहीं का एहसास। इसी तरह कोहान की जगह पर कोहान का एहसास। किसी भी ख़ारिश या ख़लिश से मेरे इस अज़ाब का अन्त नहीं होगा। हो सकता है यह अज़ाब न हो सिर्फ़ अज़ाब का एहसास हो लेकिन एहसास भी हवा में नहीं उगते, उनके लिए भी यादों और अनुभवों और यादों और अनुभवों की यादों की ज़मीन की ज़रूरत है। वरना मैं दूसरों के बारे में, दर्द के बारे में, अपने कोहान के बारे में, उस आम आँसुओं की दुनिया के बारे में, सामने के सब-कुछ-नहीं के बारे में, ख़ारिश के बारे में, अपने अस्तित्व की सम्भावनाओं के बारे में बार-बार सोच न सकता, सवाल न उठा सकता। सोचने के लिए दिमाग़ के अलावा दिवंगत समय ज़रूरी है समय की सीमाएँ ज़रूरी हैं सीमाएँ ज़रूरी हैं सोचने के लिए सहना ज़रूरी है। सहने के लिए होना। तो मैं हूँ तो मुझे होने का एहसास है जो मेरे होने जो मेरे हुए रहने के लिए ज़रूरी है। लेकिन मेरा होना या हुआ रहना अपने में शायद ज़रूरी नहीं। इस शायद के लिए मेरे पास कोई शैया नहीं।

शायद अब मुझे इस बयाबान सड़क का सहारा भी छोड़ देना चाहिए और अपने इस अड्डे से अलग इधर-उधर की दूसरी बयाबान या आबाद सड़कों पर पाँव रख देखना चाहिए कि तलवे मितलाते हैं या नहीं। शायद मेरी लड़खड़ाहट का एक कारण यह भी हो कि इस सड़क का सहारा अस्थिर हो रहा है। लेकिन यहाँ से हिलने के ख़्याल के पीछे ज़रूर दूसरों के अस्तित्व की सम्भावना सुलग रही है। मैं चाहता हूँ कि किसी ऐसे मुक़ाम को पा लूँ जहाँ से मैं दूसरों को साफ़-साफ़ नज़र आऊँ दूसरे मुझे नज़र आएँ या न। अगर मैं सचमुच यही चाहता हूँ तो मुझे यह भी स्वीकार कर लेना होगा कि दूसरे हैं कि मैं हूँ। मैं कुछ भी स्वीकार करने की स्थिति में नहीं। होता तो यह हालत न होती। होता तो भी शायद यही हालत होती। यह हालत नहीं। यह जो भी है न होती। होती। अगर इसी हाँ और नहीं में नहाना है तो यहीं खड़े रहकर क्यों? तो खड़े रहकर क्यों? तो खड़े रहकर क्यों नहीं? अगर अभी तक हाँ और नहीं में से किसी एक का चुनाव नहीं कर सका तो सड़क बदलने

का हौसला कैसे होगा? नहीं होगा। न हो। सड़क बदलना बेकार है। इस सड़क के अलावा शायद अब और कोई सड़क न रही हो मेरे लिए न रही हो। अगर खड़े ही रहना है तो सड़क पर क्यों? तो सड़क पर क्यों नहीं। किसी मैदान या रेगिस्तान या जंगल में क्यों नहीं? कोई जवाब नहीं। काश कि कोई जवाब न होता। काश कि एक भी सवाल अब तक ऐसा उठा होता जिसका कोई जवाब न होता। मैदान या रेगिस्तान या जंगल में इसलिए नहीं क्योंकि मैं कहीं भी खड़ा होता मुझे यही गुमान रहता कि मैं किसी सड़क के सहारे खड़ा हूँ। गुम न होने के लिए यह गुमान ज़रूरी है। और इसका क्या सबूत है कि दरअसल यह सड़क है कि दरअसल यह मैदान या रेगिस्तान या जंगल नहीं? सड़क का इस्तेमाल सिर्फ़ सहूलियत के लिए। अगर सहूलियत का सहारा नहीं छोड़ा तो सड़क का कैसे छोड़ दूँ? मैं कुछ भी नहीं छोड़ सकता। मैं वही छोड़ सकता हूँ जो मुझसे अपने आप छूट जाए। अपने आप वही छूटता है जिसे मैं नहीं छोड़ना चाहता। यह ठीक नहीं। इसकी ठुंकार ठीक नहीं। अब इस इन्तहा पर आकर ठुंकार की चिन्ता नहीं होनी चाहिए। ठुंकार की चिन्ता ही होनी चाहिए। अगर वह ठीक होगी तो शायद आंशिक शान्ति ही मिल जाए। शायद में शान्ति नहीं। शान्ति नहीं। शायद है। शब्द शाश्वत हो न हो, है। शान्ति शाश्वत भले ही हो, नहीं है। अगर इस बयाबान में आकर भी मैं अभय नहीं हुआ, मैं नहीं हुआ तो और कहीं रुके रहने पर मेरा क्या होता तो और कहीं जा रुकने पर मेरा क्या होगा! बहरहाल यहाँ से हिलने के ख़्याल के साथ ही कई और ख़्यालों की ख़ाक उड़ने लगती है। अगर एक बार यहाँ से भी हिल गया तो वापस इस जगह पर न लौट सकूँगा, न किसी और जगह पर जम सकूँगा। इस जगह पर वापस लौटना या किसी और जगह जमना ज़रूरी नहीं। जानता हूँ। काश कि न जानता होता। तब अपने आपको यहीं स्थिर रखने के लिए सोच सकता था कि इस मुद्रा तक आने में इतनी मुद्दत और मुसीबतों में से गुज़रना पड़ा है और अब अगर इसे भी छोड़ दिया या यह भी छूट गयी तो क्या होगा! और जवाब आता कुछ नहीं। कुछ ख़ास नहीं। कुछ ऐसा नहीं जिसके होने या न होने से हाँ और न से निजात मिल गयी होती। इस उजाड़ में आ रुकने से पहले की गर्दिशों की गर्द पहले के उजाड़ों की अजनबियत कभी-कभी याद आती है लेकिन इस तेज़ी से नहीं कि मेरी लय उखड़ या टूट या बदल जाए। अगर पीछे की यादों में इतना दम नहीं कि मेरे दर्द की शिद्दत में कोई कमीबेशी कर सके तो आगे की उम्मीदों में भी मेरे लिए कोई आग नहीं होगी। मैं याद और उम्मीद के बग़ैर कराह सकता हूँ कराह रहा हूँ। इसलिए भी इस मुक़ाम से उखड़ना मूर्खता होगी। मूर्खता से मुक्ति का भ्रम मुझे नहीं मुक्ति का भ्रम मुझे नहीं। काश कि होता। कोई भी भ्रम। कोई एक भ्रम सिर्फ़ एक भ्रम। यह काश शायद की जगह लेता जा रहा है। यह हस्तक्षेप है नहीं होने

दूँगा, होने दूँगा, होता रहे। शायद और काश की लड़ाई भी मेरी लय को नहीं बदल सकती। शायद नहीं बदल सकती। काश कि न बदल सकती। काश कि बदल सकती। याद दर्द की दवा नहीं। उम्मीद दर्द की दवा नहीं। दर्द की दवा नहीं। दवा नहीं इसीलिए लय है अगर है तो। लय के लिए दर्द ज़रूरी है। दर्द के लिए याद ज़रूरी नहीं। जो दर्द मुझे है उनके लिए कुछ भी ज़रूरी नहीं। तो क्या वे अकारण हैं? अकारण कुछ नहीं होता। अकारण सिर्फ़ सबकुछ होता है। तर्क के नरक से निजात नहीं। नरक से निजात नहीं। निजात नहीं।

वैसे हो सकता है अब यहाँ से हिलना असम्भव हो गया हो, हिलने के सारे बहाने बीत चुके हों, पाँव पत्थर हो चुके हों, जड़ें पकड़ चुके हों, जड़ों में बदल गये हों, झड़ चुके हों। हो सकता है पाँव किसी ऐसी गहरी क़ब्र में दफ़न हो चुके हों कि काफ़ी बचा वक़्त उन्हें उखाड़ने में ही बरबाद हो जाए। हो सकता है बाक़ी बचा वक़्त इसी बयाबान का ही हो, कहीं और जाने, कुछ और करने के लिए नाकाफ़ी हो। कहीं और जाना नहीं चाहता, कुछ और करना नहीं चाहता लेकिन लाज़िम नहीं कि कहीं और जाऊँगा नहीं, कुछ और करूँगा नहीं। हो सकता है यहाँ से हिलते ही दर्द नाकाबिलेबरदाश्त हो उठे। नाकाबिलेबरदाश्त कुछ भी नहीं कुछ-भी-नहीं ही नाकाबिलेबरदाश्त है। लेकिन अगर यह सही है तो मेरी आँखें क्यों सामने के सब-कुछ-नहीं में ही खुभी रहती हैं? क्योंकि और कोई चारा नहीं क्योंकि चारों तरफ़ कुछ नहीं के सिवाय कुछ भी नहीं? लेकिन अगर यह सही है तो मैं इधर-उधर क्यों नहीं देखता? अगर इस सवाल का सामना जमकर करूँ तो शायद हासिल यह हो कि मेरी आँखें तो हैं गरदन नहीं या गरदन तो है लेकिन घुमाई नहीं जा सकती। हो सकता है दर्द से आगाह रहकर कराहने की ताक़त के अलावा बाक़ी सब ताक़तें ख़त्म हो गयी हों या छिन गयी हों या गहरी नींद सो रही हों या सुला दी गयी हों। लेकिन यह ठीक नहीं क्योंकि सोचने की ताक़त अभी तक है अगर इसे सोचना कहा जा सके तो, अगर इसे ताक़त कहा जा सके तो। हो सकता है इस हू के आलम में और सब ताक़तें अप्रासंगिक हो जाती हों लेकिन इससे पहले के आलम भी क्या इसी तरह के नहीं थे, इसी तरह के थे? यह मुक़ाबला बेमानी है। मैं इससे पहले के आलमों को वापस नहीं बुलाना चाहता। मुझे अन्देशा है कि वे मेरा आदेश नहीं मानेंगे। शायद इसीलिए शून्य हो। लेकिन मैं महाशून्य की प्रतीक्षा में हूँ। मैं किसी की प्रतीक्षा में नहीं, काश कि मैं प्रतीक्षा से परे पहुँच चुका होता। हो सकता है वास्तव में मुझे कोई प्रतीक्षा न हो लेकिन वह अगर न होती तो कोई दर्द न होता तो कोई कराह न होती तो कोई शब्द न होता तो कोई तिक्तता न होती। हो सकता है कोई दर्द न हो कोई कराह न हो कोई शब्द न हो कोई तिक्तता न हो। हो सकता है लेकिन अभी ऐसा हुआ नहीं। हो चुका होता तो चैन आ गया होता।

मैं आख़िर तक इसी चक्कर में कटूँगा। मैं शुरू से इसी चक्कर में कट रहा हूँ शुरू और आख़िर का रिश्ता अभी नहीं टूटा। कोई रिश्ता अभी नहीं टूटा। जब तक ये दर्द हैं, यह दुनिया है। जब तक यह दुनिया है, ये दर्द हैं। इस दुनिया में और उस आम आँसुओं की दुनिया में कोई ख़ास फ़र्क़ नहीं, इस सोच से मेरी मुसीबत मरती नहीं। अभी वह स्थिति नहीं आयी कि इस दुनिया से इन दर्दों से दिक़्क हो फिर उस दुनिया की तरफ़ दौड़ने लगूँ। दौड़ने की उमंग की उम्र अब नहीं। होती भी तो भी मैं वापस उस आम आँसुओं की दुनिया की तरफ़ दौड़ने की बजाय सामने के सब-कुछ-नहीं में ही समा जाना चाहता क्योंकि वह ज़्यादा अनुकूल नज़र आता है। पीछे का सब कुछ पराया हो गया है। आसपास जो है अगर है तो अदृश्य है। आगे के सबकुछ नहीं की आराधना में आराम हो न हो विराम की सम्भावना शायद हो। अगर आराम से विरक्त हो चुका हूँ तो विराम से क्यों नहीं?

मैं नहीं जानता मैं क्या खाता हूँ क्या पीता हूँ खाता हूँ या नहीं पीता हूँ या नहीं किस वक़्त खाता हूँ अगर खाता हूँ तो किस वक़्त पीता हूँ अगर पीता हूँ तो मैं नहीं जानता मैं सोता हूँ या नहीं किस वक़्त सोता हूँ अगर सोता हूँ तो कहाँ सोता हूँ अगर सोता हूँ तो मैं नहीं जानता कि मेरा मल-मूत अगर मेरा मल-मूत है तो कौन सँभालता है अगर कोई सँभालता है तो अगर कोई नहीं सँभालता तो मेरा मल-मूत कहाँ है अगर है तो कहाँ उड़ जाता है अगर उड़ जाता है तो मैं नहीं जानता कि मेरे कपड़े कौन बदलता है अगर बदलता है तो मैं नहीं जानता कि मैं नंगा क्यों हूँ अगर नंगा हूँ तो। मैं नहीं जानता कि मैं क्या-क्या नहीं जानता।

मैं एक इन्तहा पर आ पहुँचा हूँ। मैं अब एक इन्तहा पर आ पहुँचा हूँ। मैं इन्तहा पर आ पहुँचा हूँ। मैं आ पहुँचा हूँ। मैं आख़िर उस इन्तहा पर आ पहुँचा जहाँ से पीछे का सबकुछ और सब-कुछ-नहीं पराया नज़र आता है। इतना पराया नज़र आता है कि महसूस हो मिथ्या है। मैं आख़िर उस इन्तहा पर आ पहुँचा हूँ जहाँ से पीछे और आगे का सबकुछ और सब-कुछ-नहीं इतना पराया महसूस होता है कि नज़र आये मिथ्या है। आख़िर उस इन्तहा पर आ पहुँचा हूँ जहाँ कुछ महसूस नहीं होता जहाँ कुछ नज़र नहीं आता जहाँ जो महसूस होता है न होने के बराबर जहाँ जो नज़र आता है न होने के बराबर जहाँ जो महसूस होता है नज़र नहीं आता जहाँ जो नज़र आता है महसूस नहीं होता। मैं एक इन्तहा पर आ पहुँचा हूँ। मैं आख़िर उस इन्तहा पर आ पहुँचा हूँ जहाँ से सिर्फ़ अन्त का इन्तज़ार किया जा सकता है जहाँ पहुँच जाने पर अन्त का इन्तज़ार ज़रूरी नहीं रहता, कोई इन्तज़ार ज़रूरी नहीं रहता इन्तज़ार

ज़रूरी नहीं रहता कुछ ज़रूरी नहीं रहता कुछ नहीं ज़रूरी नहीं रहता जहाँ पहुँच जाने पर जो पहले ज़रूरी हुआ करता था ज़हर नज़र आता है जहाँ पहुँच जाने पर कुछ नज़र नहीं आता। मैं अब उस इन्तहा पर आ पहुँचा हूँ जिसके बाद कोई इन्तहा नज़र नहीं आती जिसके बाद की इन्तहा नज़र नहीं आती जिसके बाद कुछ नज़र नहीं आता कुछ महसूस नहीं होता कुछ ज़रूरी नहीं रहता कुछ ग़ैरज़रूरी नहीं रहता। मैं अब उस आख़िरी इन्तहा पर आ पहुँचा हूँ जो आख़िरी हो या न हो आख़िरी नज़र आती है, जो नज़र नहीं आती जो महसूस होती है जो महसूस नहीं होती। मैं आख़िर उस इन्तहा पर आ पहुँचा हूँ जिसके बाद का अन्त साफ़ नज़र आता है। इतना साफ़ नज़र आता है कि नज़र नहीं आता। मैं आख़िर उस इन्तहा पर आ पहुँचा हूँ जिसके बाद मुझे मौन हो जाना चाहिए जिसके बाद मैं मौन हुए बग़ैर नहीं रह सकता जिसके बाद मैं नहीं रह सकता जिसके बाद का मौन मुझे मंजूर होना चाहिए जिसके बाद मेरी मंजूरी मिथ्या है जिसके बाद मैं और मुझ की बात बेहूदा है जिसके बाद बात बेहूदा है जिसके बाद का मौन बेहूदा है जिसके बाद मौन बेहूदा है। मैं उस इन्तहा पर आ पहुँचा हूँ जिसके बाद देखने-सोचने-देखने बोलने बहने गाने-कराहने की मोहलत मर जाती है जिसके बाद की अमरता औरों के लिए हो तो हो ख़ुद उसके लिए नहीं होती जो उस इन्तहा से उधर जा पहुँचा हो जिसके बाद अमर सिर्फ़ मुहावरे में या किसी वहम या विश्वास के कन्धे पर सवार होकर ही हुआ जा सकता है। मैं उस इन्तहा पर आ पहुँचा हूँ जहाँ दर्द की दर्द ला दवा की कमन्द नहीं पहुँचती जहाँ पहुँच जाने पर सब जंजाल झड़ जाते हैं क्योंकि जिस्म जड़ हो जाता है। अगर मैं उस इन्तहा पर आ पहुँचा हूँ तो सवाल यह है तो कोई सवाल नहीं होना चाहिए लेकिन कई सवाल हैं और सब एक साथ उठ रहे हैं जैसे जानते हों कि मैं उस इन्तहा पर हूँ जिसके बाद उनका सामना करने का समय उन्हें बिठाने की कोशिश करने का समय नहीं रहता न होने के बराबर रह जाता है जिसके बाद समय का हिसाब बेमानी है जिसके बाद सबकुछ बेमानी है जिसके बाद पहले का सबकुछ बेमानी नज़र आता है जिसके बाद कुछ नज़र नहीं आता। मैं उस इन्तहा पर आ पहुँचा हूँ मैं किसी इन्तहा पर नहीं पहुँचा मैं कहीं नहीं पहुँचा मैं सिर्फ़ समाप्त हो रहा हूँ मैं समाप्त हो रहा हूँ मैं इन्तहा पर नहीं अन्त पर हूँ अन्त पर नहीं उसके आसपास उड़ रहा हूँ क्योंकि अगर ऐन अन्त पर होता तो कोई आवाज़ न होती तो यह आलाप न होता। मैं समाप्त हो रहा हूँ अभी हुआ नहीं वरना हो न रहा होता। समाप्ति के बाद की सियाही की तसवीर असम्भव है लेकिन ज़रूरी नहीं कि समाप्ति के बाद सिर्फ़ सियाही ही हो क्योंकि करोड़ों कीड़े इस उम्मीद पर मरते हैं कि समाप्ति के बाद बेहदोहिसाब उजाला होगा या इस पर कि समाप्ति के बाद वे फिर खाल बदलकर चीख़ते-चिल्लाते किसी न किसी जानवर की सूरत और सीमाएँ

लिये फिर यहीं कहीं लौट आएँगे और वही सारे जंजाल फिर भोगने लगेंगे। मुझे ऐसी किसी उम्मीद का सहारा नहीं मुझे किसी उम्मीद का सहारा नहीं मुझे कोई सहारा नहीं मैं सिर्फ़ समाप्त हो रहा हूँ मुझे यह यक़ीन भी नहीं कि यह समाप्ति अन्तिम है या नहीं कि यह समाप्ति सही है या नहीं कि यह समाप्ति है कि इसके साथ ही मेरा सबकुछ मेरा सब-कुछ-नहीं समाप्त हो जाएगा, मुझे कोई यक़ीन नहीं, मुझे यक़ीन हो न हो मैं समाप्त हो रहा हूँ मुझे कोई उम्मीद हो न हो मैं समाप्त हो रहा हूँ। अगर मुझे उम्मीद नहीं यक़ीन नहीं तो यह दावा क्यों कि मैं समाप्त हो रहा हूँ कि मैं उस इन्तहा पर आ पहुँचा हूँ कि मैं किसी इन्तहा पर आ पहुँचा हूँ लेकिन यह दावा नहीं यह सिर्फ़ सम्भावना है लेकिन अगर यह सिर्फ़ सम्भावना है तो अभी तक का सारा आलाप क्या बेसार और बेसुरा नहीं हो जाता? मैं नहीं जानता न ही जानना चाहता हूँ, मैं अपनी समाप्ति की सम्भावना को इधर-उधर उड़ने नहीं देना चाहता मैं सिर्फ़ उसका जाप किये जाना चाहता हूँ जब तक समाप्त नहीं हो जाता। अगर मुझे कोई यक़ीन नहीं तो यह जाप क्यों तो यह आलाप क्यों? मैं इस आलाप को इस जाप को कोई जंजीर नहीं पहनाना चाहता लेकिन कई पुरानी पहचानी जंजीरें इसकी तरफ़ उड़ी आ रही हैं जिनकी झंकार में वे सब शोर शामिल हैं जिनसे मैं बराबर भागता आया हूँ जिन्हें मैंने साफ़ कर संगीत में बदलना चाहा है जिनसे जान छुड़ाकर या जिन्हें अपनी जान देकर मैंने इस आलम में आ पनाह ली थी। अब उन जंजीरों में वह पुरानी मज़बूती नहीं होगी अब उस झंकार में वह गन्दी गूँज नहीं होगी क्योंकि मैं समाप्त हो रहा हूँ अगर मैं समाप्त हो रहा हूँ तो। अगर मैं समाप्त हो रहा हूँ तो समाप्त होने से पहले से फ़ौरन पहले तो कम-अज़-कम मुझे इन सारे जालों को इन तमाम मिनिलियों को सारे कीचड़ को पश्चात्तापों के इन पहाड़ों को इस सारी राख को सोच की काली सुरंगों को लज़्ज़तों और हसरतों की सारी दलदल को यहीं झटक देना चाहिए। अगर मैं समाप्त हो रहा हूँ तो मेरे चाहने न चाहने से कोई फ़र्क़ नहीं पड़ेगा तो यह सबकुछ अपने आप छूट जाएगा। मैं चाहता हूँ कि साफ़-साफ़ सोच सकूँ कि इस सम्भावित समाप्ति का इस क्षण मुझ पर क्या असर हो रहा है हालाँकि यह ख़्वाहिश ग़ैरज़रूरी है इस बात का सबूत है कि मैं अभी उस इन्तहा से इधर हूँ जिस तक किसी भी ख़्वाहिश की ख़ाक नहीं पहुँचती जहाँ सब सोचें सुन्न हो जाती हैं लेकिन इस बात को सबूत की ज़रूरत नहीं। अगर मैं समाप्त हो रहा हूँ तो मेरी नज़र आगे होनी चाहिए तो मेरी नज़र कहीं नहीं होनी चाहिए तो मेरी नज़र नहीं होनी चाहिए। अगर मैं शुरू से ही समाप्त हो रहा हूँ और मुझे मालूम है कि मैं शुरू से ही समाप्त हो रहा हूँ इस अगर की यहाँ कोई गुँजाइश नहीं क्योंकि मैं शुरू से या करीब-करीब शुरू से ही जानता आया हूँ कि मैं शुरू से ही समाप्त हो रहा हूँ। अगर मुझे मालूम था कि समाप्ति ही मेरी नियति थी तो

मैं बेहिसाब होकर क्यों न बीत सका तो मैं इस सूनी सड़क के सहारे कुबड़ा खड़ा क्यों तड़पता रहा क्यों तड़प रहा हूँ तो मैंने आत्महत्या क्यों न कर ली तो मैं आत्महत्या क्यों नहीं कर लेता? अब इन आख़िरी क्षणों में मैं कुछ नहीं कर सकता मुझे कुछ नहीं करना चाहिए हालाँकि कोई सबूत नहीं कि ये क्षण आख़िरी हैं कि ये क्षण हैं। और मैं समझ बैठा था कि मैं उस इन्तहा पर आ पहुँचा हूँ जहाँ सब पश्चात्तापों का अन्त हो जाता है! मुझे यह ग़म नहीं कि मैं समाप्त हो रहा हूँ मुझे कोई ग़म नहीं काश कि मुझे कोई ग़म न होता मुझे यही ग़म है कि मेरा यह आख़िरी आलाप भी आलाइशों से पाक नहीं मुझे कोई यक़ीन नहीं कि यह आलाप आख़िरी है कि यह कभी भी आलाइशों से पाक हो सकेगा मुझे कोई यक़ीन नहीं कि यह आलाप है कि यह भी महज़ एक प्रलाप नहीं मुझे कोई यक़ीन नहीं। अगर मैं समाप्त हो रहा हूँ तो मुझे यक़ीन हो या न हो मैं समाप्त हो जाऊँगा अगर मैं समाप्त हो रहा हूँ तो मैं समाप्त हो जाऊँगा तो इतनी तिलमिलाहट क्यों? शायद मैं समाप्त नहीं होना चाहता शायद मुझे शक है कि मैं समाप्त हो नहीं रहा किया जा रहा हूँ कि मैं इस आलम से अलग नहीं होना चाहता कि समाप्ति के बाद भी एक आलम है कि वह भी इसी का-सा होगा कि वहाँ भी मुझे यही तमाम दर्द होंगे कि वहाँ भी मैं किसी सूनी सड़क के सहारे कुबड़ा खड़ा यही सोचता रहूँगा मैं हूँ या नहीं और हैं या नहीं मैं समाप्त हो रहा हूँ या नहीं मैं समाप्त होना चाहता हूँ या नहीं अगर मैं समाप्त हो रहा हूँ तो यह तिमिलाहट क्यों अगर मैं समाप्त नहीं हो रहा तो यह तिलमिलाहट क्यों। शायद मुझे कोई शक नहीं लेकिन मैं शक का दोशाला ओढ़े बग़ैर हक़ीक़त पर किसी भी हक़ीक्त पर इन्तहा पर किसी भी इन्तहा पर हुकूमत नहीं कर सकता। शायद मुझे यह शक भी है कि अभी तक का सारा सहा कराहा काफ़ी नहीं। अगर मैं किसी इन्तहा पर आ पहुँचा होता अगर यह आलाप आख़िरी होता तो मुझे इतने शक न होते लेकिन यह भी अकाट्य नहीं क्योंकि शायद शक से बाक़ी बचे समय को सहने में आसानी हो। अगर असान और मुश्किल का फ़र्क़ नहीं मिटा तो मैं वहीं हूँ जहाँ था तो मैं इन्तहा के आसपास नहीं तो मैं एक इंच आगे नहीं बढ़ा तो मेरी तपस्या अकारथ रही अगर इस तड़प को तपस्या का दरजा दिया जा सकता है तो। इस इलहाम को पहले उतरना चाहिए था यह इलहाम नहीं यह पहले उतर चुका है अगर यह पहले उतरा होता तो भी बीतने की बिपता से रिहाई न मिली होती। बीतना बिपता नहीं बीतना ही बुनियादी बिपता है बुनियादी बिपताओं से रिहाई नहीं कोई रिहाई नहीं। यह सोच फटी-पुरानी है सब सोचें फटी-पुरानी हैं। सोच से परे सोच के परों पर नहीं उड़ा जा सकता। शायद मुझे यही दर्द हो। यह नहीं यह भी।

इन आख़िरी क्षणों की खीझ को आलाप की लय देने की कोशिश बेकार है। इन आख़िरी क्षणों को भी उन्हीं सवालों उन्हीं शुबहों उन्हीं जवाबों उन्हीं शिकायतों

उन्हीं अन्दाज़ों की नज़र करूँगा जिनमें मैंने अब तक की ज़िन्दगी गुज़ारी है अगर वह ज़िन्दगी थी तो अगर उसे मैंने गुज़ारा था तो। कोई सबूत नहीं कि ये क्षण आख़िरी हैं कि ये गुज़र रहे हैं कि मैं इन्हें गुज़ार रहा हूँ कि ये गुज़र जाएँगे। इस मुक़ाम या इन्तहा पर सबूत की माँग नहीं उठनी चाहिए। कोई सबूत नहीं कि यह कोई नया मुक़ाम या नयी इन्तहा है। मैं फिर बिखर रहा हूँ। अगर सबूत की तलाश छूट गयी होती अगर तलाश की तमन्ना टूट गयी होती अगर तमन्ना टूट गयी होती तो यहाँ क्यों कुबड़ा खड़ा होता? अगर सबूत मुझे मिल गये होते या उनकी ज़रूरत के एहसास का अन्त हो गया होता तो यहाँ कुबड़ा क्यों खड़ा होता? कोई सबूत नहीं कि सबूत मुझे नहीं मिले कि सबूत की तलाश कि तलाश की तमन्ना कि तमन्ना नहीं छूटी। कोई सबूत नहीं। सबूत कोई नहीं। कोई सबूत नहीं कि कोई सबूत नहीं। अगर मैंने सिर्फ़ अपनी आँखों पर एतबार किया होता लेकिन कोई सबूत नहीं कि मैंने अपनी आँखों पर एतबार नहीं किया अगर मैंने अपने अस्तित्व पर अविश्वास न किया होता औरों के अस्तित्व को अपने लिए अप्रासंगिक मान लिया होता लेकिन कोई सबूत नहीं कि मैंने अपने अस्तित्व पर अविश्वास किया कि मैंने औरों के अस्तित्व को अपने लिए अप्रासंगिक नहीं माना अगर मैंने उस आम आँसुओं की दुनिया को न त्यागा होता अगर मैंने इस सूनी सड़क का सहारा न लिया होता लेकिन कोई सबूत नहीं कि मैंने उस आम आँसुओं की दुनिया को त्यागा था कि मैंने इस सूनी सड़क का सहारा लिया था। कोई सबूत नहीं। अगर कोई सबूत नहीं तो मैं क्यों किसी कुत्ते का मुँह बना बार-बार अपनी इस ख़ारिशज़दा खाल को ही खा-खुजला रहा हूँ लेकिन कोई सबूत नहीं कि मेरी खाल है कि वह ख़ारिशज़दा है कि मैं उसे ही खा-खुजला रहा हूँ कि वह मुझे नहीं खा-खुजला रही। अगर मान लूँ कि किसी भी मान्यता का कोई सबूत नहीं कि किसी भी सबूत में कोई सकून नहीं कि किसी भी सकून में कोई स्थायित्व नहीं अगर मान लूँ कि सब दर्द मिथ्या हैं कि इस आलम में आ जाने के बाद मैंने जो-जो जिरह की है पैंतरे बदले हैं सम्भावनाएँ सहलायी हैं वे सब बेहूदा हैं अगर मान लूँ कि शुरू से ही मैं एक भुरभुरी दीवार उभार रहा हूँ कि किसी भी ज़र्रे की किसी भी हरकत पर मेरा कोई इख़्तियार नहीं लेकिन यह गरदान पहले कर चुका हूँ कई बार कर चुका हूँ इस गरदान को दोहराने से कुछ हासिल नहीं होगा। **अगर** अशान्ति में इज़ाफ़ा ही कर सकता है उसी तरह जिस तरह **शायद** या **काश** या **लेकिन** या **हालाँकि**। सब शब्द अशान्ति में इज़ाफ़ा करते हैं लेकिन उनकी बढ़ाई हुई अशान्ति ग़लत क़िसम की दी हुई अशान्ति से कहीं बेहतर। फिर मुँह फाड़कर बोल रहा हूँ। शायद कोहान या उसके एहसास ने ही मुझे यह मुरशिदाना अन्दाज़ दे दिया हो या शायद मेरे इन अनगिनत दर्दों ने लेकिन कोई सबूत नहीं कि यह अन्दाज़ मुरशिदाना है कि ये दर्द

अनगिनत हैं कि मैंने इनसे कुछ भी हासिल किया है। लय की लड़खड़ाहट सँभाली नहीं जा रही। इसे अन्त की अलामत समझ बैठना शायद ही ठीक हो। मैं नहीं चाहता कि मेरा अन्त किसी अधूरी शान्ति पर हो। मेरे चीख़ने या चाहने का इस इन्तहा पर कोई मतलब नहीं रह जाना चाहिए नहीं रहा किसी इन्तहा पर कोई मतलब नहीं था मेरे चीखने या चाहने का कोई मतलब नहीं है कोई मतलब नहीं था। मैं उन्हीं ईमानलेवा उक्तियों को फिर उगल रहा हूँ जिनसे सोचा था रिहाई मिल चुकी है जिनमें कोई रस नहीं जो गूँगी राल की तरह बेज़ायका हैं। अगर मैं इन आख़िरी क्षणों में अगर ये क्षण आख़िरी हैं तो अगर ये क्षण आख़िरी नहीं भी तो उस मरे हुए ईश्वर की ही याद का ही जाप कर सकूँ तो शायद मेरा शून्य मुझ पर राज़ी हो जाए क्योंकि मरा हुआ ईश्वर मरते हुए न मर सकते हुए इनसान से तो ऊपर ही होगा। मुझे नहीं मालूम था कि इस आलम से इजाज़त लेने में इतनी देर लग जाएगी कि मुझमें अभी इतना दम है कि बार-बार वही बासी विचार फिर उठते-उबलते रहेंगे जिनमें मैं समझ बैठा था कोई जान नहीं। मुझे कुछ भी मालूम नहीं था अगर होता तो भी शायद यक़ीनन कोई फ़र्क़ न पड़ता। मुझे लगता है कि मैं अभी और इसी तरह तड़पूँगा कि तड़प की कोई इन्तहा नहीं कि कोई इन्तहा नहीं कि इन्तहा नहीं लेकिन मुझे लगता है यह भी ग़लत है। मुझे लगता है कि इस तड़प में और अब तक की तड़प में अगर कोई अन्तर है तो यही कि अब दूसरों के अस्तित्व के बारे में अन्दाज़े लगाने की मजबूरी नहीं रही कि तड़पने के लिए अब अपना अस्तित्व या उसका अभाव ही काफ़ी महसूस होने लगा है लेकिन मुझे लगता है यह भी ग़लत है। मुझे लगता है कि मैं कुबड़ा नहीं कि मैं किसी सूनी सड़क के सहारे एक आम अधूरे पेड़-सा खड़ा कराह नहीं रहा कि मुझे कोई दर्द नहीं कि मैं किसी आम आँसुओं की दुनिया से ऊपर उठकर या नीचे उतरकर इस आलम में नहीं आया कि यह आलम नहीं लेकिन मुझे लगता है कि यह भी ग़लत है। मुझे लगता है कि मैंने सिर्फ़ समय बिताने और आत्महत्या से परहेज़ किये जाने के लिए ही शब्दों का यह शून्यकक्ष बनाया है जिसके अन्दर कुछ नहीं कोई अर्थ नहीं कोई ऐसी आवाज़ नहीं कोई ऐसी ख़ामोशी नहीं जिस पर यह गुमान हो कि वह सही है कि वही सही है लेकिन मुझे लगता है यह भी ग़लत है। मुझे लगता है कि मैं वहीं हूँ जहाँ था कि मैं कहीं भी नहीं यानी मैं वहीं हूँ जहाँ मुझ जैसे दूसरे करोड़ों कीड़े रेंग रहे हैं। अपनी-अपनी रेंग पर रो या रीझ रहे हैं और रोते-रीझते सबसे इस सब-कुछ-नहीं से ऊपर उठ जाने के मोह से मुक्त नहीं हो पा रहे लेकिन मुझे लगता है यह भी ग़लत है। मुझे लगता है कि मैं किसी भी बोझ से फ़ारिग नहीं कि मैं किसी बोध से बोझिल नहीं हुआ कि अगर मैंने आत्महत्या नहीं की तो उसका कारण महज़ शारीरिक कष्ट से कतराहट ही थी लेकिन मुझे

लगता है कि यह ग़लत है। मुझे लगता है कि कहीं न कहीं हो न हो मैं मानूँ न मानूँ कोई और माने न माने मैं अपने इन दर्दों को वरदान मानता हूँ इस जीवन को एक इमानत या इनाम मानता हूँ कि मुझे मौत के बाद की सियाही मंजूर नहीं कि मुझे इस ऊब और तिलमिलाहट में कोई अर्थ नज़र आता है लेकिन मुझे लगता है यह भी ग़लत है। मुझे लगता है कि आत्महत्या का अधिकार कि उसके बारे में कुछ भी कहने का अधिकार सिर्फ़ निखर हुए नंगे नाचते हुए ख़ून और मांस की सुर्ख़ी और महक से जगमगाते हुए नौजवानों को होना चाहिए जो खुली आँखों से इस ज़िन्दगी की ज़र्क़ बर्क़ देखते हुए इससे इतने दिलबरदाश्ता हो जाएँ कि उन्हें आत्महत्या के सिवाय कोई और समाधान पसन्द न हो यानी जो किसी विरक्ति या विफलता से निराश होकर या किसी निजी नरक से निकल जाने के लिए या किसी ग़लती या ग़ुस्से या ज़िद की लपेट में आकर या किसी दूसरे को कोई दु:ख पहुँचाने के इरादे से आत्महत्या का सहरा न लें बल्कि या तो बिलावजह या किसी बेइन्तहा बेहोशी और बेपरवाही के आलम में और या किसी आलमगीर दलील या दु:ख से लाजवाब होकर ही आत्महत्या कर लें या उसके बारे में कोई एलान जारी करें लेकिन मुझे लगता है यह भी ग़लत है। मुझे लगता है कि वे दार्शनिक आत्महत्यारे भी मेरी नज़र में ज़्यादा ऊँचे नहीं जो इस सवाल को महज़ दिमागी उधेड़बुन में बदल देते हैं लेकिन मुझे लगता है यह भी ग़लत है। मुझे लगता है कि इस उम्र में इस आलम में इतना अरसा कराह लेने के बाद अगर मैं अपने आपको हलाक कर भी लेता हूँ तो मेरी यह हरकत न सिर्फ़ बेमानी होगी बल्कि बेलज़्ज़त भी कि किसी नौजवान और नाचते हुए जिस्म के अंजाम में जो ख़ूबसूरती और दहशत है वह एक बूढ़े बेआब जिस्म के अंजाम में नहीं कि अपना गला दबोच डालने के ख़्याल से कोई कँपकँपी नहीं कौंधती किसी शिकस्त या विजय की आवाज़ नहीं आती बल्कि सिर्फ़ एक गिलगिली गिरफ़्त का एहसास होता है और मैं नहीं चाहता कि इस आलमे उमंगोख़ू से रुख़सत होते वक़्त मेरा आख़िरी स्पर्श मेरी ही झूलती हुई झुर्रियों से हो लेकिन मुझे लगता है यह भी ग़लत है। मुझे लगता है कि मैं आत्महत्या के ख़िलाफ़ हूँ कि जवानी में अगर अपनी जान ले ली होती तो बात और होती कि अब मेरी नियति यही है कि आख़िर तक किसी भी भय को भगवान माने बग़ैर बेसहारा होकर तड़पूँ मुजस्सम दर्द होकर दर्द ला दवा होकर कराहूँ जैसे कोई दुखता हुआ दाँत या गुर्दा हो या जैसे प्रसव-पीड़ा से मरती हुई कोई अधेड़ औरत लेकिन मुझे लगता है यह भी ग़लत है। मुझे लगता है कि मेरी यह नियति हो न हो मैं अब तक के कराहे किये से मुनकिर नहीं हो सकता कि मैं अब तक के इस्तेमाल किये शब्दों की मखमली या मैली चादर को छील एक तरफ़ रख नंगा हो नाच नहीं सकता कि मैं अब नाच नहीं सकता लेकिन मुझे लगता है यह भी ग़लत है। मुझे

लगता कि मैं अपने भूत में बन्द हूँ कि मैं अब किसी नये रास्ते को रौंद नहीं सकता किसी पुरानी आदत से ऊपर उठ नहीं सकता कोई नया चेहरा चुन नहीं सकता कोई नया स्वर साध नहीं सकता कोई नयी भाषा बुन नहीं सकता किसी नये आकाश में उड़ या किसी नयी धरती पर रेंग नहीं सकता लेकिन मुझे लगता है यह भी ग़लत है। मुझे लगता है कि मैं अब मर रहा हूँ कि मैं अभी मरना नहीं चाहता कि मेरी हद को पहुँचे हुए किसी कुबड़े को मौत से कोई भय नहीं होना चाहिए कोई भय नहीं होना चाहिए कि मैं किसी हद को नहीं पहुँचा कि अगर अब भी मैं बेलाग होकर एक आख़िरी आलाप उठा सकूँ तो शायद मेरे बाद वही बाक़ी रह जाए कि अपने पीछे कुछ छोड़ जाने की छटपटाहट ग़लत है लेकिन मुझे लगता है यह भी ग़लत है। मुझे लगता है कि मेरे ये दर्द अपनी अपूर्णता को अस्वीकार करते रहने की ज़िद और उस ज़िद से इनकार करते रहने की ज़िद और उस ज़िद को अस्वीकार करते रहने की हमाक़त और उस हमाक़त से हलाक होते रहने की मजबूरी और उस मजबूरी से आँख चुराते रहने की कमज़ोरी और उस कमज़ोरी को दबाते रहने के दम्भ और उस दम्भ को दुलारते रहने की बुज़दिली और उस बुज़दिली से बचाव की ख़्वाहिश और उस ख़्वाहिश पर क़ाबू पाने की कोशिश और उस कोशिश की व्यर्थता और उस व्यर्थता के विरोध के ही नतीजे हैं लेकिन मुझे लगता है यह ग़लत है। मुझे लगता है मैं कमल नहीं कामिल नहीं कीड़ा नहीं कुबड़ा नहीं कोढ़ी नहीं मैं कुछ नहीं कुछ भी नहीं मैं नहीं तो यह यैं यैं क्यों तो यह यैं यैं क्यों नहीं लेकिन मुझे लगता है यह भी ग़लत है। मुझे लगता है कि मेरे इस आलाप-प्रलाप से कोई प्रलय टलेगी नहीं आएगी नहीं तो मैंने मोह मल से किनारा क्यों किया कहाँ किया मैंने सिर्फ़ मोह मल बदल लिया लेकिन मैंने मोह मल से किनारा क्यों करना चाहा क्योंकि शुरू से न जाने कब से कि कोख से सुनता चला आया हूँ कि किनाराकशी की कोशिश ही कीड़े को इनसान और इनसान को भगवान नहीं यह भी ग़लत है। मुझे लगता है मैंने किनाराकशी नहीं की कि सिर्फ़ सहारा बदल लिया मुझे लगता है मैंने जिस सड़क का सहारा लिया वह वहीं समाप्त हो गयी, नहीं यह भी ग़लत है। मुझे लगता है कि मैं भँवर से बाहर रहकर भी भँवर में ही रहा भँवर में ही रहने की कोशिश में रहा, नहीं यह भी ग़लत है। मुझे लगता है कि मैंने अपनी सीमाओं से बाहर अपने लिए एक नयी कारागार नहीं एक नयी कोख नहीं एक नया कोहान नहीं एक नया ईमान नहीं एक नया संगीत नहीं यह भी ग़लत है। मुझे लगता है मेरे पास न ईंट न आँच न सच न साँचा न रस्सी न साँप न मिट्टी न महक न गर्त न गहराई मेरे पास न पहुँच न प्रार्थना न नूर न नार न त्याग न राग मेरे पास सिर्फ़ संशय की सियाही नहीं सवालों का काला ख़ून नहीं मेरे पास वही दलदल जिसने मुझे मेरी व्यथा व्याकरण दी नहीं यह भी ग़लत है। मुझे लगता है कि मैं इस

शब्दकंटक शैया पर पड़ा तड़पता उस आगराग की आशा प्रतीक्षा में जिसमें जल तपकर सब दर्द दूध और धान में बदल सकते हैं, नहीं यह भी ग़लत है। मुझे लगता है कि यह सारा इच्छाछल दर्द से दर्द ला दवा से भाग बाहर की दाह और धूप की कोशिश को मिटाने की कोशिश कम अहम् नहीं यह भी ग़लत है। मुझे लगता है कि मैं अब इस या उस नरक को किसी नूर में बदल देने के क़ाबिल नहीं कि मैं जिस अँधियारे में आ रुका हूँ उसके बाद कोई उजाला नहीं कि मुझे अब सब कोशिशें काटकर समाप्ति के लिए नहीं यह भी ग़लत है। मुझे लगता है कि शब्द मेरे दुश्मन नहीं कि शब्द मेरा दुश्मन नहीं कि शब्द ही मेरा असली दुश्मन नहीं कि मैं जो कहूँगा जो भी कहूँगा कि मैं जो कह सकता हूँ कि मैं जो भी कह सकता हूँ कि मैं कुछ नहीं कुछ भी नहीं कह सकता नहीं यह भी ग़लत है बिल्कुल ग़लत है नहीं यह भी ग़लत है नहीं...।

□

बिमल उर्फ़ जाएँ तो जाएँ कहाँ

(उपन्यास अंश)

ताँगा जब गस्टन बस्टन रोड पर रुका तो बारिश थम चुकी थी और अँधेरा पीला पड़ चुका था। आकाश ऊबा हुआ था और हवा बहक रही थी। चाँद किसी चितचोर-सा कहीं छिपा हुआ था और सितारे बादलों का लिहाफ़ ओढ़े सो रहे थे। बिमल की अपनी सूरत किसी सोये हुए साँप की-सी थी, जो गये-गुज़रे ज़माने की यादों में जा डूबा हो। वह ताँगे से नीचे उतरा—धीरे-धीरे, अनमना-सा, मुँह पर एक मलिन और दुर्दमनीय मुसकान लिये, और दिल में दग़ाबाज़ दलालों का भय बिठाये। भय, जो हर भौचक्के व्यक्ति का अपना होता है। वह वास्तव में भय नहीं होता, भूख का ही एक बिगड़ा हुआ रूप होता है। तुम उस रूप को सँवार नहीं सकते।

ताँगे वाले को चलता कर बिमल कुछ देर गुमसुम वहीं खड़ा रहा—निश्चल और निस्तब्ध, जैसे पानी में पड़ा कोई गोल-मोल पत्थर हो, मौन और मुस्कुराता हुआ, निरीह और निर्मम। उसे उम्मीद थी, और ख़तरा था, कि दलाल उसे देखते ही उसके इर्दगिर्द घिर आएँगे, कोई उसकी कमीज़ खींचेगा और कोई उसकी पतलून। उसने अपनी पतलून को कसकर पकड़ लिया। अगर अगस्त के बजाय दिसम्बर होता तो वह अपने डफ़लकोट के बटन ठीक कर रहा होता। डफ़लकोट, जो उसे केशी ने दिया था, आज से बरसों पहले। देते समय उसने कहा था—हर हूडलम के पास अपना एक डफ़लकोट होना चाहिए, इसे सँभाल कर रखना। अब यह डफ़लकोट उसके कमरे की अलमारी में टँगा हुआ था, और बिमल उससे दूर और अलग उस भीगी सड़क पर खड़ा था—अकेला और सिकुड़ा हुआ। हवा का एक ज़बरदस्त झोंका जो आया तो बिमल गिरते-गिरते बचा, सड़क के बीचोंबीच, किसी उखड़े हुए खोखले खम्भे की तरह। अब पैरों में पकड़ नहीं रही, बिमल ने बिलावजह सोचा और सिहर उठा। हवा और हवस। बिमल की बीयर अब तक क़रीब-क़रीब बह चुकी थी और जो भीतर बची रह गयी थी, वह बह जाने के लिए

आतुर हो रही थी। मातमी चाल से चलते हुए बिमल ने सोचा, मेरा मूत मौत की तरह हरदम मुझ पर सवार रहता है, इसीलिए मैं अस्तित्ववादी होता जा रहा हूँ। सिसीफ़स को भी ज़रूर यही शिकायत रही होगी। चट्टान ऊपर धकेलते-धकेलते कई बार रुकना पड़ता होगा। इसीलिए कामू ने उसकी मुस्कुराहट की कल्पना की है। लेकिन बीयर तो एक बहाना है। अब किसी घूरे पर बैठकर करना पड़ेगा किसी तख़्ते तले। या किसी कोठे पर। लेकिन वहाँ नहीं। बीमारी चिपट जाएँगी। अँगूठों पर अंगारे। इंक़िलाबियों की बीमारी तपेदिक़। बुर्जुआओं की बीमारियाँ भी बदनाम। अभी तो शायद वह लाहौरी हीरा किसी दिन अचानक। उस याद को यहाँ मत छेड़ो। अस्तित्ववादी सदा असीम के सामने खड़ा काँपता है, अपनी आज़ादी और उत्तरदायित्व से आतंकित हो। मैं यहीं कहीं किसी काले कोने में कुबड़ा हो काँपूँगा, मूत और मौत के साम्य के बारे में सोचता हुआ। यह सदाफुहार साला ही मेरा जानी दुश्मन। न यह मरेगा न मुझे मुक्ति मिलेगी। यही सब सोचते-सोचते कब बिमल एक दीवार के साथ जा सटा, कब उसने पतलून के बटन खोल उसे बाहर निकाला, कब किसी नाक़िस नलकी की तरह उसमें से कतराते हुए कुछ क़तरे टपके, यह सब बिमल को पता ही नहीं चला। लेकिन ज्यूँही उसे पता चला उसका पेशाब अपने आप बन्द हो गया। बिमल उसकी इस आदत से आश्ना था। अब इसे पस्माना पड़ेगा, उसने सोचा। उसके दायें-बायें दूर-दूर तक दूसरे पेशाबकार बेखटके धार बहा रहे थे, अँधेरे में, उजड़े आकाश तले। काश कि मैं भी अपने हमसायों की तरह निःसंकोच होता, हो सकता। मुझ-सा भी कोई होगा जिसे मूत भी खुलकर नहीं आता। फिर उसने देखा कि दायें वाला कनखियों से उसकी तरफ़ देख रहा है। सोच रहा होगा, बाबू को शायद देखने और दिखाने का शौक़ ही इधर खींच लाया है। इस विचार के आते ही बिमल उतावला हो उठा। उसने जल्दी-जल्दी उसे दो चार झटके दिये, जैसे बिल्ली मरे हुए चूहे को देती है। एक क़तरा शबनम सा नीचे झड़ गया और ज्यूँही खड़े हो उसने बटन बन्द किये कई एक क़तरे एक साथ गिरे और उसकी पिंडलियों को गीला कर गये। आने वाले उपहासकार मुझे हुमायूँ का हमपल्ला मानेंगे, जिसके सभी जाम अधूरे। अँधेरा अब ऊँघ रहा था। मैली मालगाड़ियों की बग़ल में। सड़क के सीने पर। दुकानों के बन्द दरवाज़ों पर। लाल बत्तियों के पीले प्रकाश में। छतों पर। समूचे शहर में। गरमियों के अँधेरे की अपनी गरिमा होती है। हवा उसे बोझिल हो जाती है। खुलकर बह नहीं सकती। उसे हुमस कहते हैं। हुमस में कुछ कमीनों की हवस और अधिक हो जाती है। मेरी नहीं। तुम चाहते हो कि तुम्हारे हर मसाम से पसीना फूट बहे ताकि हवा में जब हरकत हो तो तुम अपनी देह की ठंडक को महसूस कर सको और किसी बड़े सुख का अनुभव भी। सुख दो साइज़ के होते हैं। छोटे और बड़े। हुमस के बाद हवा!

इससे बड़ा सुख और कोई नहीं। हवस छोटा सुख है। तुम उसे खींचतानकर बड़ा नहीं कर सकते। यही सोचता हुआ बिमल सड़क के बीचोंबीच खड़ा हो गया, मालगाड़ियों की ओर पीठ मोड़े, और चौबारों की ओर देखने लगा, काफ़ी देर देखता रहा। हलाँकि उसकी आँखें दुखने लगीं। ये चिराग़ हैं, चाँद नहीं। चाँद तुम्हारी आँखों को ठंडक पहुँचाता है, चिराग़ उन्हें चुँधिया देता है। ये नन्ही किन्दीलें। ठंडे गोश्त की निगहबान। आँख तक नहीं झपकती। बादल न होते तो शायद कुछ बारजों पर बैठी मुझ जैसे झेंपू जाँबाज़ों को बुला रही होतीं। इशारों से। ज़रा कोठे पे आ जा। मैं गुनगुनाता, ग़म्ज़ा ओ इशवा ओ अदा क्या है। नज़रें नीची कर पुकारता, सब्ज़पोशे बलबे बाम नज़र मी आयद। वह जवाब देती, न बज़ोरी, न बज़ारी, न बज़र मी आयद। मेरा दीवाने मख़फ़ी। इन इशारों को तो उर्दू बाज़ार वाले ही समझ पाएँगे। मेरे ये फ़ारसी फ़ारमूले। ए आबशारेनोहा। बस और नहीं। लेकिन मैं अभी ऊपर चढ़ने की स्थिति में नहीं। बीयर बह गयी। यहीं देसी दारू की दुकान में मेहनतकशों की सोहबत में एक जामे सेहत। हमसफ़र साथियों की याद में। गाने की गूँज बरसात में। सोये हुए साज़िन्दे। पहले गाना फिर बजाना। मूड मरता जा रहा है। कहीं चल मुजरा। गाने से तो शायद और गीला। कहूँगा कोई कठोर और करारी ठुमरी सुनाओ जिससे ठंडे लहू में उबाल आ जाए जो गाती हैं वे सिर्फ़ गाती हैं। मैं तो गाती को ही बजाऊँगा, उस्ताद। उसके दाम दुगुने। दाद देने के बहाने बग़ल में जा बैठूँगा। वह तकिया ख़ाली है, साहिब भगादुर।

काश कि मेरी भी तोंद होती। पेट का पिलपिला पहाड़। कहता, इसे गुदगुदाओ। इस पर ज़ुल्फ़ों का जाल। पान नोश फ़रमाइए। मैं तो पहले पिऊँगा। सीधा पिस्तान से। माँ चाहिए या माशूक़ा। हर माशूक़ा कहीं न कहीं, किसी न किसी हद तक माँ भी होती है। मजलिस में तहलका। इस बाबू को निकाल बाहर फेंक आओ। यहाँ वैसी माशूक़ा नहीं मिलती, मास्टरजी। क्या सुनिएगा, साहिब। रामधुन। हम तो हिंडोल सुनेंगे। शौक़ बाबू। सारंगी मास्टर मेरा मुँह देखता रह जाएगा। नोट निकालिए। पहले पहलू में तो आओ। कहेगी, मैं तो सबकी साँझी। तो मैं चला। सैलानी साला। मुफ़्तख़ोरा। और मैं लौट आया। कहा होता, मैं गीतफ़रोश हूँ। तुम्हारा हमपेशा हूँ। बकवास बहुत सोच लिया। अब सीढ़ियों का सामना करो। बेसवा से एक बेशर्म भेंट। प्रस्तुतकर्ता, अप्रस्तुत बिमल। बिमलाजी, यह बताइए कि आप में और एक बाक़ायदा बीवी में क्या अन्तर? आपने परिवार पद्धति की रक्षा का भार अपने पेट पर क्यों डाला? क्या यह सच है कि आप काम कला सम्पन्न हैं? और अगर हैं तो क्यों नहीं आप एक ऐसा शिक्षा केन्द्र खोल लेतीं जहाँ आपकी देखरेख में दब्बू दुलहनें दक्ष हो सकें? कोई ऐसा अनुभव सुनाइए, बिमलाजी, जिसे सुन मेरी पीडा का पहाड़ पिघल जाए। सोच का यह सिलसिला

स्थिर नहीं हो पा रहा। भेंट बढ़कर भिड़न्त में कैसे बदले। बिमला की बिपता बयान से बाहर। एक थी बिमला। एक था बिमल। दोनों का दु:ख क़ाबिलेदीद। किन्तु मैं जिस खाई में खो जाने को खोदने का ख़िला पुर करने की ख़राश की ख़ारिश ख़रीदने। वाक्य विकल हुआ जा रहा है। शब्द शल। न खोया जाए है मुझसे, न खोदा जाए है मुझसे। फ़रहाद की फ़रियाद। शीरीं, मुझे एक तेज़ तेशा दो। विभाजित मन से व्यभिचार भी नहीं। साहित्यसेवा तो दरकिनार लिहाफ़ का बोझ इस अलसाये हुए अलिफ़ के लिए भारी। जैसे रुक-रुककर यह रोता है वैसे ही मेरा विरक्त कलाकार। दोनों क़लम बेकमाल। शैली दुर्घ्रतिशील। अगर पेशाब में प्रवाह न हो तो प्रज्ञा भी पथरा जाती है। सभी दोषों का आधार शारीरिक। भोजन से ही भुजा बनती हैं। और साहित्य सुगठित। सँकरी सीढ़ियाँ। नाना प्रकार के पिलपिले पति यहाँ आकर अपनी पत्नियों से इन्तक़ाम। बिमला जी, यह तो बताइए कि आपके प्रेमियों में से कितने प्रतिशत पति? और उनमें कितने प्रतिशत पुख़्ता और कितने पतले? मैं आँकड़े इकट्ठे कर रहा हूँ। एक परोपकारी प्रॉजेक्ट के लिए। प्रिंसिपल धनीराम अगर कहीं पसरे हुए दिखाई दे जाएँ। या प्रोफ़ेसर रामभज। कहो, बेटा पकड़े गये न। तुम तो कहते थे कटवा दिया। पिता और पुत्र एक मुश्तरका माशूक़ा के मोहपाश में। पशुभाव। वामाचार तन्त्र। आप मन्त्र पढ़िए, मैं मैथुन करूँगा। शयद अमीर साहिब कहीं सोये हुए हिल रहे हों। बेगम साहिबा क़िस बिस्तर में हैं? जागते का ख़्वाब। नीमजान नाज़िमा। हफ़ीज़ा को हाज़िर करो। वह मिरी *रफ़ीक़ेराल। ज़ीस्त की शगुफ़्तगी।* मुझे यह फ़ारसीज़दा उर्दू ले डूबेगी। लेकिन चकले की ज़ुबान उर्दू। इसलिए चुस्त। *क्या शौक़ फ़रमाइएगा, साहिब।* आपको शहवत शोख़ पर आती है या शर्मीली पर। शाहदरे की हो या शाहाबाद की। पतली या पहलवान। नमकीन या मीठी। देहाती या क़स्बाती। सुनिएगा या धुनिएगा। घरेलू या घाघ। *आपकी फ़रमायश पूरी होगी।* हमें तो भाई ऐसी चाहिए जो पंडिताऊ हिन्दी बोले। जिसका मुँह मिसरी हो। शोर को सोर कहे। पेट में दो परम्परा प्रसिद्ध बल हों। बालों में बालू रेत। रानी के रानों की-सी। हम तो अपना बीता बचपन लौटाने आये हैं। *यह बाबू* तो बहका हुआ है। साले, औरत चाहिए या चपत। दोनों। कोई हंटरवाली हसीना हो। बेरहम बालो। जिसके लिए कभी सारा पंजाब तड़पा था। कुंजाह की कंजरी। कुड़ी कुंजाह दी, दातुन फुलाह दी। यह कहावत अब किसे याद होगी। साहित्यकार और आंचलिक चोंचले। आप देखिए तो साहिब। अगर नापसन्द हो तो न कर दीजिए। मुझे डर है मैं देखते ही राख हो जाऊँगा। या फिर एकदम अन्धा। दिखाओ नहीं देवी। दो। कहो तो टटोल सकता हूँ। कच्चे आमों से न हों तो कहिए हरामी था। मुझे अमरूद चाहिए। *यह बाबू* तो सिर्फ़ बातें करना चाहता है, बाईजी। साहिब अगर साँवली चाहिए तो मेरे साथ चलिए। अगर शादीशुदा का शौक़ हो तो मेरे साथ। कमसिन की तलाश हो तो। हम हंबग हंबर्ट नहीं। लाडली

ललिता। वह चाव चालीस के बाद। अभी तो हम जवान हैं। आप आइए तो सही। पहले कोठरी दिखाओ। सूराख़ से आँख लगाकर देखेंगे। यह तो दालान है। हम तो तहज़ीबयाफ़्ता तबादलाए ख़यालात करने आये हैं। तो भागो यहाँ से। हमें तो भाई ऐसी वाहियात चाहिए जो हमारे सारे वहम दूर कर दे। जो इस मुर्दे में जान डाल दे। मालिश में माहिर हो। कोई कुश्ता खाकर आना चाहिए था। भीमसेनी गोलियाँ। अरे साहिब, यहाँ बहुत धोखा है। चौपट खुला दरवाज़ा। दाख़िल होते पता तक नहीं चला। हमें तो सूई की आँख। हम कोठे में सब अव्वल दर्जे की। मालकिन से मिलिएगा। बड़ी मुलायम है। लौंडियाबाज़ मादाम। बेटा, शक्ल से तो शाइर दिखाई देते हो। सुनाओ तो कोई क़ता। नहीं, बाईजी, मैं जैसा दिखता हूँ, वैसा हूँ नहीं। तो कहो, कैसी चाहिए? घबराओ नहीं, बेटा। बढ़िया बुढ़िया। पोपली और पीली। आँखों में अनुभव। सब सुबह इसे अपनी रातबीती सुनाती होंगी। कौन कितना कारीगर था। किसने क्या क्या। इसे अपना हमराज़ बनाना चाहिए। गुदगुदी गोद। बाईजी, आप इस खटिया पर बैठी-बैठी ऊबतीं नहीं कभी? खा-पी चुकी सब्ज़दिल दाया की गहरी गुंजलदार हँसी। बेटा, जब तक तुम्हारे जैसे जवाँमर्द यहाँ आते रहते हैं और उनको मेरी ये बेटियाँ बहलाती रहती हैं, मैं मस्त हूँ। मालिक की मेहर है। इस महँगाई में भी। जो अब ख़ुद नहीं कर सकती, दूसरों को करते देख खुश हूँ। ऊब कैसी? अकेली होती हूँ तो अपने ज़माने की यादों में डूब जाती हूँ। जो कमा चुकी हूँ, वह मेरे लिए काफ़ी है। अब बेटियाँ बनी रहें। कभी-कभार कोई तुम जैसा पास आ बैठता है तो दो बातें कर जी हलकान कर लेती हूँ। बाईजी, आप धन्य हैं। मैं बाहर जाकर आपके नाम का डंका बजाऊँगा। मुझे अपनी गोद में बिठाकर अपने क़िस्से सुनाइए। मैं इसीलिए आया था। मुझे बुढ़ियाएँ ही भाती हैं। जहाँदीदा। जो बातें मैं अपनी माँ से नहीं कर सकता, अगर माशूक़ा होती तो शायद उससे भी न कर पाता। मेरे मसले तो रूहानी हैं, बाईजी। तो यहाँ क्यों भटक रहे हो, बेटा? किसी पीर की दरगाह में जा पनाह लो। यह रास्ता तो उधर नहीं जाता। अभी मैं उतना नहीं पहुँचा। कोशिश कर रहा हूँ। नौकरी तो छोड़ दी। तो यूँ कहो निकम्मे हो। आप भी उकता गयीं। अभी तो मैंने आपको कुछ बताया ही नहीं। कुछ पिलवाइए, फिर देखिए मेरी बहार। तुम्हारे दाँत तो अभी दूध के। कहीं जाकर बकरी का दूध। और बनफ़शे की चाय। तुम्हें अन्दर किसने आने दिया। अबे ओ पहलवान, यह क्या बला मेरे गले डाल दी। नीम पागल और नीम जान। देखो, अजीज़, यहाँ सब सिर्फ़ एक ही काम के लिए आते हैं। यह चकला है, साहिबज़ादे, तुम्हारे बाप की बैठक नहीं। मैं तो किसी फ्रान्सीसी सैलून की तलाश में था, ताईजी। न जाने क्या बक रहा है। इसे उठाकर बाहर फेंक आओ, उस्ताद। अचानक उबल पड़ी। मैं तो अचम्भे में आ गया। बाहर निकला तो बारिश फिर बरस रही थी। धीरे-धीरे। बहुत देर सीढ़ियों में खड़ा सोचता रहा। भाँत-भाँत के भभके। भाई, यहाँ कहीं कुछ

पीने को भी मिलता है। किसी महजबीं का महकता मूत। क्यों, मियाँजी। मियाँ मुँह फेर लेता है। मेरे मुँह में शायद मरा हुआ चूहा। यह उल्लू ही अगर सीधा हो गया होता। कामचोर उचक्का। इसे ग़मे रोज़गार ने ही निढाल कर दिया। खूनेजिगर में डुबोकर बली हरूफ़ में इस दीवार पर लिख जाना चाहिए, बिमल यहाँ आया था, बेसवा की एक झलकी पाने, कामरेड सुधीर को साथ लाना चाहिए था। शायद यहाँ भी उसने कोई सेल या स्टडी सरकल। कहता, कामरेड बिमल पार्टी का पिल्लर है लेकिन अभी पूरी तरह तना नहीं। इसे कोई ऐसी दिलवाओ जिसके एक हाथ में खड़ताल, दूसरे में खुरपा। यह परायी परम्पराओं का प्रेमी है। पूरब और पश्चिम का समन्वय करना चाहता है। इसे इंग्लोइंडियन से उलझाओ। जिसके मुँह से हिन्दी निकले और नाक से उर्दू। अँग्रेज़ी किसी अनदेखी द्वार से। फ़ीढ़ियाँ रोके क्यों खड़े हो उफ़ताद। दलाल हो तो दिखाओ, कोई फुथरा माल। शाइर की शुफ़्ता सरगोशी। इसी के साथ संलग्न हो जाओ। शायद यही तुम्हारा ख़िज्र। दो ग़ज़लों के एवज़ में एक दीदारेद्रार। लेकिन धुत्त है। बाहर धकेल दिया जाएगा। हे प्रभो, हर कवि को महाप्राण का-सा बाहुबल दो! पकड़कर पीट दिया करते थे। कवियों में पहलवान। कई आलोचकों को उलटा लटका दिया। बाईजी ने भाँप लिया होगा, मेरे पास पैसा है न पीटर। मेरे पास एक मुर्दा दिल है। बेइन्तहा ऊब है। भूख है। प्रयोगवादी पीड़ा है। अथाह अनास्था है। अभावबोध है। अधूरे अनुभव हैं। भावशून्यता है। विशालाक्ष शून्य है। विरसे में मिली विरक्ति है। बकबके क़हक़हे हैं। परम्परित परलोकप्रियता है। प्रज्ञा के पीले पुष्प और सिहरन के सूखे पत्ते हैं। अवसाद है। गरल की गागरें हैं। चितकबरे चमत्कार और चिड़चिड़े उद्‌गार हैं। अबाध की अभिलाषा है और अबोध की पिपासा। दुबले-दुबले दर्द हैं। हलाकू हसरतें हैं। दिखावे की दहशत है। बीराने की वहशत है। निराशा का क्रॉस है। प्रश्नों के पुलिन्दे हैं। उलझनों के जाल हैं। रिक्तता है। मैं आधे से कुछ अधिक उधर हूँ और आधे से कुछ कम इधर। मेरा रंग गुलाबी है लेकिन आतंक इंक़िलाबी नहीं। लिखने की दुर्दमनीय आकांक्षा है और न लिख पाने का अप्रमेय भय। बाईजी, मेरे जैसे इस चौबारे पर कम ही चढ़ते होंगे। और आपने मुझे इस तरह दुत्कार दिया। मुझे तन की तलाश तो है लेकिन मेरा मन। बेटा, बकवास बन्द करो। यहाँ जो आते हैं उनका तन-मन-धन उनके हाथ में होता है। भरी बन्दूक़-सा। बाईजी, मैं समझा था आपमें मुहावरे की माँ की ममता होगी। मैं तो आपके गले मिल गड़गड़ाना चाहता था। ग़ार में बैठकर ग़ौर करना चाहता था। मैंने सुना है इस इच्छा का सम्बन्ध हमारी सामूहिक असंचेतना में आदिम युग से चला आ रहा है इसीलिए हम सुरंगों और सूराख़ों की तलाश में रहते हैं। यानी हर मर्द हर औरत के माध्यम से माँ को ही मथना चाहता है। वह शक्ति का पुजारी है इसीलिए अशक्त भी है। दूसरे शब्दों में कहूँ, बाईजी, तो जो जिज्ञासा मुझे यहाँ खींच लायी, उसकी जड़ों का जाल मेरे

भीतर बिछा हुआ है, इसीलिए मैं आपको यह उपदेश दे रहा हूँ कि मैं भी एक तरह का अवतार हूँ, मेरी सुनिए बाईजी, मैं बहुत बर्दाश्त कर चुका, अब और नहीं सहा जाता, मैं इन्हीं सीढ़ियों में ढेर हो जाऊँगा, मुझे अब उठा लो, मेरे निर्मम उपन्यासकार, अब और नहीं बहा जाता...।

बिमल बिगड़ उठा है। उपन्यासकार की समझ में नहीं आ रहा कि उसके साथ कैसा सलूक करे, उसे कैसे सहलाए, उसके माध्यम से जो मर्म वह पाठकों तक पहुँचाना चाहता था, उस तक वह स्वयं कैसे पहुँचे। शायद वह यह नहीं जानता कि जब तक हम एक पात्र को दूसरे पात्रों का सहरा नहीं देते, उसकी बग़लों में बाहरी घटनाओं की बैसाखियाँ नहीं थमाते, उसके एकाकीपन को सामाजिक सीने का सिरहाना नहीं जुटाते, वह अपनी जड़ता को झटक नहीं पाता और सीढ़ियों में खड़ा बिमल की तरह तुतलाता रहता है, इसीलिए कहा गया है कि इस विधा को वैधव्य से अगर कोई चीज़ बचा सकती है तो वह इसकी विधिबद्ध विविधता ही है, और यह अप्रसांगिक नहीं कि जब से अँग्रेज़ी साहित्य और साम्राज्य की सरपरस्ती में हमारे यहाँ उपन्यास एक अपवाद सरीखा जनमा है, हम एक ही लकीर को पीटते चले आ रहे हैं और हमारे घोषणापत्रों से भी पता यही चलता है कि उस पिट रही लकीर में ही उस निकल चुके साँप की स्मृति सुरक्षित है, इस अंट-शंट उक्ति में निहित जो गम्भीर तर्क है, उसे वही समझ सकते हैं जिन्हें आलोचना के सिद्धान्त कंठस्थ हों और जो हर सीधी बात को उलटी भाषा में उलझाने की क्षमता रखते हों। उस निकल चुके साँप का सौन्दर्य इस उपन्यास में कहीं नहीं दिखाई दे रहा क्योंकि इसमें एक और टेढ़ी लकीर खींचने या खोदने की कोशिश की गयी है। हम एक लावारिस लकीर का नाम देकर इसे लताड़ेंगे, उपन्यासकार को हम ख़बरदार किये देते हैं कि उसने हमारी साहित्यिक और सांस्कृतिक परम्परा के परख़च्चे उड़ाने की जो कोशिश की है, तथाकथित आधुनिकता के आवेश में आकर, हम उन परख़च्चों को उड़ने नहीं देंगे। पूछा जा सकता है कि हम कौन होते हैं किसी उपन्यास के बीचोबीच बोलने वाले तो हमारा जवाब है कि हम एक तरह के हरामी हैं जिन्हें जनसाधारण की भाषा में परम्परा के पहरेदार कहा जाता है। अस्तु!

बहरहाल! इस बेजा दख़लअन्दाज़ी को नज़रअन्दाज़ कर वापस वहाँ लौटा जाए जहाँ बिमल सीढ़ियों में खड़ा अपने उपन्यासकार—यार लोग तैश में आकर उसे कुछ भी क्यों न कहें—के इशारे का इन्तज़ार कर रहा है और सोच रहा है, एक वह भी ज़माना था जब पात्र अपने प्रभु की परेशानी का फ़ायदा उठा बेक़ाबू हो भाग निकलते थे, और मनमानी कर लेते थे, लेकिन मेरा मन ही नहीं मानी करूँ भी तो कैसे, मैं तो वही कर सकता हूँ जो यह साला मुझसे करवाएगा, अगर इसने धुत्त ही कर दिया होता तो मैं खड़ा होने के बजाय लड़खड़ा रहा होता, कै कर रहा होता, बक रहा होता, किसी कोखजली की जाँघों में पड़ा रो रहा होता, काले आकाश की

ओर मुँह उठा किसी निडर गीदड़ या पागल कुत्ते-सा कुरला रहा होता, किसी उल्लू की तरह आँखें फाड़ अँधेरे में उजाला ढूँढ़ रहा होता, अब अकेला यहाँ खड़ा हूँ, अनाथ और अदृश्य, और उधर वह अपनी प्रसव पीड़ा में पड़ा तड़प रहा है, सोच रहा है कि इस अर्द्धनारीश्वरनुमा पात्र का यानी मेरा जन्म कब होगा, कैसे होगा, उसकी असह्य कराहों को वही सुन सकते हैं, वग़ैरह वग़ैरह। संक्षेप में यही कि यह क्षण क्राइसिस का है, उपन्यासकार सोच रहा है कि बिमल से क्या सुचवाए और बिमल सोच रहा है कि बीयर के बजाय इसने अगर भाँग पिलवायी होती तो मैं इस समय डमरू बजा रहा होता और गा रहा होता, जय बम्भोला, लेकिन ख़ुद चूँकि परम्परा से कटा हुआ है, इसीलिए मुझे भी काट रहा है, अगर मैं कायर न होता तो पिरांडोला के उन विश्वविख्यात पात्रों की तरह किसी दूसरे कृतिकार की तलाश में निकल जाना, किसी रूमानी की राह रोक कहता, बन्धु मेरे बन्धन काटो, मुझे इस मनहूस से मुक्ति दिलाओ, मुझे घटनाओं का घुमावपेच दो, मुझे नीला आकाश दो, नदी का नीर दो, किसी सुशीला का शरीर दो जिसे मैं दूर से देख सकूँ, सीधी स्मृतियाँ दो जिन्हें मैं सादे तरीक़े से चुनकर सजा सकूँ, एक लड़ी में पिरोकर पुचकार सकूँ, मुझे यह अटपटापन एकदम अस्वस्थ लग रहा है, मेरा साधारण साधारणीकरण करो, मेरा मर्म थामो जिसे यह मरदूद कितनी देर से मसल रहा है, मुझे मेरे पाठकों तक पहुँचाओ जिनसे मुझे वंचित करने पर यह कमबख़्त जाने क्यों तुला हुआ है, मुझे भीनी-भीनी भावनाएँ चाहिए, मीठे-मीठे दर्द चाहिए, सार्थक समस्याएँ चाहिए, मार्मिक मुसकानें चाहिए, सुहाने स्वप्न चाहिए, मैं किसी की आँखों में आँखें डालकर देखना चाहता हूँ, किसी से दिल खोलकर बात करना चाहता हूँ, मैं चाहता हूँ कि कुछ ऐसा हो कि मैं चौंक पड़ूँ, मुझे खिली चाँदनी चाहिए, मुझे महुए के फूल चाहिए, ऊँचे आदर्श चाहिए, परिवेश की परिधि चाहिए, मैं किसी सुन्दर साँचे में ढलना चाहता हूँ, मैं चाहता हूँ कि सब मुझे चाहें, मेरी व्यथा पर ख़ून बहाएँ, मेरे साथ आत्मसात् हो सकें, मैं नहीं चाहता कि आलोचक मेरे कारण किसी आश्चर्य में पड़ जाएँ और एक-दूसरे से पूछते फिरें कि ऐसे उजबुक अहीरो का आख़िर क्या प्रयोजन, अगर हमारे ही हाथ हवा के सिवाय कुछ नहीं आ रहा हो, तो साधारण पाठक के पल्ले तो कुछ भी नहीं से कम पड़ेगा, हम तो यही समझते थे कि इस आख़िरी भाग में तो कम अज़ कम कुछ ऐसा होगा जिस पर हम अपनी अँगुली रख कह सकें कि बिमल की बिमलीयत हमारी समझ में आ गयी, लेकिन वेश्यालय तक लाकर भी जब उपन्यासकार ने पाठक को प्रसन्न नहीं किया तो और कहाँ करेगा, कि जब से गस्टन बस्टन की गरदान करता हुआ वह वहाँ पहुँचा है, हमारे पाठक इसी इन्तज़ार में दम साधे दुम हिला रहे हैं कि अब उन्हें अपने सब्र का सेब मिल जाएगा, यानी जिस चरम सीमा की चर्म चरमराहट सुनने के लिए वे पिछले दो सौ पन्नों से बिमल की इस ऊब कथा और बिमल के बाप

यानी उपन्यासकार की सूत्रधाराना सुरसुराहट को सुना-अनसुना करते चले आ रहे हैं, जिस रहस्योद्घाटन के लिए उनकी राल न जाने कहाँ-कहाँ से टपक रही है, उसका वक़्त अगर अब भी नहीं आया तो कब आएगा, मैं नहीं चाहता कि आलोचक बन्धु मेरा भुरता बनाते फिरें या मेरे अस्तित्व से ही इनकार कर दें, अगर मैं कायर न होता—बिमल सोच रहा है—तो उस रूमानी नावलनवीस से ये सब कहता, लेकिन मैं शायद पात्र नहीं, पपिट हूँ, हाड़मांस का हौआ न हो काठ का उल्लू हूँ, इसीलिए चुपचाप खड़ा उसके अगले आदेश का इन्तज़ार कर रहा हूँ, और उधर वह मेरी व्यथा से विमुख सिजदे में गिरा सोच रहा है कि मुझसे अब क्या करवाए।

बिमल का बैन ख़त्म हुआ। अब उसके उपन्यासकार का बयान सुनिए। उसके पास बिमल को चुकाने के इतने चुनाव हैं कि हम चाहें तो उन्हें अनगिनत कह सकते हैं। उनमें से कुछ एक को यहाँ नमूनों के तौर पर पाठक के सामने पेश किया जा रहा है। सवाल सीधा है कि सीढ़ियों में खड़े बिमल से अब क्या करवाया जाय, काश कि जवाब भी सीधे होते!

उसे उन सीढ़ियों में ही खड़ा रहने दिया जाय—उपन्यास के अन्त तक, उसके अपने अन्त तक, उपन्यास के अन्त से कुछ पन्ने पहले तक, उस हालत में आख़िरी पन्नों में कोई उपदेश दिया जा सकता है, बताया जा सकता है कि बिमल की गाथा की गुप्त गुत्थी क्या थी, उसके अन्त से कुछ पन्ने पहले तक, उस हालत में उन आख़िरी पन्नों में बिमल को फिर बिलबिलवाया जा सकता है यानी मरने से पहले के क्षणों को वह कैसे जीता है, उसकी आख़िरी साँसों का सन्देश, साहित्य जगत के नाम, नारी जगत के नाम, क्रान्तिकारी ताक़तों के नाम, पाठक वर्ग के नाम, लेकिन उपन्यास के अन्त से मतलब? उसके अपने अन्त से मतलब? अन्त और अन्त का अन्तर, अन्त तो आन्तरिक ही होता है और वह तो आदि में ही हो चुका, उपन्यास के अन्त से कुछ कोरे पन्ने बाद तक, वे पन्ने पाठक के लिए, उस हालत में बिमल का अन्त पाठक के कल्पनालोक में, परलोक में, लेकिन वह शायद इस उपन्यास के अनुकूल न हो, अब उलझो नहीं, बिमल की वाजिब सज़ा यही कि वह सीढ़ियों में खड़ा रहे, अनन्त तक, अन्तिम वाक्य हो, बिमल सीढ़ियों में खड़ा है और उसके बाद हों तीन बिन्दियाँ, उपन्यास का सारा पैनापन उन सारगर्भित बिन्दियों में, सारी आपत्तियों के आघात वे शब्दातीत तीन बेधड़क बिन्दियाँ सहें, कहा जाएगा कि उपन्यासकार बिमल को उन बेलौस बिन्दियों के पास छोड़ अखाड़ा छोड़ गया, जवाब दिया जा सकता है वे बिन्दियाँ नहीं, बिमलाकाश में टिमटिमा रहे तीन बिन्दु हैं, वैसे बिन्दियों के बाद बित्ते भर की दूरी पर एक प्रश्नचिह्न उलटा लटकाया जा सकता है!

उसे सीढ़ियों में खड़ा रहने दिया जाए—एक टाँग पर, किस टाँग पर, मान लो दायीं पर, तब बायाँ पाँव दायें घुटने पर, टख़ने पर, पिंडली पर, पाँव पर, या

फिर यूँही हवा पर, अँगुलियों की नोकें नीचे की तरफ़, ऊपर की तरफ़, नाख़ून मांस में खुभे हुए हों या नहीं, और अगर बायीं टाँग पर तो दायें पाँव के पास वे सब उपाय हैं जो बायें के पास थे, या शायद उनसे कुछ अधिक, दोनों टाँगों पर, बोझ बराबर बँटा हुआ, जो कि मुश्किल है, और ग़ैरज़रूरी भी, या अगर वह चाहे तो कभी एक टाँग पर, कभी दूसरी पर, कभी दोनों पर, इनकी तरतीब उसी पर, इन मुद्राओं की व्याख्या पाठक पर, प्रकाशक पर, आलोचक पर, तीनों पर, लेकिन तीसरी टाँग पर क्यों नहीं, यह सवाल महज़ सवालिया नहीं, झूलती टाँग पर झूलता बिमल, सम्भावना सुहावनी है, साथ अगर लकड़ी बाँध दी जाय, गुलाब की झूलती झाड़ी, लेकिन लकड़ी कहाँ से आए, वह तो शुरू में सोचना चाहिए था, इसीलिए पुराने उपन्यासकार अन्त को अन्त पर नहीं छोड़ते थे, वैसे भी वह दृश्य अविश्वसनीय होगा, पाठक पूछ सकता है तपस की यह तकनीक तो बिल्कुल काल्पनिक, लेकिन टाँगों पर ही क्यों, क्यों का जवाब क्यों नहीं से, क्यों नहीं का क्यों से, सिर के बल क्यों नहीं, उस मुद्रा पर घिसे-पिटे मुहावरे की मुहर, वैसे उसके कई फ़ायदे, उन फ़ायदों के कई नुक़सान, उनके नमूने, सीढ़ियों में सिर के बल उठे बिमल का बयान, यथार्थवादी परम्परा से सनसनीख़ेज़ सम्बन्ध-विच्छेद, आलोचकों पर उबले हुए आलुओं के ओले, आलू और ओले दोनों मुहावरे के, शायद ज़ाहिर न हो, मुँह पर झाग की झालरें, उनमें से झाँकती हुई एक झीनी मुस्कान, पागल पैग़म्बर का आख़िरी पैग़ाम, एक ख़राशदार ख़ामोशी, आसपास वाह-वाह करती हुई होरों का हुजूम, तुम-सा नहीं देखा, दल्लाल दंग, बाईजी बदहवास, ग्राहक गुमसुम, अनेक अन्दाज़े, शायद कोई पागल हो, या प्रतिक्रियावादी, अयथार्थ का अनुयायी, या कोई पहुँचा हुआ पीर, प्रदर्शनप्रिय, मदहोश मदारी, आकर्षणाभिलाषी, उलटे अलिफ़ की सोच का सिलसिला, किसी योगाचार्य से पूछना पड़ेगा, मुँह किस तरफ़ हो, आँखें खुली हों या अधमुँदी, चितवन पर चमक कितनी हो, ख़ून का एक क़तरा भवों में भटका हुआ, वीर्य का एक वहाँ अटका हुआ, वेश्याएँ देख वहशी हो उठें, नुचते हुए नायक का नपुंसक नमस्कार, हाथ से या हथियार से, दोनों से, मैं तो चला, वैसे इन सब उपायों को किसी क़ायदे से एक साथ, कुछ देर सिर के बल, कुछ देर एक टाँग पर, वग़ैरा वग़ैरा, पैटर्न पाठक पर, भाई तुम्हें जो भाये वही बढ़िया, अन्तिम चुनाव तुम्हारा, एक शर्त पर, चुनाव किंचित चौंकाऊ हो, ताकि प्रभाव ज़रा पैना, अब आगे बढ़ो...

वैसे खड़ा करना ज़रूरी नहीं, बिठाया भी जा सकता है, उकड़ूँ, आल्थी-पाल्थी मारकर, लोटस पोज़; दायीं टाँग बायें कन्धे पर, बायीं दायें पर, दोनों गरदन से लिपटी हुई, लेकिन बिमल के अंगों में ऐसा लोच कैसे आए, आख़िरी क्षणों में सब सम्भव, दिन भर देखे भिखारियों की भिन्न-भिन्न मुद्राओं की झलकियाँ, पीड़ितों का सखा बिमल, सीढ़ियों में समाधि लगाये बैठा है, अपने सब दुख-सुख

बिसराकर, रुदन रत, धरनाधर, ठोकरें खाता हुआ ठाकुर, महाराज क्या माँग है, मौने महाराज कुछ नहीं माँगते, बस बेसुध बैठे हैं, सिद्धि की प्रतीक्षा में, यातना यात्रा के अन्तिम छोर पर, इलहाम के इन्तज़ार में, बैठा रहने दो, कोई बदनसीब बैरागी होगा, कोई दिल जला ज़ाहिल, देवदास का साला, किसी राँड ने राँद दिया होगा, अपने पुण्यों का प्रायश्चित कर रहा है, इस पापस्थल में, लेकिन पोशाक से तो बाबू, ढोंग की नयी डगर, पड़ा रहने दो, लेकिन लिटाया भी तो जा सकता है, पीठ पर, पेट पर, या पहलू पर, टाँगें पसरी हुईं, सीढ़ियाँ सँकरी, घुटनों को ठोड़ी या माथे से सटाकर, एक हाथ सिर को खुजलाए, दूसरा उसे, वैसे खड़ा करने, बिठाने या लिटाने से भी कोई निपट नया पोज़ ज़रूर होगा, किसी स्वामी से सीखा जा सकता है, स्वामीजी, मुझे अपने पात्र को कोई अनुपम अन्त देना है, मसलन कोई ऐसा उपाय बताइए कि वह डेढ़ इंच ऊपर उठ जाए, उसके लिए तो बीयर ही बेहतर है, परदेशी बीयर, बहरहाल...

कुछ देर तक उसे उन सीढ़ियों में खड़ा, बैठा या लेटा रहने देने के बाद, इन तीनों मुद्राओं की तरतीब बाद में तय की जा सकती है, वहीं किसी तरह उलटा लटका दिया जाय, हवा में, साधना की समाप्ति का सिहरा देने वाला सीन, चमत्कार के चाव की पूर्ति, सीढ़ियाँ और सलीब, बीसवीं सदी का भारतीय मसीहा, सहयोगियों में सनसनी, आतंक का अन्तिम छोर, मर गया किन्तु मुस्कुराता रहा, आत्महत्या के अनुयाइयों के लिए यह दृश्य दृष्टान्त, दोमुँहा, जीवन के जिज्ञासु कहें ऐसों का अन्त ऐसा ही, बेहूदा ज़िन्दगी, बेहूदा मौत, आकाशवाणी हो, कि वह मेरी ज़िन्दगी है कि यह मेरी बन्दगी है, मर गया लेकिन सीधा नहीं हुआ, सूराख़ से सुर्ख़ फूल, डाली का-सा सुयथार्थवाद, सुगन्ध और दुर्गन्ध का सम्भोग, एब्सर्ड की इबादत का अंजाम, वैसे कुछ देर लटका रहने के बाद लुढ़ककर नीचे, सूनी सड़क पर, बारिश और अँधेरे के बाहुपाश में...

सीढ़ियों में खड़ा, बैठा, लेटा, लटका या लुढ़ककर नीचे गिरा पड़ा बिमल, लेकिन एक चुनाव और भी करना होगा, बिमल के मन को कौन-सा दरपन दिखाया जाए, यानी अपने और/या उपन्यास के आख़िरी लम्हों में वह क्या सोचे, या समझे, या देखे, या सुने, या धुने, या सहे, या भोगे, यानी उन क्षणों को वह, जैसा कि मर्मज्ञ लोग कहा करते हैं, कैसे जिए, उसकी सोच सिलसिलेवार हो या अटपटी, उसकी समझ वग़ैरा के बारे में भी यही सवाल, यानी उन आख़िरी क्षणों को सारे दिन का क्षीर कैसे बनाया जाय, दिन का ही क्यों, उसके सारे दुख का क्यों नहीं, यानी सारे जीवन का, अगर उसके-से जीने को जीवन कहा जा सके तो, अतिशयोक्ति के बग़ैर, यानी उसकी अन्तिम यातना में सारे युग का यरक़ान कैसे झलके, उसकी छटपटाहट में सब समकालीनों का छिछोरापन कैसे छलके, सारे समाज की सूजन, समूचे भारत का भयंकर भविष्य, ओपरिस्थितिजन्य व्यक्तिविशेष व्यथाकुलता का